

जनवरी, 2018

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका



विधि साहित्य प्रकाशन
विधायी विभाग
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार

Spine

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका जनवरी, 2018



प्रस्तावित संपादक-मंडल

डा. जी. नारायण राजू, सचिव, विधायी विभाग	श्री कृष्ण गोपाल अग्रवाल, सेवानिवृत्त संपादक, वि.सा.प्र.
डा. सीटा वशिष्ठ, अपर सचिव, विधायी विभाग	श्री अनुराग दीप, एसोसिएट प्रोफेसर, भारतीय विधि संस्थान
श्री एस. आर. ढलेटा, सेवानिवृत्त संयुक्त सचिव एवं विधायी परामर्शी, विधायी विभाग	डा. मिथिलेश चन्द्र पांडेय, प्रधान संपादक
डा. सुरेन्द्र कुमार शर्मा, प्रिन्सिपल, विधि विभाग, डी आई आर डी, गुरु गोविंद सिंह इन्द्रप्रस्थ विश्वविद्यालय	श्री कमला कान्त, संपादक
श्री ए. के. अवरस्थी, सेवानिवृत्त प्रोफेसर एवं डीन लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	श्री अविनाश शुक्ला, संपादक
श्री एल. आर. सिंह, प्रोफेसर एवं डीन इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	श्री असलम खान, संपादक

सहायक संपादक : श्री पुण्डरीक शर्मा

उप-संपादक : सर्वश्री महीपाल सिंह और जसवन्त सिंह

ISSN- 2457-0494

कीमत : डाक-व्यय सहित

एक प्रति : ₹ 195/-

© 2018 भारत सरकार, विधि और न्याय मंत्रालय

प्रकाशन और विक्रय प्रबंधक, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय (विधायी विभाग),
भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित तथा..... द्वारा मुद्रित ।

संपादकीय

मद्यपान एक सामाजिक बुराई है। संविधान के अनुच्छेद 47 के अधीन राज्य का यह कर्तव्य है कि वह पोषाहार स्तर और जीवन स्तर को उंचा करे तथा लोक स्वास्थ्य का सुधार करे इसी क्रम में माननीय उच्चतम न्यायालय ने अपने पूर्व निर्णय में राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गों के आसपास 500 मीटर की दूरी तक शराब की दुकानों को बन्द करने का निदेश दिया गया, किंतु **तमिलनाडु राज्य मार्फत सचिव और अन्य बनाम के. बालू और एक अन्य** [2018] 1 उम. नि. प. 61 वाले मामले में न्यायालय ने बीस हजार या इससे कम जनसंख्या वाले स्थानीय निकायों में समाविष्ट क्षेत्रों में इस दूरी को 500 मीटर के स्थान पर 220 मीटर कर दिया है।

माननीय उच्चतम न्यायालय ने **पंजाब राज्य और एक अन्य बनाम धर्म पाल** [2018] 1 उम. नि. प. 100 वाले मामले में सेवा विधि से संबंधित एक मामले में स्थानापन्न प्रोन्नति की दशा में स्थानापन्न प्रोन्नति वाला वेतनमान दिए जाने के प्रश्न पर यह निर्णय दिया कि यदि संबंधित सेवा नियमों में स्थानापन्न प्रोन्नति वाला वेतनमान दिया जाना प्रतिबंधित न हो तो केवल प्रोन्नति संबंधी आदेश में यह निर्बंधन अनुबंधित करने से कि कर्मचारी स्थानापन्न प्रोन्नति से पूर्व वाले अपने वेतनमान में वेतन लेता रहेगा या संबंधित कर्मचारी द्वारा इस संबंध में वचनबंध दिए जाने के बावजूद भी स्थानापन्न रूप से प्रोन्नत किया जाने वाला कर्मचारी स्थानापन्न प्रोन्नति के फायदों का दावा करने से विवर्जित नहीं हो जाएगा और वह स्थानापन्न प्रोन्नति वाले पद का वेतन और अन्य पारिणामिक फायदों का हकदार होगा।

बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्द ऋण वसूली अधिनियम, 1993 एक विशेष विधि है और इसके अधीन की जाने वाली कार्यवाहियां एक कानूनी अधिकरण के समक्ष होती हैं। चूंकि वसूली अधिकारी के समक्ष की जाने वाली कार्यवाहियां अधिकरण के समक्ष की जाने वाली कार्यवाहियां नहीं होती, इसलिए उच्चतम न्यायालय ने **इंटरनेशनल एसेट रिकंस्ट्रक्शन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड बनाम शासकीय परिसमापक, आल्डरिच फार्मास्युटिकल्स लिमिटेड और अन्य** [2018] 1 उम. नि. प. 135 वाले मामले में यह निर्णय दिया कि वसूली अधिकारी के आदेश के विरुद्ध अपील फाइल करने के लिए विहित अवधि को परिसीमा अधिनियम की धारा 5 लागू करके माफ नहीं किया जा सकता।

(ii)

सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन किसी वाद में संशोधन अनुज्ञात करने की न्यायालय की शक्ति व्यापक है। न्यायालयों को ऐसे मामलों में अति-तकनीकी दृष्टिकोण न अपनाकर उदार दृष्टिकोण अपनाना चाहिए और मुकदमेबाजी की बहुलता से बचने के लिए संशोधन अनुज्ञात किए जाने चाहिए। न्यायालय ने **भारतीय जीवन बीमा निगम बनाम संजीव बिल्डर्स प्राइवेट लिमिटेड और अन्य** [2018] 1 उम. नि. प. 146 वाले मामले में यह कहा कि सही है कि केवल विलंब के आधार पर संशोधन नामंजूर नहीं किया जाना चाहिए किन्तु यदि विलंब के कारण किसी पक्षकार से उस अवधि के दौरान उसे प्रोद्भूत होने वाले प्रतिरक्षा के सारवान् अधिकार छीन लिए जाते हैं तो ऐसा संशोधन अनुज्ञात नहीं किया जाना चाहिए।

उच्चतम न्यायालय ने **नादिमिति सूर्यनारायण बनाम कतुर्थी कृष्णा भाष्कर राव और अन्य**, [2018] 1 उम. नि. प. 117 वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया कि यदि स्थावर संपत्ति का विक्रय करने के लिए दो पक्षकारों के बीच कोई विधिमान्य करार किया जाता है और उनमें से एक पक्षकार करार के अपने भाग का पालन करने के लिए सदैव तैयार और रजामंद रहा है किन्तु दूसरा पक्षकार करार के अपने भाग का पालन करने में न केवल इनकार करता है बल्कि उसी संपत्ति का विक्रय करने के लिए अन्य पक्षकार के साथ करार कर लेता है तो विनिर्दिष्ट पालन के वाद में पूर्ववर्ती करार को विधिमान्य ठहराना और पश्चात्पूर्वी करार को अकृत और शून्य ठहराना विधिमान्य होगा।

प्रिवी कौंसिल द्वारा दिए गए तारीख 13-1-1937 से 29-3-1938 तक के निर्णयों का हिन्दी पाठ और शीर्ष टिप्पण पाठकों के ज्ञान के लिए प्रकाशित किए जा रहे हैं। इस अंक में शासकीय न्यासी अधिनियम, 1913 को भी ज्ञानार्थ प्रकाशित किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त, इस अंक में अन्य महत्वपूर्ण निर्णय भी हैं। इस संपूर्ण अंक का परिशीलन करने के पश्चात् आपकी बहुमूल्य प्रतिक्रियाएं ईप्सित हैं।

डा. मिथिलेश चन्द्र पांडेय
प्रधान संपादक

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

जनवरी, 2018

निर्णय-सूची

पृष्ठ संख्या

इंटरनेशनल एसेट रिकंस्ट्रक्शन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड बनाम शासकीय परिसमापक, आल्डरिच फार्मास्युटिकल्स लिमिटेड और अन्य	135
इरिडियम इंडिया टेलीकाम लिमिटेड बनाम दोहा बैंक क्यूएससी और एक अन्य (देखिए — पृष्ठ संख्या 135)	
तमिलनाडु राज्य मार्फत सचिव और अन्य बनाम के. बालू और एक अन्य	61
नादिमिति सूर्यनारायण बनाम कतुर्थी कृष्णा भाष्कर राव और अन्य	117
नेशनल सिक्योरिटिज़ डिपोजिटरी लि. बनाम भारतीय प्रतिभूति और विनिमय बोर्ड	1
पंजाब राज्य और एक अन्य बनाम धर्म पाल	100
भारत का प्रतिस्पर्धा आयोग बनाम पश्चिमी बंगाल फिल्म और टेलीविजन कलाकारों तथा तकनीशियनों की समन्वय समिति और अन्य	23
भारतीय जीवन बीमा निगम बनाम संजीव बिल्डर्स प्राइवेट लिमिटेड और अन्य	146
रामतल बनाम मरुतातल और अन्य	85
संसद् के अधिनियम	
शासकीय न्यासी अधिनियम, 1913 का हिन्दी में प्राधिकृत पाठ	1 — 18
प्रिवी काँसिल के निर्णय	1 — 102

प्रतिस्पर्धा अधिनियम, 2002 (2003 का 12)

— धारा 2, 3 और 19(5) — प्रतिस्पर्धा-रोधी करार — हिन्दी भाषा में निर्मित धारावाहिक महाभारत को बंगला भाषा में डब करके टेलीविजन पर दिखाया जाना — पश्चिमी बंगाल राज्य के टेलीविजन और फिल्म कलाकारों तथा तकनीशियनों के संगम द्वारा इसके विरोध में आंदोलन किया जाना — धारावाहिक के प्रसारण को बंद करने की धमकी के विरुद्ध भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग में शिकायत फाइल किया जाना — आयोग के बहुमत के निर्णय में उक्त संगम (समन्वय समिति) की कार्रवाई को प्रतिस्पर्धा-रोधी अभिनिर्धारित किया जाना — अपील अधिकरण द्वारा बहुमत के निर्णय को अपास्त किया जाना — समन्वय समिति स्वयमेव एक उद्यम न होकर भले ही एक व्यापार संघ हो किंतु इसके सदस्य फिल्मों के उत्पादन, वितरण और प्रदर्शन में लगे होने के कारण इसे मात्र व्यापार संघ नहीं कहा जा सकता है और इसलिए सुसंगत बाजार का दायरा टी. वी. धारावाहिकों तक सीमित न होकर इसके अंतर्गत राज्य का संपूर्ण टी. वी. और फिल्म उद्योग आता है इसलिए समन्वय समिति का आंदोलन करने का करार बाजार में प्रतिस्पर्धा को बाधित करने की कोटि में आता है और इससे अधिनियम की धारा 3(3) का अतिक्रमण होता है ।

भारत का प्रतिस्पर्धा आयोग बनाम पश्चिमी बंगाल फिल्म और टेलीविजन कलाकारों तथा तकनीशियनों की समन्वय समिति और अन्य

23

बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध ऋण वसूली अधिनियम, 1993 (1993 का 51)

— धारा 28 और 30(1) [सपठित परिसीमा अधिनियम, 1963 की धारा 5] — वसूली अधिकारी के आदेश के विरुद्ध

अपील — अपील फाइल करने में हुए विलंब को माफ करने के लिए परिसीमा अधिनियम की धारा 5 का लागू होना — 1993 के अधिनियम के अधीन अधिकरण को धारा 20(3) के अधीन 45 दिन से परे के विलंब को माफ करने की शक्ति प्रदत्त — चूंकि वसूली अधिकारी के समक्ष की जाने वाली कार्यवाहियां अधिकरण के समक्ष की जाने वाली कार्यवाहियां नहीं होती हैं इसलिए वसूली अधिकारी के आदेश के विरुद्ध अपील फाइल करने के लिए धारा 30(1) के अधीन 30 दिनों की विहित अवधि को 1963 के अधिनियम की धारा 5 लागू करके माफ नहीं किया जा सकता है ।

इंटरनेशनल एसेट रिकंस्ट्रक्शन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड बनाम शासकीय परिसमापक, आल्डरिच फार्मास्युटिकल्स लिमिटेड और अन्य

135

भारतीय प्रतिभूति और विनिमय बोर्ड अधिनियम, 1992 (1992 का 15)

— धारा 11(1) और 15न — भारतीय प्रतिभूति और विनिमय बोर्ड (सेबी) द्वारा धारा 11(1) के अधीन जारी प्रशासनिक परिपत्र को प्रतिभूति अपील अधिकरण के समक्ष चुनौती दिया जाना — सेबी द्वारा अपील अधिकरण के समक्ष प्रारंभिक आक्षेप फाइल किया जाना — सेबी द्वारा धारा 11(1) के अधीन जारी प्रशासनिक परिपत्र पर विचार करना अपील अधिकरण की अधिकारिता के बाहर है और धारा 15न के अधीन अपीलनीय नहीं है, अतएव, अपील अधिकरण के निर्णय को अपास्त करना युक्तियुक्त और समुचित होगा ।

नेशनल सिक्योरिटीज़ डिपोजिटरी लि. बनाम भारतीय प्रतिभूति और विनिमय बोर्ड

1

संविधान, 1950

— अनुच्छेद 16 और 39(घ) [सपठित पंजाब सिविल

सेवा नियम का नियम 4.13, 4.16, 4.22 और 4.2] — प्रोन्नति — स्थानापन्न रूप में कार्य करने के लिए प्रोन्नति — वेतनमान का फायदा — सरकारी आदेश में कर्मचारी द्वारा स्थानापन्न प्रोन्नति से पूर्व वाले अपने वेतनमान में कार्य करने संबंधी निर्बंधन अनुबंधित करना — यदि संबंधित सेवा नियमों में स्थानापन्न प्रोन्नति वाला वेतनमान दिया जाना प्रतिबंधित नहीं है तो प्रोन्नति संबंधी सरकारी आदेश में मात्र निर्बंधन अनुबंधित करने या संबंधित कर्मचारी द्वारा इस संबंध में वचनबंध दिए जाने के कारण कर्मचारी स्थानापन्न पद के फायदों का दावा करने से विवर्जित नहीं हो जाएगा और वह प्रोन्नति वाले पद के वेतन और अन्य पारिणामिक फायदों का हकदार है ।

पंजाब राज्य और एक अन्य बनाम धर्म पाल

100

— अनुच्छेद 19(1)(छ), 133 और 142 — उच्चतम न्यायालय के तारीख 15 दिसम्बर, 2016 के निर्णय द्वारा राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गों के आसपास 500 मीटर की दूरी पर शराब की दुकानों को बंद करने का निदेश दिया जाना — निदेश को वापिस लेने, उपांतरित करने, समय-सीमा बढ़ाने आदि के लिए अपीलें फाइल किया जाना — न्यायालय द्वारा जारी किए गए निदेश शराब पीकर यान चलाने और राजमार्गों के आसपास शराब के विक्रय को प्रतिषिद्ध करने के लिए संघ सरकार की सतत् नीति और राज्यों को जारी किए गए परामर्शों पर आधारित है और 500 मीटर की दूरी विहित करना लोक हित में है तथा यह बात विधायी कृत्य धारण करने की कोटि में नहीं आती है ।

तमिलनाडु राज्य मार्फत सचिव और अन्य बनाम के. बालू और एक अन्य

61

— अनुच्छेद 133 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 100 और 103] — अपील — निचले न्यायालयों द्वारा तथ्यों के प्रश्न पर समवर्ती निष्कर्ष निकाला

जाना — द्वितीय अपील में उच्च न्यायालय द्वारा इन समवर्ती निष्कर्षों को साक्ष्यों का पुनर्मूल्यांकन करके उलटा जाना — यह उच्च न्यायालय की अधिकारिता के परे होना — साक्ष्यों का पुनर्मूल्यांकन मात्र न्यायालय की हानि होने की दशा में मान्य होना — यदि अभिलेख पर के साक्ष्यों से यह साबित हो जाता है कि मामले में न्याय की हानि नहीं हुई है तो उच्च न्यायालय द्वारा द्वितीय अपील में, साक्ष्यों का पुनर्मूल्यांकन करके निचले न्यायालयों द्वारा सम्यक् तौर पर साक्ष्यों का मूल्यांकन और नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का पालन करते हुए निकाले गए तथ्य के समवर्ती निष्कर्षों को उलटना, उच्च न्यायालय की अधिकारिता के परे है और यह उन्हें प्रदत्त अधिकारिता का अतिक्रमण करने की कोटि में आएगा ।

रामतल बनाम मरुतातल और अन्य

85

— अनुच्छेद 133 [संपत्ति संपत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 की धारा 52 और विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 की धारा 16(ग)] — अपील — स्थावर संपत्ति का विक्रय करने के लिए करार — इसी संपत्ति का विक्रय करने के लिए, विक्रेता द्वारा अन्य करार — पूर्ववर्ती क्रेता द्वारा करार के अपने भाग का पालन करने के लिए हमेशा ही तैयार और रजामंद होना — पूर्ववर्ती विक्रेता द्वारा करार के अपने भाग का पालन करने से इनकार करना — पूर्ववर्ती क्रेता द्वारा करार का विनिर्दिष्ट पालन कराने के लिए वाद फाइल किया जाना — वाद डिक्री किया जाना और पश्चात्पूर्व करार अकृत और शून्य घोषित किया जाना — यदि अभिलेख पर यह साबित कर दिया जाता है कि किसी स्थावर संपत्ति का विक्रय करने के लिए दो पक्षकारों के बीच कोई विधिमान्य करार हुआ है और पक्षकारों में से एक पक्षकार करार के अपने भाग का पालन करने के लिए हमेशा ही तैयार और रजामंद रहा है, किन्तु दूसरा पक्षकार करार के अपने भाग का पालन करने

से न केवल इनकार किया है, अपितु उसी संपत्ति का विक्रय करने के लिए अन्य पक्षकार से करार कर लिया है तो विनिर्दिष्ट पालन के बाद में पूर्ववर्ती करार को विधिमान्य ठहराते हुए विनिर्दिष्ट पालन के बाद को डिक्री करने वाला आदेश और पश्चात्वर्ती करार को अकृत और शून्य ठहराते हुए, अग्रिम धन, यदि कोई है, को वापस करने वाला आदेश, युक्तियुक्त और विधिमान्य होगा।

नादिमिति सूर्यनारायण बनाम कतुर्थी कृष्णा भाष्कर राव और अन्य

117

— अनुच्छेद 133 और 142 — उच्चतम न्यायालय के तारीख 15 दिसम्बर, 2016 के निर्णय द्वारा राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गों के आसपास 500 मीटर की दूरी पर शराब की दुकानों को बंद करने का निदेश दिया जाना — निदेश को वापिस लेने, उपांतरित करने, समय-सीमा बढ़ाने आदि के लिए अपीलें फाइल किया जाना — बीस हजार या इससे कम जनसंख्या वाले स्थानीय निकायों में समाविष्ट क्षेत्रों में 500 मीटर की दूरी को उपांतरित करके 220 मीटर करते हुए विद्यमान अनुज्ञप्तियां सितम्बर, 2017 तक जारी रहने और किसी भी दशा में 30 सितम्बर, 2017 के पश्चात् जारी नहीं रहने का निदेश दिया जाता है।

तमिलनाडु राज्य मार्फत सचिव और अन्य बनाम के. बालू और एक अन्य

61

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 5)

— आदेश 22, नियम 10 [सपठित लेटर्स पेटेंट का खंड 15] — वाद फाइल किए जाने के 27 वर्ष पश्चात् उसमें संशोधन करने के लिए आवेदन — यद्यपि वाद में किसी संशोधन को नामंजूर करने के लिए मात्र विलंब कोई आधार नहीं होता है तथापि, चूंकि संशोधन द्वारा प्रत्यर्थी सं. 3 को समनुदेशिती के रूप में पक्षकार बनाए जाने से अपीलार्थी के प्रतिरक्षा संबंधी सारवान् अधिकारों पर प्रतिकूल

प्रभाव पड़ेगा इसलिए ऐसे संशोधन को कायम नहीं रखा जा सकता है ।

भारतीय जीवन बीमा निगम बनाम संजीव बिल्डर्स
प्राइवेट लिमिटेड और अन्य

[2018] 1 उम. नि. प. 1

नेशनल सिव्योरिटीज़ डिपोजिटरी लि.

बनाम

भारतीय प्रतिभूति और विनियम बोर्ड

7 मार्च, 2017

न्यायमूर्ति पिनाकी चन्द्र घोष और न्यायमूर्ति आर. एफ. नरीमन

भारतीय प्रतिभूति और विनियम बोर्ड अधिनियम, 1992 (1992 का 15) – धारा 11(1) और 15न – भारतीय प्रतिभूति और विनियम बोर्ड (सेबी) द्वारा धारा 11(1) के अधीन जारी प्रशासनिक परिपत्र को प्रतिभूति अपील अधिकरण के समक्ष चुनौती दिया जाना – सेबी द्वारा अपील अधिकरण के समक्ष प्रारंभिक आक्षेप फाइल किया जाना – सेबी द्वारा धारा 11(1) के अधीन जारी प्रशासनिक परिपत्र पर विचार करना अपील अधिकरण की अधिकारिता के बाहर है और धारा 15न के अधीन अपीलनीय नहीं है, अतएव, अपील अधिकरण के निर्णय को अपास्त करना युक्तियुक्त और समुचित होगा।

वर्तमान मामले में, भारतीय प्रतिभूति और विनियम बोर्ड (सेबी) ने तारीख 9 नवम्बर, 2005 के प्रशासनिक परिपत्र द्वारा प्रतिभूतियों में विनिधानकर्ताओं के हितों का संरक्षण करने तथा प्रतिभूति बाजार के विकास का संवर्धन और विनियमन करने के लिए भारतीय प्रतिभूति और विनियम बोर्ड अधिनियम, 1992 की धारा 11(1) के अधीन एक प्रशासनिक परिपत्र “विभौतिकीकरण प्रभारों का पुनर्विलोकन” (रिव्यू आफ डिमट्रिलाइजेशन चार्जज) शीर्षक के अधीन जारी किया। उक्त परिपत्र द्वारा निक्षेपधारियों को सभी सुसंगत उप-विधियों, नियमों और विनियमों का यह निश्चित करने के लिए संशोधन करने की सलाह दी गई कि तारीख 9 जनवरी, 2006 से किसी निक्षेपागार (डिपोजिटरी) द्वारा निक्षेपागार के सहभागीदार (डीपी) पर और परिणामतः निक्षेपागार के सहभागीदार (डीपी) द्वारा हिताधिकारी स्वामी (बीओ) पर तब कोई प्रभार उद्गृहीत नहीं किया जाएगा जब कोई हिताधिकारी स्वामी अपने खाते में पड़ी सभी प्रतिभूतियों को उसी निक्षेपागार-सहभागीदार (डीपी) को या उसी निक्षेपागार या किसी अन्य

निक्षेपागार के सहभागीदार (डीपी) की किसी अन्य शाखा को अंतरित करता है, बशर्ते अंतरिती निक्षेपागार के सहभागीदार तथा अंतरक निक्षेपागार के सहभागीदार के पास हिताधिकारी स्वामी (बीओ) का खाता सभी प्रकार से समरूप हो। प्रत्यर्थी द्वारा प्रतिभूति अपील अधिकरण के समक्ष फाइल की गई अपील में एक प्रारंभिक आक्षेप किया गया। यह आग्रह किया गया कि सेबी अधिनियम के अधीन सेबी के प्रशासनिक, विधायी और अर्ध-न्यायिक कृत्य हैं। प्रतिभूति अपील अधिकरण में अपील केवल अर्ध-न्यायिक आदेशों के विरुद्ध की जा सकती हैं न कि प्रशासनिक और विधायी आदेशों के विरुद्ध। प्रतिभूति अपील अधिकरण द्वारा तारीख 29 सितम्बर, 2006 के आक्षेपित निर्णय द्वारा इस प्रारंभिक आक्षेप को नामंजूर कर दिया गया। अधिकरण के अनुसार, “आदेश” अभिव्यक्ति अति व्यापक है और अधिनियम में अपील को केवल अर्ध-न्यायिक आदेशों तक निर्बंधित करने के लिए कुछ नहीं होने के कारण अधिनियम के अधीन किए गए सभी तीनों प्रकार के आदेशों अर्थात् प्रशासनिक, विधायी तथा अर्ध-न्यायिक आदेशों के विरुद्ध अपीलों की जाएंगी। यह तात्पर्यित रूप से क्लेरियंट इंटरनेशनल लि. और एक अन्य बनाम भारतीय प्रतिभूति और विनिमय बोर्ड वाले मामले में के विनिश्चय का अनुसरण करते हुए अभिनिर्धारित किया गया था इसलिए अधिकरण ने प्रारंभिक आक्षेप को नामंजूर कर दिया और आक्षेपित परिपत्र के विरुद्ध तर्कों पर गुणागुण के आधार पर विचार किया और इसे खारिज कर दिया। नेशनल सिक्योरिटीज़ डिपोजिटरी लि. द्वारा गुणागुण के आधार पर खारिजी के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में 2006 की सिविल अपील सं. 5173 तथा सेबी द्वारा प्रतिभूति अपील अधिकरण के समक्ष किए गए प्रारंभिक आक्षेप को नामंजूर करने के विरुद्ध 2007 की सिविल अपील सं. 186 फाइल की गई। उच्चतम न्यायालय द्वारा इस संक्षिप्त प्रश्न का विनिश्चय करते हुए कि प्रशासनिक परिपत्र, जो भारतीय प्रतिभूति और विनिमय बोर्ड (सेबी) द्वारा भारतीय प्रतिभूति और विनिमय बोर्ड अधिनियम, 1992 की धारा 11(1) के अधीन जारी किया गया है, उक्त अधिनियम की धारा 15न के अधीन अपील की विषय-वस्तु हो सकता है या नहीं, 2007 की सिविल अपील सं. 186 मंजूर और 2006 की सिविल अपील सं. 5173 खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – यह उल्लेखनीय है कि भारतीय प्रतिभूति और विनिमय बोर्ड अधिनियम, 1992 की धारा 29 के अधीन बनाए गए नियमों तथा धारा 30 के अधीन बनाए गए विनियमों को अधिनियम की धारा 31 के अधीन संसद् के समक्ष रखना होता है। नज़ीरों के दिग्दर्शन से यह स्पष्ट है कि

अधिनियम की धारा 11(4), 11(ख), 11(घ), 12(3) और 15-झ में निर्देश्य आदेश अर्ध-न्यायिक हैं और नियमों तथा विनियमों के अधीन किए गए ऐसे आदेश जो धारा 15न के अधीन अपील की विषय-वस्तु हैं, अर्ध-न्यायिक आदेश हैं। प्रशासनिक आदेश जैसे कि वर्तमान मामले में जारी किए गए परिपत्र, जिनके प्रति अधिनियम की धारा 1(1) में निर्देश है, स्पष्ट रूप से, अधिकरण की अपील अधिकारिता से बाहर हैं। अतः 2007 की सिविल अपील सं. 186 मंजूर की जाती है और प्रतिभूति अपील अधिकरण के समक्ष किया गया आक्षेप कायम रखा जाता है। तदनुसार, प्रतिभूति अपील अधिकरण का निर्णय अपास्त किया जाता है। मामले की इस दृष्टि से, 2006 की सिविल अपील सं. 5173, जिसमें आक्षेपित परिपत्र के गुणागुण को चुनौती दी गई है, आवश्यक रूप से खारिज की जानी चाहिए। यह न्यायालय यह स्पष्ट करता है कि उपर्युक्त परिपत्र को न्यायिक पुनर्विलोकन कार्यवाहियों में विधि के अनुसार चुनौती देने के लिए समुचित उपाय करने की स्वतंत्रता प्रदान की जाती है। (पैरा 24 और 25)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[2014]	(2014) 3 एस. सी. सी. 222 : भारत संचार निगम लि. बनाम भारतीय दूरसंचार विनियामक प्राधिकरण और अन्य ;	5, 19
[2010]	(2010) 4 एस. सी. सी. 603 : पीटीसी इंडिया लिमिटेड बनाम केन्द्रीय विद्युत विनियामक आयोग ;	5, 17
[2004]	(2004) 8 एस. सी. सी. 524 : क्लेरियंट इंटरनेशनल लि. और एक अन्य बनाम भारतीय प्रतिभूति और विनियम बोर्ड ;	3, 20
[2002]	[2002] 5 एस. सी. आर. 685 : इंडियन नेशनल कांग्रेस (आई) बनाम सामाजिक कल्याण संस्थान और अन्य ;	14
[1990]	[1990] 2 एस. सी. आर. 84 : एन. मिश्रा बनाम डा. एच. के पेंटल ;	16

[1977]	[1977] 2 एस. सी. आर. 511 : गोविंदभाई गोर्धनभाई पटेल और अन्य बनाम गुलाम अब्बास मुल्ला अलीभाई और अन्य ;	16
[1964]	[1964] 5 एस. सी. आर. 294 : जयंतीलाल अमृतलाल शोधन बनाम एफ. एन. राणा और अन्य ;	16
[1964]	[1964] 1 एस. सी. आर. 717 : शंकर लाल अग्रवाल बनाम शंकरलाल पोद्दार ;	15
[1960]	[1960] 2 एस. सी. आर. 775 : शिवाजी नाथुभाई बनाम भारत संघ ;	13
[1950]	[1950] एस. सी. आर. 621 : प्रोविन्स आफ बम्बई बनाम खुशालदास एस. आडवाणी ;	12
[1924]	(1924) 1 के. बी. 171 : दि किंग बनाम विद्युत आयुक्त ।	11
अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2006 की सिविल अपील सं. 5173 और इसके साथ 2007 की सिविल अपील सं. 186.		

2005 की अपील सं. 207 में प्रतिभूति अपील अधिकरण, मुम्बई के तारीख 29 सितम्बर, 2006 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

हाजिर होने वाले पक्षकारों की ओर से सर्वश्री चन्दर उदय सिंह, ज्येष्ठ अधिवक्ता, मयंक मिश्रा, ऋतंज गुप्ता, धीरज कुमार, (सुश्री) बीना गुप्ता, राहुल गुप्ता, ऋषि गौतम, भार्गव वी. देसाई, (सुश्री) आकृति दिवान और वैभव राहुल गुप्ता, ऋषि गौतम, भार्गव वी. देसाई, (सुश्री) आकृति दिवान और वैभव

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति आर. एफ. नरीमन ने दिया ।

न्या. नरीमन – वर्तमान अपील में यह रोचक प्रश्न उद्भूत होता है कि प्रशासनिक परिपत्र, जो भारतीय प्रतिभूति और विनिमय बोर्ड (सेबी) द्वारा

भारतीय प्रतिभूति और विनियम बोर्ड अधिनियम, 1992 की धारा 11(1) के अधीन जारी किया गया है, उक्त अधिनियम की धारा 15न के अधीन अपील की विषय-वस्तु हो सकता है या नहीं।

2. भारतीय प्रतिभूति और विनियम बोर्ड (सेबी) ने तारीख 9 नवम्बर, 2005 के प्रशासनिक परिपत्र द्वारा प्रतिभूतियों में विनिधानकर्ताओं के हितों का संरक्षण करने तथा प्रतिभूति बाजार के विकास का संवर्धन और विनियमन करने के लिए भारतीय प्रतिभूति और विनियम बोर्ड अधिनियम की धारा 11(1) के अधीन एक प्रशासनिक परिपत्र “विभौतिकीकरण प्रभारों का पुनर्विलोकन” (रिव्यू आफ डिमट्रिलाइजेशन चार्जज) शीर्षक के अधीन जारी किया। उक्त परिपत्र द्वारा निक्षेपधारियों को सभी सुसंगत उप-विधियों, नियमों और विनियमों का यह निश्चित करने के लिए संशोधन करने की सलाह दी गई कि तारीख 9 जनवरी, 2006 से किसी निक्षेपागार (डिपोजिटरी) द्वारा निक्षेपागार के सहभागीदार (डीपी) पर और परिणामतः निक्षेपागार के सहभागीदार (डीपी) द्वारा हिताधिकारी स्वामी (बीओ) पर तब कोई प्रभार उद्गृहीत नहीं किया जाएगा जब कोई हिताधिकारी स्वामी अपने खाते में पड़ी सभी प्रतिभूतियों को उसी निक्षेपागार-सहभागीदार (डीपी) को या उसी निक्षेपागार या किसी अन्य निक्षेपागार के सहभागीदार (डीपी) की किसी अन्य शाखा को अंतरित करता है, बशर्ते अंतरिती निक्षेपागार के सहभागीदार तथा अंतरक निक्षेपागार के सहभागीदार के पास हिताधिकारी स्वामी (बीओ) का खाता सभी प्रकार से समरूप हो।

3. प्रत्यर्थी द्वारा प्रतिभूति अपील अधिकरण के समक्ष फाइल की गई अपील में एक प्रारंभिक आक्षेप किया गया। यह आग्रह किया गया कि सेबी अधिनियम के अधीन सेबी के प्रशासनिक, विधायी और अर्ध-न्यायिक कृत्य हैं। प्रतिभूति अपील अधिकरण में अपील केवल अर्ध-न्यायिक आदेशों के विरुद्ध की जा सकती हैं न कि प्रशासनिक और विधायी आदेशों के विरुद्ध। प्रतिभूति अपील अधिकरण द्वारा तारीख 29 सितम्बर, 2006 के आक्षेपित निर्णय द्वारा इस प्रारंभिक आक्षेप को नामंजूर कर दिया गया। अधिकरण के अनुसार, “आदेश” अभिव्यक्ति अति व्यापक है और अधिनियम में अपील को केवल अर्ध-न्यायिक आदेशों तक निर्बंधित करने के लिए कुछ नहीं होने के कारण अधिनियम के अधीन किए गए सभी तीनों प्रकार के आदेशों अर्थात् प्रशासनिक, विधायी तथा अर्ध-न्यायिक आदेशों के विरुद्ध अपीलों की जाएंगी। यह तात्पर्यित रूप से **क्लेरियंट इंटरनेशनल लि. और एक अन्य बनाम भारतीय प्रतिभूति और विनियम बोर्ड**¹ वाले मामले में के

¹ (2004) 8 एस. सी. सी. 524.

विनिश्चय का अनुसरण करते हुए अभिनिर्धारित किया गया था। इसलिए अधिकरण ने प्रारंभिक आक्षेप को नामंजूर कर दिया और आक्षेपित परिपत्र के विरुद्ध तर्कों पर गुणागुण के आधार पर विचार किया और इसे खारिज कर दिया।

4. हमारे समक्ष प्रति-अपीलें फाइल की गई हैं। 2006 की सिविल अपील सं. 5173 नेशनल सिव्योरिटीज़ डिपोजिटरी लि. द्वारा गुणागुण के आधार पर खारिजी के विरुद्ध फाइल की गई है जबकि 2007 की सिविल अपील सं. 186 सेबी द्वारा प्रतिभूति अपील अधिकरण के समक्ष किए गए प्रारंभिक आक्षेप को नामंजूर करने के विरुद्ध फाइल की गई है। हम पहले द्वितीय अपील पर विचार करेंगे क्योंकि यदि प्रारंभिक आक्षेप सफल रहता है, तो यह स्पष्ट है कि गुणागुण पर विचार नहीं किया जा सकेगा।

5. द्वितीय सिविल अपील में अपीलार्थी की ओर से यह आग्रह किया गया कि सेबी अधिनियम की धारा 15न के अधीन फाइल की गई अपील केवल अर्ध-न्यायिक आदेशों तक निर्बंधित है न कि प्रशासनिक या विधायी आदेशों या सेबी द्वारा 1992 के अधिनियम के अधीन पारित किए गए निदेशों तक। अपीलार्थी की ओर से विद्वान् काउंसिल के अनुसार, अपील अधिकरण का निर्णय गलत है और इसे उलटे जाने की आवश्यकता है क्योंकि इसमें स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि अपील अधिकरण को विधायी विनियमों के विरुद्ध भी अधिकारिता है, जो कि समवर्गी अधिनियमों के अधीन किए गए दो प्रत्यक्ष निर्णयों अर्थात् विद्युत अधिनियम, 2003 के समविषयक उपबंधों के अधीन पीटीसी इंडिया लिमिटेड बनाम केन्द्रीय विद्युत विनियामक आयोग¹ वाले मामले तथा भारतीय दूरसंचार विनियामक प्राधिकरण अधिनियम, 1997 के अधीन भारत संचार निगम लि. बनाम भारतीय दूरसंचार विनियामक प्राधिकरण और अन्य² वाले मामले के प्रतिकूल है। उन्होंने यह कहा कि यही परिणाम प्रशासनिक आदेशों का भी होगा और इन दो निर्णयों की तर्कणा से आवश्यक रूप से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे।

6. दूसरी ओर, प्रत्यर्थी की ओर से विद्वान् काउंसिल ने हमारे समक्ष यह आग्रह किया कि “आदेश” शब्द को परिभाषित नहीं किया गया है और यह अत्यधिक व्यापक है और इसलिए इसमें बोर्ड के सभी आदेश सम्मिलित

¹ (2010) 4 एस. सी. सी. 603.

² (2014) 3 एस. सी. सी. 222.

होंगे जिनमें, जैसा कि उल्लेख किया गया है, प्रशासनिक और विधायी आदेश भी सम्मिलित हैं। संविवाद संक्षिप्त है, इसलिए हमारे लिए यह आवश्यक है कि विधि को कुछ स्पष्टता के साथ अधिकथित किया जाए।

7. अधिनियम की धारा 15न निम्नलिखित है :—

“15न. प्रतिभूति अपील अधिकरण को अपील – (1) उपधारा (2) में जैसा उपबंधित है उसके सिवाय, कोई व्यक्ति जो –

(क) प्रतिभूति विधि (दूसरा संशोधन) अधिनियम, 1999 के प्रारम्भ को और उसके पश्चात् इस अधिनियम या उसके अधीन बनाए गए नियमों या विनियमों के अधीन किए गए बोर्ड के किसी आदेश से ; या

(ख) इस अधिनियम के अधीन किसी न्यायनिर्णयन अधिकारी द्वारा किए गए किसी आदेश से, व्यथित है, उस विषय पर अधिकारिता रखने वाले प्रतिभूति अपील अधिकरण को अपील कर सकेगा।

(2) * * * * *

(3) उपधारा (1) के अधीन प्रत्येक अपील, उस तारीख से जिसको यथास्थिति, बोर्ड या न्यायनिर्णायक अधिकारी द्वारा किए गए आदेश की प्रति उसे प्राप्त होती है, पैंतालीस दिन की अवधि के भीतर फाइल की जाएगी और वह ऐसे प्ररूप में होगी और उसके साथ ऐसी फीस होगी जो विहित की जाए ;

परन्तु प्रतिभूति अपील अधिकरण पैंतालीस दिन की उक्त अवधि की समाप्ति के पश्चात् कोई अपील ग्रहण कर सकेगा यदि उसका यह समाधान हो जाता है कि उस अवधि के भीतर उसे फाइल न करने के लिए पर्याप्त हेतुक था।

(4) उपधारा (1) के अधीन अपील की प्राप्ति पर, प्रतिभूति अपील अधिकरण, अपील के पक्षकारों को सुनवाई का अवसर देने के पश्चात् उस पर उस आदेश की, जिसके विरुद्ध अपील की गई है, पुष्टि करने वाला, उसे उपांतरित करने वाला या उसे अपास्त करने वाला ऐसा आदेश पारित कर सकेगा जो वह ठीक समझे।

(5) प्रतिभूति अपील अधिकरण, अपने द्वारा किए गए, प्रत्येक आदेश की प्रति, बोर्ड, अपील के पक्षकारों को तथा संबंधित

न्यायनिर्णायक अधिकारी को भेजेगा ।

(6) प्रतिभूति अपील अधिकरण द्वारा अपने समक्ष उपधारा (1) के अधीन फाइल की गई अपील पर यथासंभव शीघ्रता से कार्यवाही की जाएगी और वह ऐसी अपील का, ऐसी अपील की प्राप्ति की तारीख से छह मास के भीतर, निपटारा करने का प्रयास करेगा ।”

यह धारा अध्याय 6ख में है, जो 1995 के संशोधन अधिनियम द्वारा अंतःस्थापित की गई थी । यह उल्लेख करना रोचक है कि धारा 15ड के अधीन कोई व्यक्ति तीन सदस्यीय अधिकरण के पीठासीन अधिकारी के रूप में नियुक्ति के लिए अर्हित नहीं होगा, यदि वह उच्चतम न्यायालय का आसीन या सेवानिवृत्त न्यायाधीश अथवा किसी उच्च न्यायालय का कोई आसीन या सेवानिवृत्त मुख्य न्यायाधीश न हो, या वह किसी उच्च न्यायालय का ऐसा आसीन या सेवानिवृत्त न्यायाधीश न हो, जिसने किसी उच्च न्यायालय में न्यायाधीश के रूप में कम से कम सात वर्ष की सेवा पूरी न की हो । यह इस तथ्य का एक सूचक है कि अपील अधिकरण, जोकि उच्चतम न्यायपालिका के एक सदस्य द्वारा संचालित है, उसका आशय केवल अर्ध-न्यायिक आदेशों के विरुद्ध अपील सुनने का है ।

8. साथ ही, अपीलें उन व्यक्तियों द्वारा फाइल की जा सकेंगी जो न केवल सेबी अधिनियम या उसके अधीन बनाए गए नियमों या विनियमों के अधीन किए गए बोर्ड के किसी आदेश से अपितु इस अधिनियम के अधीन किसी न्यायनिर्णयन अधिकारी द्वारा किए गए किसी आदेश से व्यथित हैं । धारा 15झ के अधीन, बोर्ड प्रभाग प्रमुख से अनिम्न पंक्ति के किसी अधिकारी को जांच करने, संबंधित व्यक्ति की सुनवाई करने और उसके पश्चात् शास्ति अधिरोपित करने के लिए न्यायनिर्णयन अधिकारी के रूप में नियुक्त कर सकता है, ये सभी बातें ऐसे अधिकारियों द्वारा प्रयोग किए जाने वाले केवल अर्ध-न्यायिक कृत्यों को इंगित करती हैं । धारा 15न की उपधारा (3) के अधीन प्रत्येक अपील उस तारीख से जिसको, यथास्थिति, बोर्ड या न्यायनिर्णयन अधिकारी द्वारा किए गए आदेश की प्रति उसे प्राप्त होती है, पैंतालीस दिन की अवधि के भीतर फाइल की जाएगी । साधारणतया, प्रशासनिक आदेश और बोर्ड द्वारा बनाए गए विनियम कभी भी “व्यथित व्यक्ति” को व्यक्तिगत तौर पर प्राप्त नहीं होते हैं । यह इस तथ्य की एक अन्य सूचक है कि धारा 15न की उपधारा (1) में उल्लिखित आदेश केवल एक अर्ध-न्यायिक आदेश है । इसके अतिरिक्त, यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण है कि उपधारा (4) के अधीन, अपील अधिकरण

अंततोगत्वा उस आदेश की, जिसके विरुद्ध अपील की गई है, पुष्टि करने वाला, उसे उपांतरित करने वाला या उसे अपास्त करने वाला आदेश पारित कर सकेगा। इसमें ऊपर निर्दिष्ट **क्लेरियंट** (उपर्युक्त) वाले मामले के निर्णय के पैरा 74 में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि “अधिनियम के अधीन अपील प्राधिकरण की अधिकारिता को कानून द्वारा किसी भी प्रकार से नियंत्रित नहीं किया गया है और बोर्ड उन सभी अधिकारिता का प्रयोग करता है जो उसकी अधिकारिता है।”¹ ऐसी दशा में, यह स्पष्ट है कि अपील, बोर्ड के समक्ष कार्यवाहियों की निरंतरता होने के कारण कार्यवाही की प्रकृति केवल अर्ध-न्यायिक हो सकती है।

9. इसके अलावा, एक अन्य सूचक धारा 15न की उपधारा (5) में पाया जा सकता है, जिसके द्वारा अपील अधिकरण द्वारा किए गए प्रत्येक आदेश की प्रति बोर्ड, अपील के पक्षकारों और संबंधित न्यायनिर्णयन अधिकारी को भेजी जानी होती है। संबंधित न्यायनिर्णयन अधिकारी और अपील के पक्षकार स्पष्ट रूप से केवल उन व्यक्तियों को निर्दिष्ट करते हैं जो अर्ध-न्यायिक कार्यवाही में अंतर्बलित हैं।

10. अधिनियम की धारा 15य के अधीन, प्रतिभूति अपील अधिकरण के किसी भी “विनिश्चय या आदेश” की अपील ऐसे आदेशों से उद्भूत विधि के प्रश्नों पर उच्चतम न्यायालय में होती है। स्पष्ट रूप से, ये आदेश भी अर्ध-न्यायिक प्रकृति के हैं। ये सब बातें उन अर्ध-न्यायिक और प्रशासनिक आदेशों के बीच विभेद करती हैं जो प्रथम सिद्धांतों के आधार पर पारित किए जाएंगे।

11. इसके लिए हमें **दि किंग बनाम विद्युत आयुक्त**¹ वाले उत्कृष्ट मामले का उल्लेख करना होगा। लार्ड न्यायमूर्ति एटकिन द्वारा दिए गए प्रख्यात निर्णय में अर्ध-न्यायिक आदेश की परिभाषा इस प्रकार दी गई है :-

“जब कभी व्यक्तियों का ऐसा निकाय, जिसके पास नागरिकों के अधिकारों को प्रभावित करने वाले प्रश्नों का अवधारणा करने का प्राधिकार है, और जिनका न्यायिक रूप से कार्य करने का कर्तव्य है, अपने विधिक प्राधिकार के आधिक्य में कार्य करता है तो वे राजा की न्यायपीठ प्रभाग की उस नियंत्रणकारी अधिकारिता के अध्वधीन हैं जो इन रिटों में प्रयुक्त की जाती हैं।”

¹ (1924) 1 के. बी. 171.

12. इस प्रख्यात लेखांश को बार-बार सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों में निर्दिष्ट किया गया है अतः, **प्रोविन्स आफ बम्बई बनाम खुशालदास एस. आडवाणी**¹ वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था :-

“(i) यह कि, यदि कोई कानून किसी प्राधिकरण को, जो सामान्य अर्थ में न्यायालय न हो, कानून के अधीन किसी पक्षकार द्वारा किए गए ऐसे दावे से उद्भूत विवादों, जिस दावे का अन्य पक्षकार द्वारा विरोध किया जाता है, का विनिश्चय करने और मुकदमा लड़ने वाले ऐसे पक्षकारों के अपने-अपने अधिकारों जो एक-दूसरे का विरोध करते हैं का अवधारण करने के लिए सशक्त करता है, तो यह एक वाद है और प्रथमदृष्ट्या तथा कानून में किसी प्रतिकूल बात के अभाव में, उस प्राधिकरण का यह कर्तव्य है कि न्यायिक रूप से कार्य करे और प्राधिकरण का विनिश्चय एक अर्ध-न्यायिक कृत्य है ; और

(ii) यह कि, यदि किसी कानूनी प्राधिकरण को कोई ऐसा कृत्य करने की शक्ति है जो प्रजा को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करेगा, तब यद्यपि वहां प्राधिकरण के अतिरिक्त दो पक्षकार नहीं हैं और विरोध ऐसा कृत्य करने की प्रस्थापना करने वाले प्राधिकरण तथा इसका विरोध करने वाली प्रजा के बीच है, तो भी प्राधिकरण का अंतिम अवधारण एक अर्ध-न्यायिक कृत्य होगा बशर्ते कानून द्वारा प्राधिकरण से न्यायिक रूप से कृत्य करने की अपेक्षा की गई हो ।”

13. **शिवाजी नाथुभाई बनाम भारत संघ**² वाले मामले में विधि के इसी कथन का अनुसरण किया गया है, जहां उच्चतम न्यायालय के समक्ष प्रश्न यह था कि क्या खनिज रियायत नियम, 1949 के नियम 54 के अधीन केन्द्रीय सरकार के प्रशासनिक आदेशों का पुनर्विलोकन करने की शक्ति को एक अर्ध-न्यायिक क्षमता में यह कार्य करने की शक्ति कहा जा सकता है । इस न्यायालय ने **आडवाणी** (उपरोक्त) वाले मामले में लार्ड न्यायमूर्ति एटकिन के लेखांश को उपवर्णित करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया कि किसी प्रशासनिक निकाय के कृत्य को अर्ध-न्यायिक कृत्य के रूप में वर्णित करने के लिए तीन अपेक्षित बातों का होना आवश्यक है :-

(i) विधिक प्राधिकार होना चाहिए ;

¹ [1950] एस. सी. आर. 621.

² [1960] 2 एस. सी. आर. 775.

(ii) यह प्राधिकार प्रजा के अधिकारों को प्रभावित करने वाले प्रश्न का अवधारण करने के लिए होना चाहिए ; और

(iii) न्यायिक रूप से कृत्य करने का कर्तव्य होना चाहिए ।

उपर्युक्त कसौटियां लागू करते हुए, यह अभिनिर्धारित किया गया कि केन्द्रीय सरकार की नियम 54 के अधीन पुनर्विलोकन की शक्ति अर्ध-न्यायिक शक्ति है क्योंकि उसे प्रजा के अधिकारों को प्रभावित करने वाले प्रश्नों का अवधारण करने का विधिक प्राधिकार है और न्यायिक रूप से कृत्य करने का कर्तव्य है, जिसमें मामले की सुनवाई और गुणागुण के आधार पर विनिश्चय करना अंतर्बलित है ।

14. इंडियन नेशनल कांग्रेस(आई) बनाम सामाजिक कल्याण संस्थान और अन्य¹ वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि निर्वाचन आयोग द्वारा लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 29क के अधीन शक्तियों का प्रयोग एक अर्ध-न्यायिक शक्ति है । आर. बनाम विद्युत आयुक्त (उपरोक्त) और प्रोविन्स आफ बम्बई बनाम खुशालदास (उपरोक्त) वाले मामलों को निर्दिष्ट करने के पश्चात् इस न्यायालय ने यह अधिकथित किया :-

“उपर्युक्त विनिश्चयों से प्रकट यह अधिकथित करने वाले विधिक सिद्धांत कि किसी कानूनी प्राधिकरण का कोई कृत्य कब अर्ध-न्यायिक कृत्य होगा, ये हैं -

जहां (क) किसी प्राधिकरण को कोई कानूनी कृत्य करने के लिए सशक्त किया गया है, (ख) जिससे प्रजा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, (ग) यद्यपि कोई वाद या प्रतिवाद करने वाले पक्षकार नहीं हैं और विरोध प्राधिकरण और प्रजा के बीच है, और (घ) कानूनी प्राधिकरण से कानून के अधीन न्यायिक रूप से कृत्य करना अपेक्षित है, तब उक्त प्राधिकरण का विनिश्चय अर्ध-न्यायिक है ।

पूर्वोक्त सिद्धांत को लागू करते हुए, हमारा यह मत है कि किसी कानूनी प्राधिकरण के समक्ष प्रतिवाद करने वाले पक्षकारों के बीच वाद या विरोध की मौजूदगी, किसी अर्ध-न्यायिक प्राधिकरण के किन्हीं अन्य लक्षणों के अभाव में यह अभिनिर्धारित करने के लिए पर्याप्त है

¹ [2002] 5 एस. सी. आर. 685.

कि ऐसा कानूनी प्राधिकरण अर्ध-न्यायिक प्राधिकरण है । तथापि, किसी कानूनी प्राधिकरण के समक्ष किसी वाद के अभाव में ऐसा प्राधिकरण अर्ध-न्यायिक प्राधिकरण होगा यदि उससे न्यायिक रूप से कृत्य करना अपेक्षित हो ।” (पैरा 24 और 25)

उपर्युक्त विनिश्चय से यह देखा जा सकता है कि उन कसौटियों के अतिरिक्त जो पहले अधिकथित की गई हैं, पक्षकारों के बीच किसी वाद के अभाव में भी आवश्यक रूप से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाएगा कि किसी प्रशासनिक निकाय को प्रदत्त शक्ति तब तक अर्ध-न्यायिक नहीं होगी जब तक कि पूर्वोक्त तीन कसौटियों का अनुसरण न हो, तो भी यह अर्ध-न्यायिक शक्ति है ।

15. **शंकर लाल अग्रवाल बनाम शंकरलाल पोद्दार¹** वाले मामले में इस न्यायालय के समक्ष उठाया गया प्रश्न यह था कि क्या कंपनी न्यायाधीश का ऐसा आदेश जो विक्रय की पुष्टि करता है, प्रशासनिक है या न्यायिक । इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया :-

“शायद ऐसी परिभाषा विरचित करना संभव नहीं है जो इस संदर्भ में प्रशासनिक और न्यायिक आदेश के बीच समाधानप्रद रूप से विभेद करती हो । यह कि किसी व्यक्ति को, जो न्यायालय के रूप में कार्य करता है, सौंपी गई या उसके द्वारा उपभोग की गई शक्ति इस प्रश्न का निश्चायक नहीं है कि क्या उसका कृत्य या विनिश्चय प्रशासनिक है या न्यायिक । किंतु हम यह धारणा कर सकते हैं कि प्रशासनिक आदेश वह होगा जो मामलों के विनियमन या पर्यवेक्षण के लिए किया जाता है और यह उस आदेश से सुभिन्न होता है जो पक्षकारों के अधिकारों का विनिश्चय करता है या संपत्ति के उन अधिकारों को प्रदत्त करता है या प्रदत्त करने से इनकार करता है जो न्यायालय के समक्ष न्यायनिर्णयन का विषय है । कसौटियों में से एक कसौटी यह होगी कि क्या मामला, जिसमें विवेक का प्रयोग अंतर्वलित है, प्राधिकरण के विनिश्चय के लिए है, विशिष्ट रूप से यदि वह प्राधिकरण न्यायालय हो, और यदि विवेक का प्रयोग विशुद्ध रूप से व्यक्तिपरक बातों से सुभिन्न रूप से वस्तुपरक बातों के आधार पर किया जाना है, तो यह एक न्यायिक विनिश्चय होगा । कभी-कभी यह कहा जाता है कि किसी न्यायिक कार्यवाही या न्यायिक आदेश

¹ [1964] 1 एस. सी. आर. 717.

का सार यह है कि दो पक्षकार होने चाहिए और उनके बीच विवाद हो जो प्रस्ताव और विरोध के बीच विवादात्मक पर उस आदेश या विनिश्चय के परिणामस्वरूप न्यायनिर्णयन का विषय हो। निरसंदेह, प्राधिकरण के समक्ष विवाद का विनिश्चय करते हुए पारित आदेश को यह वर्णित करना संभव नहीं होगा कि यह एक न्यायिक आदेश नहीं है किंतु इसका यह परिणाम नहीं है कि विवाद का अभाव आवश्यक रूप से उस आदेश को न्यायिक होने से नकारता है।” (पृष्ठ 728-729 पर)

16. दो अन्य विनिश्चय हमें प्रशासनिक और अर्ध-न्यायिक आदेशों के बीच फर्क की रोचक जानकारी देते हैं। **जयंतीलाल अमृतलाल शोधन बनाम एफ. एन. राणा और अन्य¹** वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि भूमि अधिकरण अधिनियम की धारा 5 के अधीन की गई कलेक्टर की रिपोर्ट इस तथ्य के बावजूद कि कलेक्टर को आक्षेपकर्ता को सुनवाई का अवसर दिया जाना होता है, एक प्रशासनिक विनिश्चय है। यह इसलिए अभिनिर्धारित किया गया था क्योंकि कलेक्टर से यह अपेक्षित नहीं है कि वह अपने समक्ष प्रस्तुत किसी विवाद पर कोई विनिश्चय करे। उसे मामला आक्षेपों पर अपनी सिफारिशें अंतर्विष्ट करते हुए रिपोर्ट के साथ समुचित सरकार को विनिश्चय के लिए प्रस्तुत करना होता है। अतः यह स्पष्ट है कि कलेक्टर की रिपोर्ट ऐसे किसी प्रश्न का अवधारण नहीं करती जो अधिकारों को प्रभावित करती हो, भले ही इस अर्थ में न्यायिक रूप से कार्य करने का कर्तव्य हो कि कलेक्टर को अपनी रिपोर्ट बनाने से पूर्व आक्षेपकर्ताओं को सुनना होता है। **गोविंदभाई गोर्धनभाई पटेल और अन्य बनाम गुलाम अब्बास मुल्ला अलीभाई और अन्य²** वाले मामले में इसी प्रकार की स्थिति है। इस निर्णय ने यह विनिश्चय किया कि बम्बई अभिधृति और कृषि भूमि अधिनियम की धारा 63(1) के परंतुक के अधीन कलेक्टर का कार्य प्रशासनिक है न कि अर्ध-न्यायिक। इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए इस न्यायालय ने इसी न्यायालय के विभिन्न पूर्ववर्ती विनिश्चयों को निर्दिष्ट किया जिनमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 92 के अधीन महाधिवक्ता द्वारा स्वीकृति प्रदान करना या इनकार करना एक प्रशासनिक आदेश है, इसी प्रकार मुस्लिम वक्फ अधिनियम, 1954 की धारा 53(2) के अधीन वाद फाइल करने के लिए स्वीकृति प्रदान करना या

¹ [1964] 5 एस. सी. आर. 294.

² [1977] 2 एस. सी. आर. 511.

विधारित करना भी एक प्रशासनिक विनिश्चय है। औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 10 के अधीन निर्देश में किया गया आदेश इसी प्रकार से एक प्रशासनिक आदेश है। इन तीनों मामलों में प्रजा के अधिकारों को प्रभावित करने वाले किसी विवाद का गुणागुण के आधार पर विनिश्चय नहीं किया गया था और यही कारण है कि इन विनिश्चयों को प्रशासनिक प्रकृति के अभिनिर्धारित किया गया था न कि अर्ध-न्यायिक प्रकृति के। एक अन्य निर्णय को भी निर्दिष्ट किया जा सकता है। **एन. मिश्रा बनाम डा. एच. के. पेंटल**¹ वाले मामले में इस न्यायालय ने वाडे की प्रशासनिक विधि के एक लेखांश का अनुसरण करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि न्यायिक विनिश्चय विधि के अनुसार किया जाता है, जबकि प्रशासनिक विनिश्चय प्रशासनिक नीति के अनुसार किया जाता है। कहीं न कहीं इन दोनों के बीच रहने वाला अर्ध-न्यायिक कार्य प्रशासनिक कार्य है जिनमें किसी न किसी प्रकार से विधि को इस प्रकार प्रयुक्त किए जाने की अपेक्षा होती है मानो यह न्यायिक कार्य है। अतः अर्ध-न्यायिक विनिश्चय ऐसा विनिश्चय है जो कि न्यायिक प्रक्रिया के कतिपय उपायों के अध्वधीन होता है।

17. अब हम अधिनियमों के अधीन किए गए इस न्यायालय के दो निर्णयों पर आते हैं जो सेबी जैसे विशेषज्ञ निकाय से संबंधित हैं। **पीटीसी इंडिया लि. बनाम केन्द्रीय विद्युत विनियामक आयोग** (उपरोक्त) वाले मामले में इस न्यायालय को विद्युत अधिनियम, 2003 की विभिन्न धाराओं का अर्थान्वयन करना था और अंततोगत्वा इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि विद्युत अधिनियम, 2003 की धारा 178 के अधीन विद्युत अपील अधिकरण को केन्द्रीय विद्युत विनियामक आयोग के अधीन विरचित विनियामक आयोग के अधीन विरचित विनियमों की विधिमान्यता का विनिश्चय करने की अधिकारिता नहीं है। तथापि, विनियमों की विधिमान्यता को भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन न्यायिक पुनर्विलोकन की ईप्सा करते हुए चुनौती दी जा सकेगी।

18. यह मत व्यक्त करते हुए, निष्कर्षों का सार उक्त निर्णय के पैरा 92 में दिया गया है। हमारे दृष्टिकोण से उप-पैरा (iii), (iv) और (v) महत्वपूर्ण हैं जिनमें निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया है :-

“(iii) धारा 178 के अधीन कोई विनियम प्रत्यायोजित विधान के

¹ [1990] 2 एस. सी. आर. 84.

प्राधिकार के अधीन बनाया जाता है और परिणामतः इसकी विधिमान्यता को केवल न्यायालयों के समक्ष न्यायिक पुनर्विलोकन की कार्यवाहियों में ही परखा जा सकता है न कि उक्त अधिनियम की धारा 111 के अधीन विद्युत अपील अधिकरण के समक्ष अपील फाइल करके ।

(iv) 2003 के अधिनियम की धारा 121 के अधीन अपील अधिकरण को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्रदान नहीं की गई है । धारा 121 में “आदेश”, “अनुदेश” या “निदेश” शब्द विद्युत अपील अधिकरण को न्यायिक पुनर्विलोकन की कोई शक्ति प्रदान नहीं करते । इस निर्णय में हम इंग्लिश नजीरों का विश्लेषण नहीं करना चाहते क्योंकि हमारा उन नजीरों को देखते हुए यह निष्कर्ष है कि इंग्लैंड में कुछ मामलों में न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति अधिनियम के अधीन गठित अधिकरणों को अभिव्यक्त रूप से प्रदत्त की गई है । 2003 के वर्तमान अधिनियम में, धारा 178 के अधीन बनाए गए विनियमों की विधिमान्यता का न्यायिक पुनर्विलोकन करने की शक्ति विद्युत अपील अधिकरण को प्रदत्त नहीं की गई है ।

(v) यदि धारा 178 के अधीन बनाए गए किसी विनियम के निर्वचन के संबंध में न्यायनिर्णयन में कोई विवाद उद्भूत होता है तो उसकी अपील निश्चित रूप से धारा 111 के अधीन अपील अधिकरण को होगी, किंतु अपील अधिकरण को कोई भी अपील धारा 178 के अधीन बनाए गए किसी विनियम की विधिमान्यता के संबंध में नहीं होगी ।” (पैरा 92)

19. भारत संचार निगम लि. बनाम भारतीय दूरसंचार विनियामक प्राधिकरण और अन्य (उपरोक्त) वाले मामले में इस निर्णय का अनुसरण किया गया था । भारतीय दूरसंचार प्राधिकरण अधिनियम, 1997 को वर्ष 2000 में अधिनियम के अधीन विशेषज्ञ निकाय अर्थात् भारतीय दूरसंचार विनियामक प्राधिकरण से सभी अर्ध-न्यायिक कार्यों को छीनते हुए संशोधित किया गया था । संशोधन के बाद, इस न्यायालय के समक्ष उठाया गया प्रश्न यह था कि क्या दूरसंचार विवाद एवं अपील अधिकरण अर्थात् अपील अधिकरण को भारतीय दूरसंचार विनियामक प्राधिकरण अधिनियम की धारा 14(ख) के अधीन शक्तियों का प्रयोग करते हुए भारतीय दूरसंचार विनियामक प्राधिकरण द्वारा भारतीय दूरसंचार विनियामक अधिनियम की धारा 36 के अधीन बनाए गए विनियमों को दी गई चुनौती को ग्रहण करने

की अधिकारिता है या नहीं। इस न्यायालय ने पीटीसी इंडिया (उपरोक्त) वाले मामले के निर्णय को विस्तारपूर्वक निर्दिष्ट किया और अंततोगत्वा यह अभिनिर्धारित किया कि दूरसंचार विवाद एवं अपील अधिकरण को भारतीय दूरसंचार विनियामक प्राधिकरण द्वारा भारतीय दूरसंचार विनियामक प्राधिकरण अधिनियम की धारा 36 के अधीन बनाए गए विनियम विधायी प्रकृति के होने के कारण ऐसी अधिकारिता नहीं है।

20. जिस अधिनियम पर हम विचार कर रहे हैं, उसी पर विचार करते हुए इस न्यायालय का एक निर्णय क्लेरियंट इंटरनेशनल लि. और एक अन्य बनाम भारतीय प्रतिभूति और विनियम बोर्ड (उपरोक्त) वाले मामले के रूप में संप्रकाशित है। हमारे मत में, इस निर्णय में की गई कतिपय मताभिव्यक्तियों से इस अपील में उठाए गए विषयों का लगभग समापन हो जाता है। एक विशेषज्ञ निकाय होने के कारण बोर्ड के प्रभाव पर चर्चा करते हुए इस न्यायालय ने पैरा 71 में यह मत व्यक्त किया है :-

“बोर्ड निर्विवाद रूप से एक विशेषज्ञ निकाय है। किंतु जब यह अपने अर्ध-न्यायिक कार्यों का प्रयोग करता है तो इसके विनिश्चय अपील के अध्यक्षीन होते हैं। अपील अधिकरण भी एक विशेषतया अधिकरण है।”

इस न्यायालय ने आगे पैरा 77 में यह भी मत व्यक्त किया है :-

“बोर्ड अपनी विधायी शक्ति का प्रयोग विनियम बनाकर, कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इसके द्वारा विरचित विनियमों को लागू करके और इन विनियमों का अतिक्रमण करने वाली किसी इकाई के विरुद्ध कार्रवाई करके और न्यायिक शक्ति का प्रयोग इन विनियमों के कार्यान्वयन से होने वाले विवादों का न्यायनिर्णयन करके करता है। इन अति-व्यापक शक्तियों के प्रयोग पर एकमात्र नियंत्रण यह है कि ये संविधान और अधिनियम के अनुपालन में होनी चाहिए। मामले की इस दृष्टि से, जहां किसी विशेषज्ञ अधिकरण का गठन किया गया है, वहां यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि उसके स्तर पर की जाने वाली संवीक्षा का व्यापक महत्व है। अतः एक अन्य विशेषज्ञ निकाय, अधिकरण को कानून द्वारा उसे प्रदत्त अपनी अधिकारिता का प्रयोग किसी परिसीमा के बिना करने के लिए अनुज्ञात किया जाना चाहिए।”

21. अब हमें नज़ीरों के दिग्दर्शन के आधार पर यह अवधारण करना

है कि क्या धारा 15न इस निर्णय में पहले ही इस धारा के किए गए अर्थान्वयन से बिल्कुल अलग, केवल अर्ध-न्यायिक आदेशों को निर्दिष्ट करती है। सेबी, अधिनियम द्वारा सृजित एक विशेषज्ञ निकाय है जिसके, जैसा कि पहले कहा गया है, प्रशासनिक, विधायी और अर्ध-न्यायिक कार्य हैं। कुछ धाराएं जो बोर्ड के अर्ध-न्यायिक कृत्यों से संबंधित हैं, इसमें नीचे उपवर्णित की जाती है :-

“11. बोर्ड के कृत्य

(4) बोर्ड, उपधारा (1), उपधारा (2) उपधारा (2क) और उपधारा (3) तथा धारा 11ख के उपबंधों पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, ऐसे कारणों से, जो लेखबद्ध किए जाएंगे, विनिधानकर्ताओं या प्रतिभूति बाजार के हित में, या तो अन्वेषण या जांच के लंबित रहते हुए या ऐसे अन्वेषण या जांच के पूरा होने पर, आदेश द्वारा, निम्नलिखित कोई अध्युपाय कर सकेगा, अर्थात् :-

(क) किसी मान्यताप्राप्त स्टॉक एक्सचेंज में किसी प्रतिभूति के व्यापार का निलंबन करना ;

(ख) किसी प्रतिभूति बाजार में व्यक्तियों की पहुंच को रोकना और प्रतिभूति बाजार से सहबद्ध किसी व्यक्ति को प्रतिभूतियों का क्रय, विक्रय या संव्यवहार करने से प्रतिषिद्ध करना ;

(ग) किसी स्टॉक एक्सचेंज या स्वतः विनियामक संगठन के किसी पदधारी को ऐसा पद धारण करने से निलंबित करना ;

(घ) ऐसे किसी संव्यवहार के संबंध में, जो कि अन्वेषण के अधीन है, आगमों या प्रतिभूतियों को परिबद्ध या प्रतिधारित करना ;

(ङ) अधिकारिता रखने वाले प्रथम श्रेणी न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा अनुमोदन के लिए किए गए आवेदन पर आदेश पारित करने के पश्चात् किसी भी रीति में प्रतिभूति बाजार से सहबद्ध किसी मध्यवर्ती या किसी व्यक्ति के, जो इस अधिनियम या उसके अधीन बनाए गए नियमों या विनियमों के उपबंधों में से किसी के उल्लंघन में अन्तर्वलित हो, एक या अधिक बैंक खाते या खातों को एक मास से अनधिक की अवधि के लिए कुर्क करना ;

परंतु केवल वही बैंक खाता या खाते या उनमें दर्ज किसी संव्यवहार को ही, जहां तक उसका संबंध, इस अधिनियम या उसके अधीन बनाए गए नियमों या विनियमों के उपबंधों में से किसी के उल्लंघन में वास्तविक रूप से अंतर्वलित आगमों से है, कुर्क करने के लिए अनुज्ञात किया जाएगा ;

(च) किसी भी रीति में प्रतिभूति बाजार से सहबद्ध किसी मध्यवर्ती या किसी व्यक्ति को, किसी ऐसी आस्ति का, जो उस संव्यवहार का भाग है जिसका अन्वेषण किया जा रहा है, व्ययन या अन्य संक्रामण न करने का निदेश देना :

परंतु बोर्ड उपधारा (2) या उपधारा (2क) के उपबंधों पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, किसी सूचीबद्ध पब्लिक कंपनी या पब्लिक कंपनी (जो धारा 12 में निर्दिष्ट मध्यवर्तियां नहीं हैं) की बाबत, जो किसी मान्यताप्राप्त स्टॉक एक्सचेंज में अपनी प्रतिभूतियों को सूचीबद्ध कराने का आशय रखती है, खंड (घ) या खंड (ङ) या खंड (च) में विनिर्दिष्ट कोई अध्यापय कर सकेगा जहां बोर्ड के पास यह विश्वास करने के युक्तियुक्त आधार हों कि किसी कंपनी प्रतिभूति बाजार के संबंध में अंतरंगी व्यापार या कपटपूर्ण और अनुचित व्यापार प्रथाओं में लगी हुई है :

परंतु यह और कि बोर्ड, ऐसा आदेश पारित करने के पूर्व या पश्चात् ऐसे मध्यवर्तियों या संबद्ध व्यक्तियों को सुनवाई का अवसर देगा ।

11ख. निदेश देने की शक्ति — धारा 11 में जैसा अन्यथा उपबंधित है उसके सिवाय, यदि कोई जांच करने या कराए जाने के पश्चात् बोर्ड का यह समाधान हो जाता है कि —

(i) विनिधानकर्ताओं के हित में या प्रतिभूति बाजार के व्यवस्थित विकास के लिए ;

(ii) धारा 12 में निर्दिष्ट किसी मध्यवर्ती या अन्य व्यक्तियों के ऐसे कार्यकलापों को, जो ऐसी रीति से संचालित किए जाते हैं जो विधानकर्ताओं अथवा प्रतिभूति बाजार के हितों के लिए हानिकारक हैं, रोकने के लिए ; या

(iii) ऐसे किसी मध्यवर्ती या व्यक्ति का उचित प्रबंध सुनिश्चित करने के लिए ;

ऐसा करना आवश्यक है तो वह -

(क) धारा 12 में निर्दिष्ट या प्रतिभूति बाजार से सहयुक्त किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के वर्ग को; या

(ख) धारा 11 क में विनिर्दिष्ट विषयों की बाबत किसी कम्पनी को, ऐसे निदेश सकेगा, जो प्रतिभूतियों में विनिधानकर्ताओं और प्रतिभूति बाजार के हित में उचित हो ।

स्पष्टीकरण - शंकाओं को दूर करने के लिए यह घोषित किया जाता है कि इस धारा के अधीन निदेशों को जारी करने की शक्ति में, किसी ऐसे व्यक्ति को, निदेश करने की शक्ति सम्मिलित होगी और सदैव उसका सम्मिलित होना समझा जाएगा, जो इस अधिनियम या उसके अधीन बनाए गए विनियमों के उल्लंघन में, किसी संव्यवहार या क्रियाकलाप में लगकर, ऐसे उल्लंघन से कमाए गए सदोष अभिलाभ या टाली गई हानि के समान रकम का प्रत्यर्पण करने के लिए लाभ कमाता है या हानि को टालता है ।

11घ. बंद करने या प्रतिविरत रहने की कार्यवाहियां - यदि बोर्ड का जांच कराए जाने के पश्चात् यह निष्कर्ष है कि किसी व्यक्ति ने इस अधिनियम या उसके अधीन बनाए गए किन्हीं नियमों या विनियमों के किन्हीं उपबंधों का अतिक्रमण किया है या उसके द्वारा अतिक्रमण किए जाने की संभावना है तो वह, ऐसे व्यक्ति से ऐसा अतिक्रमण बंद करने या कराने और उससे प्रतिविरत रहने की अपेक्षा करने वाला आदेश पारित कर सकेगा :

परंतु बोर्ड, ऐसी सूचीबद्ध पब्लिक कंपनी या (धारा 12 के अधीन विनिर्दिष्ट मध्यवर्तियों से भिन्न) पब्लिक कंपनी की बाबत, जो कि किसी मान्यताप्राप्त स्टाक एक्सचेंज में अपनी प्रतिभूतियां सूचीबद्ध कराने का आशय रखती हैं, तब तक ऐसा आदेश पारित नहीं करेगा जब तक कि बोर्ड के पास यह विश्वास करने के लिए युक्तियुक्त आधार न हों कि ऐसी कंपनी अंतरंगी व्यापार या बाजार छलसाधन में नहीं लगी है ।

12. स्टाक दलालों, उप-दलालों, शेयर अंतरण अभिकर्ताओं, आदि का रजिस्ट्रीकरण ।

(3) बोर्ड, आदेश द्वारा, ऐसी रीति से जो विनियमों द्वारा अवधारित की जाएं, रजिस्ट्रीकरण प्रमाणपत्र को निलंबित कर सकेगा या रद्द कर सकेगा :

परंतु इस उपधारा के अधीन कोई आदेश तब तक नहीं किया जाएगा जब तक कि संबंधित व्यक्ति को सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर न दे दिया गया हो ।

15झ. न्यायनिर्णयन करने की शक्ति – (1) धारा 15क, धारा 15ख, धारा 15ग, धारा 15घ, धारा 15ङ, धारा 15च धारा 15छ, धारा 15ज, धारा 15जक और 15जख के अधीन न्यायनिर्णयन करने के प्रयोजन के लिए कोई बोर्ड शास्ति अधिरोपित करने के प्रयोजन के लिए संबंधित व्यक्ति को सुनवाई का उचित अवसर देने के पश्चात्, विहित रीति से जांच करने के लिए प्रभाग प्रमुख से अनिम्न पंक्ति के किसी अधिकारी को न्यायनिर्णयक अधिकारी नियुक्त करेगा ।

(2) न्यायनिर्णयक अधिकारी को, कोई जांच करते समय, ऐसे व्यक्ति को, जो मामले के तथ्यों और परिस्थितियों से परिचित है, साक्ष्य देने या कोई ऐसी दस्तावेज पेश करने के लिए, जो न्यायनिर्णयक अधिकारी की राय में, जांच की विषयवस्तु के लिए उपयोगी या उससे सुसंगत हो सकती है, समन करने और उसे हाजिर कराने की शक्ति होगी, और यदि ऐसी जांच करने पर, उसका यह समाधान हो जाता है कि वह व्यक्ति उपधारा (1) में विनिर्दिष्ट धाराओं में से किसी के उपबंधों का अनुपालन करने में असफल रहा है तो वह उन धाराओं में से किसी के उपबंधों के अनुसार ऐसी शास्ति अधिरोपित कर सकेगा, जो वह ठीक समझे ।

(3) बोर्ड, इस धारा के अधीन किन्हीं कार्यवाहियों के अभिलेख को मंगा सकेगा और उनकी परीक्षा कर सकेगा तथा यदि उसका यह विचार है कि न्यायनिर्णयक अधिकारी द्वारा पारित आदेश उस विस्तार तक गलत है, जहां तक वह प्रतिभूति बाजार के हितों में नहीं है तो वह ऐसी जांच करने या करवाने के पश्चात् जो वह आवश्यक समझे, यदि मामले की परिस्थितियां उसको न्यायोचित ठहराती हैं, शास्ति की मात्रा में वृद्धि करते हुए, आदेश पारित कर सकेगा :

परंतु ऐसा आदेश तब तक पारित नहीं किया जाएगा जब तक संबद्ध व्यक्ति को मामले में सुने जाने का अवसर प्रदान नहीं किया

जाता है :

परन्तु यह और कि इस उपधारा में अंतर्विष्ट कोई बात, न्यायनिर्णायक अधिकारी द्वारा पारित आदेश की तारीख से तीन मास की अवधि के अवसान धारा 15न के अधीन अपील के निपटान के पश्चात्, इनमें से जो भी पूर्वतर हो, लागू नहीं होगी ।”

22. बोर्ड के प्रशासनिक कृत्यों के लिए मोटे तौर पर अधिनियम की धारा 11(1) निर्देश्य है, जो निम्नलिखित है :—

“11. बोर्ड के कृत्य — (1) इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन रहते हुए, बोर्ड का यह कर्तव्य होगा कि वह प्रतिभूतियों में विनिधान कर्ताओं के हितों का संरक्षण करे और प्रतिभूति बाजार के, ऐसे अध्युपायों द्वारा जो वह ठीक समझे, विकास के संवर्धन और विनियमन करे ।”

23. विधायी कृत्यों अर्थात् विनियम बनाने के लिए अधिनियम की धारा 30 निर्देश्य है, जो निम्नलिखित है :—

“30. विनियम बनाने की शक्ति — (1) बोर्ड, अधिसूचना द्वारा, इस अधिनियम के प्रयोजनों को कार्यान्वित करने के लिए ऐसे नियम बना सकेगा जो इस अधिनियम और इसके अधीन बनाए गए नियमों से असंगत न हो ।

(2) विशिष्टतया और पूर्वगामी शक्ति की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, ऐसे विनियमों में निम्नलिखित सभी या किन्हीं विषयों के लिए उपबंध किया जा सकेगा, अर्थात् —

(क) बोर्ड के अधिवेशनों का समय और स्थान और धारा 7 की उपधारा (1) के अधीन ऐसे अधिवेशनों में अनुसरित की जाने वाली प्रक्रिया जिसके अंतर्गत कारबार के संव्यवहार के लिए आवश्यक गणपूर्ति है ;

(ख) धारा 9 की उपधारा (2) के अधीन बोर्ड के अधिकारियों और कर्मचारियों की पदावधि और सेवा की अन्य शर्तें ;

(ग) पूंजी निर्गमन, प्रतिभूतियों के अंतरण से संबंधित विषय और उनके आनुषंगिक अन्य विषय तथा वह रीति जिससे ऐसे

विषय धारा 11क के अधीन कम्पनियों द्वारा प्रकट किए जाएंगे ;

(गक) धारा 11 की उपधारा (5) के अधीन जमा की गई रकम का उपयोग किया जाना ;

(गख) धारा 11क की उपधारा (2क) के अधीन सामूहिक विनिधान स्कीम से संबंधित अन्य शर्तों का पूरा किया जाना ;

(घ) वे शर्तें जिनके अधीन रहते हुए धारा 12 के अधीन रजिस्ट्रीकरण प्रमाणपत्र जारी किया जाता है, और रजिस्ट्रीकरण प्रमाणपत्र के लिए फीस की रकम संदत्त दी जाती है तथा उपधारा (1) के अधीन रजिस्ट्रीकरण प्रमाणपत्र के निलंबन या रद्दकरण की रीति ;

(घक) धारा 15ख की उपधारा (2) के अधीन कार्यवाहियों के निपटारे के लिए बोर्ड द्वारा अवधारित निबंधन और उपधारा (3) के अधीन निपटारा कार्यवाहियों के संचालन के लिए प्रक्रिया ;

(घख) ऐसा कोई अन्य विषय, जिसको विनियमों द्वारा विनिर्दिष्ट किया जाना अपेक्षित है या विनिर्दिष्ट किया जाए या जिसके संबंध में विनियमों द्वारा उपबंध किया जाना है ।”

24. यह उल्लेखनीय है कि धारा 29 के अधीन बनाए गए नियमों तथा धारा 30 के अधीन बनाए गए विनियमों को अधिनियम की धारा 31 के अधीन संसद् के समक्ष रखना होता है । नज़ीरों के दिग्दर्शन से यह स्पष्ट है कि अधिनियम की धारा 11(4), 11(ख), 11(घ), 12(3) और 15-झ में निर्देश्य आदेश अर्ध-न्यायिक हैं और नियमों तथा विनियमों के अधीन किए गए ऐसे आदेश जो धारा 15न के अधीन अपील की विषय-वस्तु हैं, अर्ध-न्यायिक आदेश हैं । प्रशासनिक आदेश जैसे कि वर्तमान मामले में जारी किए गए परिपत्र, जिनके प्रति अधिनियम की धारा 1(1) में निर्देश है, स्पष्ट रूप से, हमारे द्वारा ऊपर दिए गए कारणों से अधिकरण की अपील अधिकारिता से बाहर हैं । अतः 2007 की सिविल अपील सं. 186 मंजूर की जाती है और प्रतिभूति अपील अधिकरण के समक्ष किया गया आक्षेप कायम रखा जाता है । तदनुसार, प्रतिभूति अपील अधिकरण का निर्णय अपास्त किया जाता है ।

25. मामले की इस दृष्टि से, 2006 की सिविल अपील सं. 5173 को जिसमें आक्षेपित परिपत्र के गुणागुण को चुनौती दी गई है, आवश्यक रूप से खारिज की जानी चाहिए। हम यह स्पष्ट करते हैं कि उपर्युक्त परिपत्र को न्यायिक पुनर्विलोकन कार्यवाहियों में विधि के अनुसार चुनौती देने के लिए समुचित उपाय करने की स्वतंत्रता प्रदान की जाती है। तदनुसार, 2006 की सिविल अपील सं. 5173 का निपटारा किया जाता है।

2006 की सिविल अपील सं. 5173
खारिज की गई और 2007 की सिविल
अपील सं. 186 मंजूर की गई।

जस.

[2018] 1 उम. नि. प. 23

भारत का प्रतिस्पर्धा आयोग

बनाम

पश्चिमी बंगाल फिल्म और टेलीविजन कलाकारों तथा
तकनीशियनों की समन्वय समिति और अन्य

7 मार्च, 2017

न्यायमूर्ति ए. के. सीकरी और न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे

प्रतिस्पर्धा अधिनियम, 2002(2003 का 12) – धारा 2, 3 और 19(5) – प्रतिस्पर्धा-रोधी करार – हिन्दी भाषा में निर्मित धारावाहिक महाभारत को बंगला भाषा में डब करके टेलीविजन पर दिखाया जाना – पश्चिमी बंगाल राज्य के टेलीविजन और फिल्म कलाकारों तथा तकनीशियनों के संगम द्वारा इसके विरोध में आंदोलन किया जाना – धारावाहिक के प्रसारण को बंद करने की धमकी के विरुद्ध भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग में शिकायत फाइल किया जाना – आयोग के बहुमत के निर्णय में उक्त संगम (समन्वय समिति) की कार्रवाई को प्रतिस्पर्धा-रोधी अभिनिर्धारित किया जाना – अपील अधिकरण द्वारा बहुमत के निर्णय को अपास्त किया जाना – समन्वय समिति स्वयमेव एक उद्यम न होकर भले

ही एक व्यापार संघ हो किंतु इसके सदस्य फिल्मों के उत्पादन, वितरण और प्रदर्शन में लगे होने के कारण इसे मात्र व्यापार संघ नहीं कहा जा सकता है और इसलिए सुसंगत बाजार का दायरा टी. वी. धारावाहिकों तक सीमित न होकर इसके अंतर्गत राज्य का संपूर्ण टी. वी. और फिल्म उद्योग आता है इसलिए समन्वय समिति का आंदोलन करने का करार बाजार में प्रतिस्पर्धा को बाधित करने की कोटि में आता है और इससे अधिनियम की धारा 3(3) का अतिक्रमण होता है ।

वर्तमान मामले में, मैसर्स हार्ट वीडियो का स्वत्वधारी श्री सज्जन कुमार खेतान (प्रत्यर्थी सं. 2) वीडियो छायांकित टेलीविजन धारावाहिकों के वितरण और पूर्वी भारत के राज्यों में, जिसमें पश्चिमी बंगाल राज्य भी है, क्षेत्रीय धारावाहिकों के प्रसारण के कारबार में लगा है । मैसर्स बीआरटीवी, मुम्बई, जो कि टी. वी. धारावाहिकों का निर्माता है, ने महाभारत नामक धारावाहिक निर्मित किया था और जिसका मूल रूपांतर हिन्दी में था । उक्त बीआरटीवी ने उक्त धारावाहिक महाभारत के हिन्दी रूपांतर को बंगला भाषा में डब करने के अनन्य अधिकार सितंबर, 2016 तक मैसर्स मैग्नेट टी. वी. सीरियल्स को सौंपे । मैग्नेट टी. वी. ने आगे हार्ट वीडियो को उक्त धारावाहिक महाभारत का बंगला भाषा में डब करने के लिए उप-समनुदेशक के रूप में नियुक्त किया और उसने इसे डब किया । उसके पश्चात् उक्त डब किए गए धारावाहिक का प्रसारण करने के प्रयोजनों के लिए मैसर्स बंगाल मीडिया प्राइवेट लिमिटेड, कोलकाता, जो कि “चैनल 10” स्वामी है तथा मैसर्स कोलकाता टेलीविजन नेटवर्क प्राइवेट लिमिटेड, कोलकाता, जो कि सीटीवीएन+ चैनल का स्वामी है, के साथ प्रसारण के निश्चित समय के लिए, राजस्व हिस्सेदारी के आधार पर, एक करार निष्पादित किया । इन दोनों चैनलों को तारीख 2 फरवरी, 2011 और 12 फरवरी, 2011 को धारावाहिक के चार एपीसोड की हार्ड डिस्क दी गई । तारीख 19 फरवरी, 2011 के दैनिक समाचारपत्र में जन-साधारण को यह सूचित करते हुए एक विज्ञापन दिया गया कि चैनल 10 पर प्रत्येक रविवार प्रातः 10.00 बजे और सीटीवीएन+ पर रात्रि 10.00 बजे धारावाहिक “महाभारत” बंगला में प्रसारित किया जाएगा । पूर्वोत्तर भारत में कतिपय निर्माताओं ने ईस्टर्न इंडिया मोशन पिक्चर एसोसिएशन (ईम्पा) नामक एक संगम बनाया है । इसी तरह, पश्चिमी बंगाल में फिल्म और टेलीविजन उद्योग के कलाकारों और तकनीशियनों ने पश्चिमी बंगाल फिल्म और टेलीविजन कलाकारों और तकनीशियनों के विनिधानकर्ताओं की समिति (जिसे इसमें इसके पश्चात् “समन्वय समिति” कहा गया है) के रूप में ज्ञात एक संगम बनाया है ।

मूल रूप से हिन्दी भाषा में निर्मित धारावाहिक महाभारत को बंगला में डब करके इसका उक्त भाषा में प्रसारण करना ईम्पा और समन्वय समिति को स्वीकार्य नहीं था। उनके विचार में, अन्य भाषाओं में धारावाहिकों को निर्मित करके और उन्हें बंगला में डब करने के पश्चात् टी. वी. चैनलों पर दिखाने से इस मूल स्थान के निर्माताओं पर प्रभाव पड़ेगा और इससे पश्चिमी बंगाल में कार्यरत कलाकारों और तकनीशियनों पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। सीटीवीएन+ चैनल को तारीख 18 फरवरी 2011 को समन्वय समिति से डब किए हुए धारावाहिक “महाभारत” के प्रसारण को रोकने के लिए एक पत्र प्राप्त हुआ। तारीख 10 मार्च, 2011 को ईम्पा द्वारा इसी आशय का पत्र सीटीवीएन+ को लिखा गया। समन्वय समिति द्वारा इस चैनल से भी उसी प्रकार की मांग की गई। सीटीवीएन+ और चैनल 10 को यह धमकी भी दी गई कि यदि प्रसारण न रोका गया तो उनके चैनलों को इन दोनों निकायों अर्थात् ईम्पा और समन्वय समिति से असहयोग का सामना करना पड़ेगा। जब मैसर्स हार्ट वीडियो के स्वत्वधारी, श्री सज्जन खेतान को उपर्युक्त गतिविधियों और सीटीवीएन+ तथा चैनल 10 को मिली धमकी का पता चला और यह पाया कि ये दोनों टेलीविजन चैनल विवश होकर उन दबावों के आगे झुक रहे हैं, तो उसने भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग को पूर्वोक्त ब्यौरे के बारे में सूचित किया और उसे मामले में कार्रवाई करने का अनुरोध किया। भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग ने इत्तिलाकर्ता से उपर्युक्त इत्तिला प्राप्त होने के पश्चात् प्रथमदृष्ट्या यह राय बनाई कि ईम्पा और समन्वय समिति के कृत्य प्रतिस्पर्धा-रोधी हैं। तदनुसार, अधिनियम में विहित प्रक्रिया के अनुसार मामला विस्तृत अन्वेषण के लिए महानिदेशक को सौंपा गया। अन्वेषण करने पर महानिदेशक ने यह पाया कि इत्तिलाकर्ता द्वारा भेजी गई इत्तिला में अंतर्विष्ट ब्यौरे तथ्यात्मक रूप से सही हैं। इस आधार पर उसने अधिनियम के उपबंधों के संदर्भ में मामले की परीक्षा की। महानिदेशक ने यह निष्कर्ष निकाला कि समन्वय समिति की ओर से की गई कार्रवाई के परिणामस्वरूप बाजार में प्रवेश को प्रतिबंधित करके प्रतिस्पर्धा का पुरोबंध किया गया है। महानिदेशक ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि धारावाहिक के डब किए हुए रूपांतर को अनुज्ञा न देकर समन्वय समिति ने ऐसे कार्यक्रमों के उत्पादन, वितरण तथा प्रदर्शन और प्रसारण के काम में लगे कारबारियों के लिए कारबार के अवसरों को पुरोबंधित किया है। समन्वय समिति तथा ईम्पा ने मामले में जांच करने की महानिदेशक की अधिकारिता के संबंध में कतिपय मूलभूत आक्षेप किए क्योंकि उनका यह कहना था कि जांच अधिनियम की व्याप्ति के परे थी। महानिदेशक समन्वय समिति द्वारा प्रस्तुत की गई

प्रतिरक्षा से आश्वस्त नहीं हुए और यह पाया कि समन्वय समिति का आंदोलन अनुचित था क्योंकि स्थानीय फिल्म कलाकारों की संभावना अत्यधिक है और उक्त चैनलों पर डब किए हुए धारावाहिक दिखाने के कारण उद्योग को नुकसान पहुंचने की संभावना नहीं है। महानिदेशक की उपर्युक्त रिपोर्ट समन्वय समिति तथा ईम्पा के प्रतिकूल होने के कारण उन दोनों ने इसके विरुद्ध भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग के समक्ष अपने आक्षेप फाइल किए। ये आक्षेप लगभग उसी प्रकार के थे जो महानिदेशक के समक्ष फाइल किए गए थे। भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग ने उन आक्षेपों की समीक्षा करने के पश्चात् ये दो प्रश्न विरचित किए कि क्या ईम्पा और समन्वय समिति ने डब किए हुए धारावाहिक महाभारत के प्रसारण पर निर्बंधन अधिरोपित किए हैं/करने का प्रयत्न किया है और क्या उक्त धारावाहिक के प्रसारण पर निर्बंधन अधिरोपित करने के कृत्य और आचरण से अधिनियम के उपबंधों का अतिक्रमण होता है या नहीं? भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग ने पूर्वोक्त विवादों पर खंडित अधिमत दिया। बहुमत के अनुसार, शिकायतकर्ता दोनों विवादों को साबित करने के लिए निश्चायक साक्ष्य देने में समर्थ रहा है। बहुमत ने यह अभिनिर्धारित किया कि चैनल 10 ने धारावाहिक का प्रसारण ईम्पा तथा समन्वय समिति द्वारा उसे अपने विभिन्न पत्रों के साथ-साथ उनके द्वारा किए गए आंदोलनों और प्रदर्शन के माध्यम से दी गई प्रत्यक्ष धमकियों के परिणामस्वरूप रोक रखा था। इस रीति में, चैनल 10 और सीटीवीएन+ दोनों पर डब किए गए धारावाहिक का प्रसारण न करने का दबाव डाला गया था, हालांकि जहां तक सीटीवीएन+ चैनल का संबंध है, यह चैनल ऐसे दबाव के आगे नहीं झुका। किंतु चैनल 10 ने हार मानकर धारावाहिक का प्रसारण रोक दिया। इस रीति में, प्रथम विवाद का विनिश्चय सकारात्मक किया गया।

द्वितीय विवाद पर विचार करते हुए बहुमत के सदस्यों ने यह अभिनिर्धारित किया कि चूंकि समन्वय समिति एक उद्यम नहीं है, इसलिए धारा 4 के भंग का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। तथापि, समन्वय समिति के कार्यकलाप अधिनियम की धारा 3 की परिधि के अंतर्गत आते हैं और इस उपबंध का अतिक्रमण हुआ है, चूंकि इससे प्रतिस्पर्धा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। उसने यह स्वीकार किया कि समन्वय समिति (और इस मामले के लिए ईम्पा भी) व्यापार संघ है। इस बात के होते हुए भी, उन्हें अधिनियम के कार्यक्षेत्र से छूट प्राप्त नहीं है। भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग में न्यायिक सदस्य ने विसंगत टिप्पण प्रस्तुत किया क्योंकि वह बहुमत की राय से असहमत थे। उनके अनुसार महानिदेशक द्वारा कारित की गई प्रथम भूल यह थी कि उन्होंने सुसंगत बाजार की ठीक प्रकार से पहचान नहीं की।

उनके अनुसार, सुसंगत बाजार टी. वी. धारावाहिक का प्रसारण था न कि पश्चिमी बंगाल का फिल्म और टी. वी. उद्योग। विद्वान् सदस्य ने सुसंगत बाजार की टी. वी. धारावाहिकों के रूप में पहचान करने के पश्चात् यह राय व्यक्त की कि टी. वी. धारावाहिकों का प्रसारण या तो डायरेक्ट टू होम सर्विसेज (डीटीएच) के द्वारा होता है या केबल के माध्यम से होता है और इसलिए प्रसारण सेवा फिल्मों के उत्पादन, प्रदर्शन और वितरण बिल्कुल एक अलग बाजार है। जहां तक दो चैनलों अर्थात् सीटीवीएन+ और चैनल 10 का संबंध है, वे बाजार में डीटीएच प्रवर्ग या केबल टी. वी. प्रवर्ग के दर्शकों के लिए कार्यक्रमों के प्रसारण के लिए हैं, डब की गई फिल्मों के उत्पादन, वितरण और प्रदर्शन में नहीं है। अल्पसंख्यक मत के अनुसार, चूंकि उल्लंघन करने वाले पक्षकार अर्थात् समन्वय समिति और ईम्पा डब किए गए धारावाहिकों के प्रसारण के सुसंगत बाजार में सक्रिय नहीं हैं, इसलिए अधिनियम के उपबंधों के किसी अतिक्रमण का प्रश्न ही नहीं है। यह स्वीकार किया गया कि समन्वय समिति तथा ईम्पा ने वस्तुतः विभिन्न साधनों के माध्यम से प्रश्नगत डब किए गए टी. वी. प्रसारण न करने के लिए इन चैनलों पर दबाव डाला था। तथापि, इस दबाव को एक आर्थिक दबाव नहीं माना जा सकता है। ऐसा दबाव डालने वाला यह कृत्य व्यापार संघ का था, जो अधिनियम के अधिकार क्षेत्र से बाहर था और यह उसी सुसंगत बाजार में सक्रिय उद्यमों के बीच एक “करार” नहीं था, जिसके परिणामस्वरूप डब किए गए धारावाहिकों का प्रसारण रोकना पड़ा हो। इसके विरुद्ध केवल समन्वय समिति ने ही प्रतिस्पर्धा अपील अधिकरण के समक्ष अपील फाइल की। ईम्पा ने, अपने आचरण द्वारा, भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग के बहुमत के विनिश्चय को स्वीकार किया। इस कारण से ही अधिकरण ने ईम्पा के संबंध में विवाद्यक पर विचार नहीं किया। उसने समन्वय समिति के आधार की चर्चा की और यह पता लगाने के लिए कि क्या भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग का बहुसंख्यक मत विधि की दृष्टि में सही है, समन्वय समिति के कार्यकलापों तक सीमित रहते हुए अपना विचार-विमर्श किया। अधिकरण ने बहुसंख्यक मत को अपास्त करते हुए और अल्पसंख्यक मत को स्वीकार करते हुए अन्यथा अभिनिर्धारित किया और परिणामतः, समन्वय समिति की अपील मंजूर की। भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग ने अधिकरण के निर्णय को चुनौती देते हुए उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की। उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित — किसी प्रस्तुत मामले में सुसंगत बाजार की पहचान करते समय भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग से यह अपेक्षित है कि वह उस साक्ष्य पर

विचार करे जो उपलब्ध है और प्रस्तुत मामले के लिए सुसंगत है। भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग को सुसंगत बाजार की सीमाओं को इतनी स्पष्टता से परिभाषित करना चाहिए जितना मामले की परिस्थितियों में अपेक्षित हो। जहां समुचित हो, वहां वह अनुकल्पी बाजार परिभाषाओं के आधार पर अपना प्रतिस्पर्धा संबंधी निर्धारण कर सकता है। जहां यह स्पष्ट होता हो कि अन्वेषण किए गए आचरण से प्रतिस्पर्धा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की संभावना नहीं है और अन्वेषणाधीन उपक्रम किसी युक्तियुक्त बाजार परिभाषा के आधार पर बाजार शक्ति की पर्याप्त मात्रा धारित नहीं करता है, तो सर्वोत्तम समुचित बाजार परिभाषा का प्रश्न अभी भी विचारणार्थ रखा जा सकता है। सुसंगत बाजार, जिसके भीतर बाजार शक्ति का विश्लेषण या प्रस्तुत प्रतिस्पर्धा का निर्धारण करना होता है, उसका उत्पाद आकार और भौगोलिक आकार दोनों से सरोकार है। इस संदर्भ में, सुसंगत उत्पाद बाजार उन सभी उत्पादों से मिलकर बनता है, जो क्रेताओं द्वारा उत्पाद की विशेषताओं, मूल्य और आशयित उपयोग के कारण परस्पर विनिमय करने योग्य या प्रतिस्थापित करने योग्य समझे जाते हैं। सुसंगत भौगोलिक बाजार उन सभी अंचलों या क्षेत्रों से मिलकर बनता है जहां क्रेता प्रश्नगत उत्पादों के अनुकल्प पाने में समर्थ होंगे या पाने के इच्छुक होंगे। सुसंगत उत्पाद और किसी विशिष्ट उत्पाद के लिए भौगोलिक बाजार क्रेताओं की प्रकृति पर निर्भर करते हुए और संबंधित प्रदायकर्ताओं के परीक्षा अधीन आचरण और प्रदाय शृंखला में उनकी स्थिति द्वारा अलग-अलग हो सकता है। उदाहरण के लिए, यदि आक्षेपणीय आचरण का सरोकार थोक स्तर पर है, तो सुसंगत बाजार थोक क्रेताओं के परिप्रेक्ष्य से परिभाषित किया जाना चाहिए। दूसरी ओर, यदि सरोकार खुदरा स्तर पर आचरण की परीक्षा करने से है, तो सुसंगत बाजार को खुदरा उत्पादों के क्रेताओं के परिप्रेक्ष्य से परिभाषित किया जाना चाहिए। यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि सुसंगत बाजार को परिभाषित करने की प्रक्रिया सापेक्ष रूप से संकीर्ण संभावना वाली उत्पाद बाजार परिभाषा को विचार में रखते हुए आरंभ होती है। संभावित उत्पाद बाजार फिर उन अनुकल्पी उत्पादों को सम्मिलित करके विस्तारित हो जाता है जिन पर क्रेता प्रतिस्पर्धी मूल्य से ऊपर की मूल्य वृद्धि का विरोध करते हुए वापस आएंगे। इसी प्रकार, सुसंगत भौगोलिक बाजार को उसी साधारण प्रक्रिया का प्रयोग करके परिभाषित किया जा सकता है जो सुसंगत उत्पाद बाजार परिभाषित करने के लिए प्रयोग की जाती है। उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए, यह न्यायालय अधिकरण के निष्कर्ष से सहमत है। यह “बाजार पर नियंत्रण” की धारणा है जो बहुत

से प्रतिस्पर्धी विवादकों का विश्लेषण करने की कुंजी है। इसलिए यह समझना आवश्यक हो जाता है कि सुसंगत बाजार से क्या तात्पर्य है। यह धारणा एक आर्थिक धारणा है। प्रस्तुत मामले में, भौगोलिक बाजार पश्चिमी बंगाल राज्य है और इस सीमा तक कोई विवाद नहीं है क्योंकि समन्वय समिति के कार्यकलाप उक्त राज्य तक सीमित हैं। विवाद यह है कि क्या सुसंगत बाजार के अंतर्गत “टी. वी. धारावाहिक का प्रसारण” आता है या इसकी परिधि के अंतर्गत “पश्चिमी बंगाल राज्य का फिल्म और टी. वी. उद्योग” आता है। प्रश्नगत टी. वी. धारावाहिक हिन्दी भाषा में निर्मित किया गया था। इसे बाद में बंगला भाषा में डब किया गया। जब दो चैनलों अर्थात् सीटीवीएन+ और चैनल 10 में इस टी. वी. धारावाहिक को डब किए गए रूप में अर्थात् बंगला भाषा में प्रसारित करने का विनिश्चय किया, तो इस प्रयास का समन्वय समिति और ईम्पा द्वारा विरोध किया गया। अधिकरण ने भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग के अल्पमत को यह मत व्यक्त करते हुए कायम रखा कि इत्तिला की प्रकृति से ऐसा कुछ दर्शित नहीं होता जिससे कि वह पश्चिमी बंगाल में के संपूर्ण फिल्म और टेलीविजन उद्योग से सुभिन्न रूप से संबद्ध तक हो। इत्तिला केवल टेलीविजन पर डब किए गए धारावाहिक दिखाने के विरुद्ध है और इसका किसी फिल्म या टेलीविजन चैनलों पर की किसी सामग्री के उत्पादन, वितरण आदि से किसी प्रकार का कोई संबंध नहीं है। न्यायालय यह महसूस करता है कि अधिकरण द्वारा अपनाया गया यह संकीर्ण दृष्टिकोण है जिससे इस मामले के बहुत से अन्य महत्वपूर्ण पहलुओं की अनदेखी होती है, जिसमें सबसे महत्वपूर्ण पहलू उस उपर्युक्त हेतु के प्रभाव की व्यापकता है जिसको लेकर समन्वय समिति द्वारा आंदोलन किया गया था। यह प्रभाव टेलीविजन धारावाहिक के प्रसारण तक सीमित नहीं है। निस्संदेह, समन्वय समिति टेलीविजन धारावाहिक महाभारत का डब किए गए रूप में उपर्युक्त दो चैनलों पर प्रसारण करने के विरुद्ध थी। तथापि, आंदोलनकारियों का यह भी कहना था कि उक्त प्रसारण से पश्चिमी बंगाल का टी. वी. और फिल्म उद्योग प्रतिकूल रूप से प्रभावित होगा और धमकियों के पीछे का अभिकथित तात्पर्य संपूर्ण टी. वी. और फिल्म उद्योग को बचाना था। इसलिए सुसंगत बाजार चैनल के प्रसारण तक सीमित नहीं है अपितु संपूर्ण फिल्म और टेलीविजन उद्योग सुसंगत बाजार है। समन्वय समिति की चाहे यह शंका ही थी या वास्तविक चिंता कि “महाभारत” के डब किए गए रूपांतर के प्रसारण से बंगाली फिल्म और टेलीविजन उद्योग पर प्रभाव पड़ेगा, “सुसंगत बाजार” परिभाषित करते समय यह सुसंगत पहलू नहीं है।

उपर्युक्त कार्रवाई का यही वह क्षेत्र है जिस पर विचार किया जाना चाहिए। समन्वय समिति की भी यही अनुभूति थी कि “महाभारत” के बंगाली भाषा में डब किए गए रूपांतर के प्रसारण से संपूर्ण टेलीविजन और फिल्म उद्योग पर प्रभाव पड़ रहा है। इसको दृष्टिगत करते हुए, मुश्किल से यह बहस का विषय है कि सुसंगत बाजार क्या होगा। प्रारंभ में यह उल्लेख किया जा सकता है कि जो इकाइयां इसमें शामिल हैं और जिनके करार उल्लंघनकारी हो सकते हैं वे हैं – उद्यम या उद्यमों का संगम, या व्यक्ति या व्यक्तियों का संगम या जहां करार किसी व्यक्ति और उद्यम के बीच है। “उद्यम” अभिव्यक्ति किसी भी इकाई को, उसकी विधिक प्रास्थिति या उस तरीके को विचार में लाए बिना जिसमें यह वित्त पोषित की जाती है, कहा जा सकता है और इसलिए इसमें प्राकृतिक तथा विधिक व्यक्ति सम्मिलित हो सकते हैं। इस कथन की पुष्टि इस बात से भी होती है क्योंकि किसी “व्यक्ति” या “व्यक्तियों के संगम” द्वारा किए गए करार भी इसमें सम्मिलित हैं और जब इसे अधिनियम की धारा 2(ठ) में वर्णित “व्यक्ति” की परिभाषा के साथ पढ़ा जाए तो यह बात स्पष्ट हो जाती है। इसी तरह, धारा 2(ख) के अधीन “करार” की परिभाषा भी अति व्यापक रूप से दी गई है। यह परिभाषा न केवल समावेशी है, क्योंकि इसमें दिए गए “सम्मिलित है” शब्द से यह इंगित होता है कि यह परिभाषा निःशेष नहीं है; अपितु किसी ठहराव या समझौते या मिलकर की गई कार्रवाई को भी “करार” कहा गया है। चाहे ऐसा ठहराव या समझौता औपचारिक हो या अनौपचारिक और ऐसा ठहराव या समझौता मौखिक भी हो सकता है और यह आवश्यक नहीं है कि इन्हें लेखबद्ध किया गया हो या चाहे यह समझौता या ठहराव विधिक कार्यवाहियों द्वारा प्रवर्तनीय है या नहीं। इसलिए समन्वय समिति “व्यक्ति” की परिभाषा के अंतर्गत आएगी। तथापि, आवश्यक यह है कि अधिनियम की धारा 3 में निर्दिष्ट ऐसा करार किसी ऐसे आर्थिक कार्यकलाप से संबंधित होना चाहिए जो प्रतिस्पर्धा आयोग की धारणा के केन्द्रगत हो। आर्थिक कार्यकलाप, जैसा कि साधारण तौर पर समझा जाता है, किसी भी ऐसे कार्यकलाप को कहा जाता है जो बाजार में उत्पादों की प्रस्थापना करता हो, चाहे ऐसे कार्यकलाप का आशय लाभ अर्जित करना है या नहीं। कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं जो अधिनियम की धारा 3(3) के अंतर्गत नहीं आते हैं। अंतिम उपभोक्ता के रूप में कार्य करने वाली व्यक्ति उद्यम नहीं है, क्योंकि वह आर्थिक कार्यकलाप नहीं कर रहा होता है। न्यायालय यह भी उल्लेख कर सकता है कि यूरोपियन संघ की प्रतिस्पर्धा विधि इस बात को मान्यता

देती है कि कोई इकाई जो ऐसा कार्यकलाप कर रही है जिसका कार्य अनन्य रूप से सामाजिक है और एकात्मता के सिद्धांत पर आधारित है, उसे धारा 3 में प्रयुक्त अभिव्यक्तियों को विशेषित करने के लिए संभवतः आर्थिक कार्यकलाप करने वाली नहीं समझा जाना चाहिए। कारण स्पष्ट है। “करार” या “परस्पर सहमति की पद्धति” वह साधन है जिसके माध्यम से उद्यम या उद्यमों का संगम अथवा व्यक्ति या व्यक्तियों का संगम प्रतिस्पर्धा को निर्बंधित करते हैं। इन धारणाओं से प्रतिस्पर्धा विधि के आर्थिक प्रचालकों द्वारा अपनी वाणिज्यिक नीति का स्वतंत्रतापूर्वक अवधारण करने का उद्देश्य परिवर्तित हो जाता है। प्रतिस्पर्धा विधि का उद्देश्य उन उपक्रमों (चाहे प्राकृतिक व्यक्ति हो या विधिक इकाईयां) के कार्यकलापों को रोकना है जो अपने आर्थिक कार्यकलाप करते समय ऐसे व्यवहार में अंतर्ग्रस्त पाए जाते हैं जिससे प्रतिस्पर्धा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है या अपनी प्रधान स्थिति का फायदा उठाते हों। (पैरा 32, 33, 34, 36, 37 और 40)

प्रस्तुत मामले में, स्वीकृततः, समन्वय समिति, जो अधिनियम की धारा 2(ठ) में अंतर्विष्ट परिभाषा के अनुसार एक “व्यक्ति” हो सकती है, स्वयमेव कोई आर्थिक कार्यकलाप नहीं कर रही है। इसलिए यदि ऐसे “व्यक्ति” अर्थात् समन्वय समिति के “करार” का अवलोकन करें तो यह अधिनियम की धारा 3(1) के अंतर्गत नहीं आ सकेगा क्योंकि यह करार माल के किसी उत्पादन, प्रदाय, वितरण, भण्डारण, अर्जन या नियंत्रण या सेवाओं की व्यवस्था के बारे में नहीं है। समन्वय समिति, जो स्वयमेव और किसी अन्य के संयोजन के बिना कार्य करने वाला एक व्यापार संघ है, धारा 3 में वर्णित “उद्यम” या “व्यक्तियों के संगम” के प्रकार का नहीं समझा जाएगा। व्यापार संघ अपने सदस्यों की ओर से सामूहिक सौदाकारी के लिए कार्य करता है और आर्थिक कार्यकलाप में नहीं लगाता है। ऐसी परिस्थितियों में, यदि समन्वय समिति ने केवल व्यापार संघवादियों के रूप में कार्य किया होता तो बात अलग रही होती। तब, शायद, अधिकरण द्वारा अपनाए गए मत को कायम रखा जा सकता। तथापि, अधिकरण द्वारा जिस बात को समझने में अर्थात् व्यापार संघ के कार्यकलाप के उपर्युक्त सिद्धांत को लागू करने में चूक हुई, वह एक अति आवश्यक और महत्वपूर्ण तथ्य है, जिस पर महानिदेशक द्वारा तथा भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग द्वारा अपनी बहुमत की राय में ध्यान दिया गया था और वह तथ्य यह है कि समन्वय समिति (या इस मामले के ईम्पा भी) वास्तव में उद्यमों का संगम (संघटक सदस्य) है और इसके सदस्य फिल्मों के निर्माण, वितरण और प्रदर्शन के काम में

लगे हैं। ईम्पा फिल्म निर्माताओं, वितरकों और प्रदर्शकों का एक संगम है जो मुख्य रूप से पश्चिमी बंगाल में क्रियाशील है। इसी तरह, समन्वय समिति फेडरेशन आफ सीनियर तकनीशियन एंड वर्कर्स आफ ईस्टर्न इंडिया तथा वेस्ट बंगाल पिक्चर्स आर्टिस्ट्स फोरम का संयुक्त मंच है। ईम्पा तथा समन्वय समिति दोनों मिलकर और समन्वित रीति में कार्य करते हैं। वे प्रतिस्पर्धी सदस्यों अर्थात् प्रस्तुत मामले में इतिहासकारों के बहिष्कार का आह्वान करने में एक साथ मिल गए थे और इसलिए समन्वय समिति को, इस तथ्य की उपेक्षा करते हुए कि यह उनके हेतुक का समर्थन कर रही है जो कि एक उद्यम है, एक व्यापार संघ के रूप में मानते हुए मामले पर संकीर्णता से विचार नहीं किया जा सकता है। इन निकायों के संघटक सदस्य उन सदस्यों की ओर से उत्पादन या वितरण या प्रदर्शन से संबंधित विनिश्चय करते हैं जो फिल्मों के उत्पादन, वितरण या प्रदर्शन के समरूप या तद्रूप कारबार में लगे हैं। इन दोनों निकायों के विनिश्चय में सदस्यों का सामूहिक आशय प्रतिबिम्बित होता है। जब कुछ सदस्य उत्पादन, वितरण या प्रदर्शन के कार्यक्षेत्र में लगे हुए पाए गए हैं, तो मामले को मात्र व्यापार संघवाद का बहाना करके उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए थी। इस कारण से, अनुच्छेद 19 के अधीन व्यापार संघ के अधिकार के आधार पर दिया गया तर्क, जैसा कि समन्वय समिति द्वारा दावा किया गया है, भी व्यवहार्य नहीं है। जब तार्किक प्रक्रिया के लेंसों को समंजित करके सम्यक् रूप से तस्वीर को देखते हैं, तो तस्वीर साफ हो जाती है और धुंधलापन गायब हो जाता है। कोई भी स्पष्ट तौर पर यह कह सकता है कि टेलीविजन पर डब किए गए धारावाहिक के प्रदर्शन करने पर प्रतिषेध से प्रतिस्पर्धी पक्षकारों को अपने वाणिज्यिक कार्यक्रमों को अग्रसर करने में रुकावट पैदा हुई है। अतः भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग ने ठीक ही यह मत व्यक्त किया है कि भाषा के नाम पर संरक्षा प्रतिस्पर्धा के हित के विरुद्ध जाती है और उपभोक्ता अपनी पसंद का उपयोग करने से वंचित होते हैं। समन्वय समिति के कृत्यों से निश्चित रूप से उपभोक्ताओं को उन्हें टी. वी. चैनल पर डब किए गए धारावाहिक देखने से वंचित करके अपहानि कारित हुई, भले ही संक्षिप्त अवधि के लिए। उसने पश्चिमी बंगाल राज्य में टी. वी. चैनलों पर डब किए गए धारावाहिकों के प्रदर्शन को वर्जित करके बाजार में प्रतिस्पर्धा को भी बाधित किया है। यह कृत्य उक्त डब किए गए टी. वी. धारावाहिक में नए विषय के प्रवेश में बाधा उत्पन्न करने की कोटि में आता है। ऐसे कृत्य और आचरण से बंगला में डब किए गए धारावाहिक का प्रदाय सीमित हुआ, जो अधिनियम की धारा 3(3)(ख) के उपबंध के अतिक्रमण की कोटि में आता है। (पैरा 41 और 42)

अपीली (सिविल)अधिकारिता : 2014 की सिविल अपील सं. 6691.

2012 की अपील सं. 131 में प्रतिस्पर्धा अपील अधिकरण के तारीख 3 अप्रैल, 2014 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री ए. एस. चंदीओक, ज्येष्ठ अधिवक्ता, कनन सिंह चंदीओक, रितेश कुमार, (सुश्री) मोनिका त्यागी, (सुश्री) सृष्टि कौल, विक्रम सोबती और अवधेश बी.

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री अविजित भट्टाचारजी, (सुश्री) उपमा श्रीवास्तव, मनोज घोष, एस. के. अग्रवाल, ए. पी. सिन्हा, एम. के. तिवारी और सुधांशु पालो

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति ए. के. सीकरी ने दिया ।

न्या. सीकरी — इस अपील में प्रतिस्पर्धा अधिनियम, 2002 (जिसे इसमें इसके पश्चात् “अधिनियम” कहा गया है) की धारा 3 के अधीन भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग की अधिकारिता की व्याप्ति और परिधि से संबंधित विधि का एक रोचक और महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया गया है । इससे पूर्व कि हम विवादक की उन बारीकियों का उल्लेख करें जो विचार के लिए उद्भूत हुई हैं, तथ्यों की उस पृष्ठभूमि का अवलोकन करना उपयुक्त होगा जिनके अधीन इस विवादक का अवधारण करने की आवश्यकता है, क्योंकि तथ्यात्मक चर्चा से वह स्थिति स्पष्ट होगी जिसमें पक्षकारों के बीच विवाद पैदा हुआ । इस अपील में प्रत्यर्थी सं. 2 श्री सज्जन कुमार खेतान मैसर्स हार्ट वीडियो का स्वत्वधारी है और उसका स्थापन कोलकाता में है । वह वीडियो छायांकित टेलीविजन धारावाहिकों के वितरण और पूर्वी भारत के राज्यों में, जिसमें पश्चिमी बंगाल राज्य भी है, क्षेत्रीय धारावाहिकों के प्रसारण के कारबार में लगा है । मैसर्स बीआरटीवी, मुम्बई, जो कि टी. वी. धारावाहिकों का निर्माता है, ने महाभारत नामक धारावाहिक निर्मित किया था जिसका मूल रूपांतर हिन्दी में था । उक्त बीआरटीवी ने उक्त धारावाहिक महाभारत के हिन्दी रूपांतर को बंगला भाषा में डब करने के एकमात्र और अनन्य अधिकारों के अतिरिक्त इसके सेटेलाइट, पे टी. वी., डीटीएच, आईपीटीवी, वीडियो, केबल टी. वी. के समुपयोजन करने के अधिकार तथा इंटरनेट अधिकार सितंबर, 2016 तक मैसर्स मैग्नम टी. वी. सीरियल्स को सौंपे । मैग्नम टी. वी. ने आगे हार्ट वीडियो को उक्त

धारावाहिक महाभारत का बंगला भाषा में डब करने के लिए उप-समनुदेशक के रूप में नियुक्त किया और उसने इसे डब किया। उसके पश्चात् उक्त डब किए गए धारावाहिक का प्रसारण करने के प्रयोजनों के लिए मैसर्स बंगाल मीडिया प्राइवेट लिमिटेड, कोलकाता, जो कि “चैनल 10” स्वामी है तथा मैसर्स कलकत्ता टेलीविजन नेटवर्क प्राइवेट लिमिटेड, कोलकाता, जो कि सीटीवीएन+ चैनल का स्वामी है, के साथ प्रसारण के निश्चित समय के लिए राजस्व हिस्सेदारी के आधार पर, एक करार निष्पादित किया। इन दोनों चैनलों को तारीख 2 फरवरी, 2011 और 12 फरवरी, 2011 को धारावाहिक के चार एपीसोड की हार्ड डिस्क दी गई। तारीख 19 फरवरी, 2011 के दैनिक समाचारपत्र में जन-साधारण को यह सूचित करते हुए एक विज्ञापन दिया गया कि चैनल 10 पर प्रत्येक रविवार प्रातः 10.00 बजे और सीटीवीएन+ पर रात्रि 10.00 बजे धारावाहिक “महाभारत” बंगला में प्रसारित किया जाएगा।

2. पूर्वोत्तर भारत में कतिपय निर्माताओं ने ईस्टर्न इंडिया मोशन पिक्चर एसोसिएशन (जिसे इसमें आगे संक्षेप में “ईम्पा” कहा गया है) नामक एक संगम बनाया है। इसी तरह, पश्चिमी बंगाल में फिल्म और टेलीविजन उद्योग के कलाकारों और तकनीशियनों ने पश्चिमी बंगाल फिल्म और टेलीविजन कलाकारों और तकनीशियनों के विनिधानकर्ताओं की समिति (जिसे इसमें इसके पश्चात् “समन्वय समिति” कहा गया है) के रूप में ज्ञात एक संगम बनाया है।

3. मूल रूप से हिन्दी भाषा में निर्मित धारावाहिक महाभारत को बंगला में डब करके इसका उक्त भाषा में प्रसारण ईम्पा और समन्वय समिति को स्वीकार्य नहीं था। उनके विचार में, अन्य भाषाओं में धारावाहिकों को निर्मित करके और उन्हें बंगला में डब करने के पश्चात् टी.वी. चैनलों पर दिखाने से इस मूल स्थान के निर्माताओं पर प्रभाव पड़ेगा और इससे पश्चिमी बंगाल में कार्यरत कलाकारों और तकनीशियनों पर भी प्रतिकूल रूप से प्रभाव पड़ेगा। आशंका यह थी कि अन्य भाषाओं में निर्मित धारावाहिकों के प्रवेश और जनता को उनकी भाषा में इन्हें डब करके दिखाने से बंगला में ऐसे धारावाहिकों के निर्माण को भयोपरत कर सकता है। इस कारण से सीटीवीएन+ चैनल को तारीख 18 फरवरी 2011 को समन्वय समिति से डब किए हुए धारावाहिक “महाभारत” के प्रसारण को रोकने के लिए एक पत्र प्राप्त हुआ। तारीख 10 मार्च, 2011 को ईम्पा द्वारा इसी आशय का पत्र सीटीवीएन+ को लिखा गया। समन्वय समिति द्वारा इस चैनल से भी उसी प्रकार की मांग की गई। इस पत्र में यह

उल्लेख किया गया कि पश्चिमी बंगाल में फिल्म और टेलीविजन के लाभप्रद विकास के हित में ऐसा कदम उठाने की आवश्यकता है। यह भी अभिकथन किया गया कि उक्त अंचल में पिछले तेरह वर्षों से यह कनवेंशन और परिपाटी अपनाई गई है कि अन्य भाषा से बंगला में कोई कार्यक्रम डब न किया जाए और उन्हें पश्चिमी बंगाल में प्रसारित न किया जाए। सीटीवीएन+ चैनल 10 को यह धमकी भी दी गई कि यदि प्रसारण न रोका गया तो उनके चैनलों को इन दोनों निकायों अर्थात् ईम्पा और समन्वय समिति से असहयोग का सामना करना पड़ेगा।

4. जब मैसर्स हार्ट वीडियो के स्वत्वधारी, श्री सज्जन खेतान को उपर्युक्त गतिविधियों और सीटीवीएन+ तथा चैनल 10 को मिली धमकी का पता चला और यह पाया कि ये दोनों टेलीविजन चैनल विवश होकर उन दबावों के आगे झुक रहे हैं, तो उसने भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग को पूर्वोक्त ब्यौरे के बारे में सूचित किया और उसे मामले में कार्रवाई करने का अनुरोध किया, क्योंकि उसके अनुसार, ईम्पा तथा समन्वय समिति के उपर्युक्त कृत्यों से अधिनियम के उपबंधों का उल्लंघन होता है। भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग से इस अंतरिम अनुतोष की भी ईप्सा की गई कि सीटीवीएन+ तथा चैनल 10 को निदेश दिया जाए कि वे ईम्पा और समन्वय समिति की धमकियों के आगे न झुकें और धारावाहिक का प्रसारण, जो तारीख 17 अप्रैल, 2011 को बंद कर दिया गया था, पुनः आरंभ किया जाए। इसके पश्चात् इसमें प्रत्यर्थी सं. 2 को इत्तिलाकर्ता के रूप में वर्णित किया जाएगा।

5. भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग ने इत्तिलाकर्ता से उपर्युक्त इत्तिला प्राप्त होने के पश्चात् प्रथमदृष्ट्या यह राय बनाई कि ईम्पा और समन्वय समिति के कृत्य प्रतिस्पर्धा-रोधी हैं। तदनुसार, अधिनियम में विहित प्रक्रिया के अनुसार मामला विस्तृत अन्वेषण के लिए महानिदेशक को सौंपा गया। अन्वेषण करने पर महानिदेशक ने यह पाया कि इत्तिलाकर्ता द्वारा भेजी गई इत्तिला में अंतर्विष्ट ब्यौरे तथ्यात्मक रूप से सही हैं। इस आधार पर उसने अधिनियम के उपबंधों के संदर्भ में मामले की परीक्षा की।

6. महानिदेशक द्वारा जिम्मा लिए गए और पूर्ण किए गए कार्य को स्पष्टता से समझने के लिए हम इस प्रक्रम पर अधिनियम के कुछ सुसंगत उपबंधों को निर्दिष्ट करना उचित समझते हैं। अधिनियम का अध्याय 2 कतिपय करारों, प्रधान स्थिति के दुरुपयोग के प्रतिषेध और समुच्चयों के विनियमन के संबंध में है। इस अध्याय में धाराएं 3 से 6 हैं। धारा 3

प्रतिस्पर्धा-रोधी करार के संबंध में है और धारा 4 में प्रधान स्थिति के दुरुपयोग को प्रतिषिद्ध किया गया है। दूसरी ओर, धारा 5 उन अर्जनों और विलयनों पर दृष्टि रखती है जिनमें प्रतिस्पर्धा रोधी बनने या प्रधान स्थिति प्राप्त करने की संभावना के साथ-साथ उक्त अर्जनों और विलयनों को नियंत्रित करने के लिए उक्त स्थिति का दुरुपयोग करने का खतरा है। धारा 6 उन समामेलनों को नियंत्रित करने के लिए भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग को सशक्त करती है जो धारा 5 में अनुबंधित हैं। इस प्रकार, यह अध्याय ऐसे तीन प्रकार के व्यवहारों के संबंध में है जो प्रतिस्पर्धा-रोधी हो सकते हैं, अर्थात् ऐसे करार जो प्रतिस्पर्धा-रोधी बन सकते हैं, उन उद्यमों और समूहों द्वारा प्रधान स्थिति का दुरुपयोग, जो अधिनियम में यथा-परिभाषित ऐसी प्रधान स्थिति का उपभोग करते हैं, और विलयनों और समामेलनों के द्वारा उद्यमों के समुच्चय को विनियमित करना ताकि वे प्रतिस्पर्धा-रोधी न बन सकें या वे जो प्रधान स्थिति प्राप्त करते हैं उसका दुरुपयोग न कर सकें।

7. अतः, इस अध्याय की स्कीम ऐसे व्यापार व्यवहारों, जिनसे भारत के भीतर बाजारों में प्रतिस्पर्धा पर काफी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो, को प्रतिषिद्ध करके उचित प्रतिस्पर्धा को सुनिश्चित करने के लिए है। प्रतिस्पर्धा के नकारात्मक पहलुओं को रोकने का यह कार्य भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग को सौंपा गया है। प्रस्तुत मामले में, चूंकि हमारा सरोकार इस विवादक से है कि क्या ईम्पा और/या समन्वय समिति ने किसी प्रतिस्पर्धा-रोधी करार का आश्रय लिया है या नहीं, इसके लिए यह समुचित होगा कि अधिनियम की धारा 3 और उन अन्य उपबंधों का पर्यवलोकन किया जाए जो इससे संबंधित हैं। धारा 3 निम्नलिखित है :-

“3. प्रतिस्पर्धारोधी करार - (1) कोई उद्यम या उद्यमों का संगम या व्यक्ति या व्यक्तियों का संगम, ऐसे माल के उत्पादन, प्रदाय, वितरण, भण्डारण, अर्जन या नियंत्रण या सेवाओं की व्यवस्था के संबंध में कोई ऐसा करार जिसमें भारत के भीतर प्रतिस्पर्धा पर काफी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो या पड़ने की संभावना हो।

(2) उपधारा (1) में अंतर्विष्ट उपबंधों के उल्लंघन में किया गया कोई करार शून्य होगा।

(3) ऐसे उद्यमों या उद्यमों के संगमों या व्यक्तियों अथवा व्यक्तियों के संगमों के बीच या किसी व्यक्ति या उद्यम के बीच

किया गया कोई ऐसा करार या किन्हीं उद्यमों के संगम या व्यक्तियों के संगम, जिसमें उत्पादक-संघ भी है, जो तद्रूप या समरूप माल के व्यापार या सेवाओं की व्यवस्था में लगे हुए हैं, द्वारा किया गया कोई ऐसा व्यवहार या विनिश्चय, जो —

(क) प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः क्रय या विक्रय की कीमतों को अवधारित करता है;

(ख) उत्पादन, प्रदाय, बाजार, तकनीकी विकास, विनिधान या सेवाओं की व्यवस्था को परिसीमित या नियंत्रित करता है;

(ग) बाजार का भौगोलिक क्षेत्र या माल सेवाओं का प्रकार या बाजार में ग्राहकों की संख्या या इसी प्रकार से अन्य आबंटन द्वारा बाजार या उत्पादन स्रोतों या सेवा की व्यवस्था में हिस्सेदारी करता है;

(घ) प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः जिसका परिणाम बोली में धांधली करना या बोली में दुरभिसंधि करना है, तो यह उपधारणा की जाएगी कि इसका प्रतिस्पर्धा पर काफी प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा :

परंतु इस उपधारा की कोई बात संयुक्त उद्यमों के रूप में किए गए किसी करार को लागू नहीं होगी यदि ऐसे करार से किसी माल के उत्पादन, प्रदाय, वितरण, भण्डारण, अर्जन या नियंत्रण या सेवाओं के प्रदान करने की दक्षता में वृद्धि होती है ।

स्पष्टीकरण — इस उपधारा के प्रयोजनों के लिए “बोली में भाव बढ़ाना” से उपधारा (3) में निर्दिष्ट ऐसे उद्यमों या व्यक्तियों के, जो तद्रूप या समरूप माल के उत्पादन या व्यापार में या सेवाओं की व्यवस्था में लगे हुए हैं, बीच ऐसा कोई करार अभिप्रेत है जिनका प्रभाव बोली के लिए प्रतिस्पर्धा को समाप्त करना या कम करना या बोली लगाने की प्रक्रिया पर प्रतिकूल प्रभाव डालना या उसे प्रभावित करना हो ।

(4) माल के उत्पादन, प्रदाय, वितरण, भण्डारण, विक्रय या कीमत के या उसके व्यवसाय के या सेवाओं की व्यवस्था के संबंध में, विभिन्न बाजारों में उत्पादन शृंखला के विभिन्न प्रक्रमों या स्तरों पर उद्यमों या व्यक्तियों के बीच कोई करार, जिसके अंतर्गत, —

- (क) इंतजाम करने में सहबद्धता;
- (ख) अनन्य प्रदाय करार;
- (ग) अनन्य वितरण करार;
- (घ) संव्यवहार करने से इंकार;
- (ङ) पुनः विक्रय कीमत का अनुस्क्षण;

भी है, उपधारा (1) के उल्लंघन में करार तब होगा जब ऐसे करार में प्रतिस्पर्धा पर काफी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो या पड़ने की संभावना हो ।

स्पष्टीकरण — इस उपधारा के प्रयोजनों के लिए —

(क) इंतजाम करने में सहबद्धता के अंतर्गत कोई ऐसा करार भी है, जिसमें माल के किसी क्रेता से, ऐसे क्रय की शर्त के रूप में, कोई अन्य माल क्रय करने की अपेक्षा की गई हो;

(ख) 'अनन्य प्रदाय करार' के अंतर्गत कोई ऐसा करार है जो किसी अन्य रीति से क्रेता को, उसके व्यापार के अनुक्रम में, विक्रेता या किसी अन्य व्यक्ति के माल से भिन्न किसी माल का अर्जन करने या उसके साथ अन्यथा संव्यवहार करने से निर्बन्धित करता हो;

(ग) अनन्य वितरण करार के अंतर्गत, कोई ऐसा भी है, जो किसी माल के उत्पादन या प्रदाय को सीमित, निर्बन्धित या रोकने के लिए या माल के व्ययन अथवा विक्रय के लिए किसी क्षेत्र या बाजार का आबंटन करने के लिए हो;

(घ) संव्यवहार करने से इंकार के अंतर्गत कोई ऐसा करार भी है, जिसमें ऐसे व्यक्तियों या व्यक्तियों के वर्ग को, जिन्हें माल का विक्रय किया जाता है या जिनसे माल क्रय किया जाता है, किसी ढंग से निर्बन्धित किया जाता है या निर्बन्धित करना संभाव्य हो;

(ङ) पुनः विक्रय की कीमत का अनुस्क्षण के अंतर्गत इस शर्त पर माल विक्रय करने का कोई करार भी है कि पुनः विक्रय पर क्रेता से प्रभारित की जाने वाली कीमत विक्रेता द्वारा अनुबद्ध कीमत होगी, जब तक कि स्पष्ट रूप से यह कथित न किया गया हो कि उन

कीमतों से कम कीमत प्रभाषित की जा सकेगी ।

(5) इस धारा की कोई बात, -

(i) किसी व्यक्ति के किसी अतिलंघन को, जो हुआ है या हो सकता है, अवरुद्ध करने या ऐसी युक्तियुक्त शर्तें अधिरोपित करने के जो, -

(क) प्रतिलिप्यधिकार अधिनियम, 1957 (1957 का 14);

(ख) पेटेन्ट अधिनियम, 1970 (1970 का 39) ;

(ग) व्यापार और पण्य वस्तु चिह्न अधिनियम, 1958 (1958 का 43) या व्यापार चिह्न अधिनियम, 1999 (1999 का 48) ;

(घ) डिजाइन अधिनियम, 2000 (2000 का 16);

(च) अर्धचालक एकीकृत परिपथ अभिन्यास डिजाइन अधिनियम, 2000 (2000 का 37) के अधीन प्रदत्त किसी अपने अधिकार के संरक्षण के लिए आवश्यक हो, अधिकार को;

(ii) भारत से माल निर्यात करने के लिए किसी भी व्यक्ति के अधिकार को, उस सीमा तक जहां तक करार ऐसे निर्यात के लिए माल के उत्पादन, प्रदाय, वितरण या नियंत्रण या सेवाओं की व्यवस्था करने से अनन्य रूप से संबंधित है, निर्बंधित नहीं करेगी ।

8. जैसा कि उपर्युक्त उपबंध के पठन मात्र से देखा जा सकता है, धारा 3 की उपधारा (1) उद्यम या उद्यमों के संगम या व्यक्ति या व्यक्तियों के संगम पर ऐसे माल के उत्पादन, प्रदाय, वितरण, भण्डारण, अर्जन या नियंत्रण या सेवाओं की व्यवस्था के संबंध में कोई ऐसा करार करने पर रोक लगाती है जिससे भारत के भीतर प्रतिस्पर्धा पर काफी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो या पड़ने की संभावना हो । इस प्रकार, वितरण या सेवाओं की व्यवस्था के संबंध में किए गए ऐसे करार उपधारा (2) के फलस्वरूप प्रतिषिद्ध हैं और शून्य समझे जाएंगे, यदि इनसे प्रतिस्पर्धा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो । उपधारा (3), जिससे हमारा सीधा सरोकार है, ऐसे चार

प्रकार के करार अनुबंधित करती है जिनसे यह उपधारणा की जाएगी कि प्रतिस्पर्धा पर काफी प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इसलिए यदि कोई विशिष्ट करार उक्त प्रवर्गों में से किसी के अंतर्गत आता है, तो उसे स्वतः प्रतिस्पर्धा कर काफी सीमा तक प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला समझा जाता है और उपधारा (1) की शिष्टि के अंतर्गत आता है। किसी और वास्तविक सबूत की आवश्यकता नहीं होगी कि ऐसे करार से प्रतिस्पर्धा पर काफी प्रभाव पड़ा है या नहीं। तथापि, इस धारा के परंतुक में कतिपय प्रकार के करारों को छूट दी गई है, जिसका यह अर्थ है कि यदि कोई विशिष्ट मामला इस परंतुक के अंतर्गत आता है, तो ऐसी कोई उपधारणा लागू नहीं होगी।

9. हमने उन पत्रों की अंतर्वस्तुओं को पहले ही संक्षेप में वर्णित किया है, जो ईम्या और समन्वय समिति द्वारा चैनल 10 और सीटीवीएन+ को लिखे गए थे। महानिदेशक को यह अन्वेषण करना था कि क्या यह करार अधिनियम की धारा 3(3)(ख) की परिधि के अंतर्गत आता है या नहीं; अर्थात् क्या यह उत्पादन, प्रदाय, बाजार, तकनीकी, विकास, विनिधान या सेवाओं की व्यवस्था को परिसीमित या नियंत्रित करता है या नहीं।

10. धारा (2)(ख) में करार को परिभाषित किया है, जो कि निम्न प्रकार से है :-

“(2) (ख) में ‘करार’ के अंतर्गत, कोई ठहराव या समझौता या कार्रवाई सम्मिलित है, -

(i) चाहे ऐसा ठहराव, समझौता या कार्रवाई औपचारिक या लिखित में हों, या न हो; अथवा

(ii) चाहे ऐसा ठहराव, समझौता या कार्रवाई विधिक कार्यवाहियों द्वारा प्रवर्तन के लिए आशयित हो या न हो;

11. कतिपय अन्य अभिव्यक्तियों और पदों की परिभाषाएं, लिंगद्वय उल्लेख किए जाने की आवश्यकता है, निम्नलिखित हैं :-

2. (ठ) ‘व्यक्ति’ के अंतर्गत निम्नलिखित हैं -

(i) कोई व्यक्ति;

(ii) कोई हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब;

(iii) कोई कंपनी;

(iv) कोई फर्म ;

(v) भारत में या भारत से बाहर, व्यक्तियों का कोई संगम या व्यष्टियों का कोई निकाय, चाहे निगमित हो या न हो ;

(vi) किसी केन्द्रीय, राज्य या प्रान्तीय अधिनियम द्वारा या उसके अधीन स्थापित कोई निगम या कंपनी अधिनियम, 1956 (1956 का 1) की धारा 617 में यथापरिभाषित कोई सरकारी कंपनी ;

(vii) भारत से बाहर किसी देश की विधियों द्वारा उनके अधीन निगमित कोई निगमित निकाय ;

(viii) सहकारी सोसाइटियों से संबंधित किसी विधि के अधीन रजिस्ट्रीकृत कोई सहकारी सोसाइटी ;

(ix) कोई स्थानीय प्राधिकरण ;

(x) प्रत्येक कृत्रिम विधिक व्यक्ति जो पूर्ववर्ती उपखंडों में से किसी के अधीन न आता हो ;

* * * * *

2 (ड) 'पद्धति' के अंतर्गत किसी व्यक्ति या किसी उद्यम द्वारा किए जाने वाले किसी व्यापार के संबंध में कोई पद्धति है ;

* * * * *

2 (द) 'सुसंगत बाजार' बाजार से ऐसा बाजार अभिप्रेत है जिसका अवधारण आयोग द्वारा सुसंगत उत्पाद बाजार या सुसंगत भौगोलिक बाजार के प्रतिनिर्देश से या दोनों बाजारों के प्रतिनिर्देश से किया जाए ;

2 (ध) 'सुसंगत भौगोलिक बाजार' से ऐसा बाजार अभिप्रेत है जिसमें ऐसा क्षेत्र समाविष्ट है जिसमें माल के प्रदाय या सेवाओं के व्यवस्था या माल या सेवाओं की मांग के लिए प्रतिस्पर्धा की स्थितियां सुस्पष्ट रूप से समान हैं और उन्हें पड़ोसी क्षेत्रों में व्याप्त स्थितियों से सुभिन्न किया जा सकता है ;

2 (न) 'सुसंगत उत्पाद बाजार' से ऐसा बाजार अभिप्रेत है जो ऐसे सभी उत्पादों या सेवाओं से मिलकर बना है जो उत्पादों और सेवाओं की विशिष्टताओं, उनकी कीमत और आशयित उपयोग के

कारण उपभोक्ता द्वारा अन्तर्निमेय या प्रतिस्थापनीय मानी जाती है ;

2 (प) 'सेवा' से किसी वर्णन की ऐसी दवा अभिप्रेत है जो संभावित उपयोक्ताओं को उपलब्ध कराई जाती है और इसके अन्तर्गत कोई औद्योगिक या वाणिज्यिक विषय, जैसे बैंककारी, संचार, शिक्षा, वित्तपोषण, बीमा, चिट फंड, स्थावर संपदा, परिवहन, भंडारण सामग्री, उपचार प्रसंस्करण, विद्युत या अन्य उर्जा का प्रदाय, बोर्डिंग, निवास, मनोरंजन, आमोद, सन्निर्माण, मरम्मत, समाचार या सूचना का प्रसार और विज्ञापन के कारबार से संबंधित सेवाओं की व्यवस्था भी है ;

* * * * *

2 (भ) 'व्यापार' से माल के उत्पादन, प्रदाय, वितरण, भंडारण या नियंत्रण से संबंधित कोई व्यापार कारबार, उद्योग, वृत्ति या उपजीविका अभिप्रेत है और इसके अंतर्गत किसी सेवा की व्यवस्था भी है ;”

12. इस प्रक्रम पर हम अधिनियम की धारा 19 को निर्दिष्ट करना चाहेंगे, जिसमें भारत के प्रतिस्पर्धा 'आयोग को कतिपय प्रकार के करारों और उद्यम की प्रधान स्थिति की जांच करने के लिए अनुज्ञात किया गया है । धारा 19 की उपधारा (1) में आयोग को धारा 3 की उपधारा (1) (अर्थात् प्रतिस्पर्धा-रोधी करारों) या धारा 4 की उपधारा (1) (अर्थात् प्रधान स्थिति का दुरुपयोग) में अंतर्विष्ट उपबंधों के अभिकथित उल्लंघन की जांच करने के लिए सशक्त किया गया है । उपधारा 3 उन बातों के संबंध में है जो प्रतिस्पर्धा आयोग द्वारा प्रतिस्पर्धा-रोधी करारों की जांच करते समय ध्यान में रखी जानी चाहिए । यह उपधारा (3) निम्न प्रकार से है :—

“19(3) आयोग, यह अवधारित करते समय कि क्या कोई करार धारा 3 के अधीन प्रतिस्पर्धा पर पर्याप्त रूप से प्रतिकूल प्रभाव डालता है, निम्नलिखित बातों में से सभी या किसी पर सम्यक् विचार करेगा, अर्थात् —

- (क) बाजार में नए प्रवेशकों के लिए अवरोधों का सृजन ;
- (ख) विद्यमान प्रतिस्पर्धियों को बाजार से बाहर करना ;
- (ग) बाजार में प्रवेश को प्रतिबंधित करके प्रतिस्पर्धा का पुरोबंध ;

- (घ) उपभोक्ताओं के लिए फायदों का प्रोदम्भवन ;
 (ङ) माल के उत्पादन या वितरण या सेवाओं की व्यवस्था में सुधार ;
 (च) माल के उत्पादन या वितरण या सेवाओं की व्यवस्था के माध्यम से तकनीकी, वैज्ञानिक या आर्थिक विकास का संवर्धन ।”

13. चूंकि प्रतिस्पर्धा पर पड़ने वाले काफी प्रतिकूल प्रभाव को अधिनियम की धारा 2 (द), जिसे पहले ही ऊपर उपदर्शित किया गया है, के अधीन यथापरिभाषित सुसंगत बाजार के संदर्भ में देखा जाना चाहिए, इसलिए धारा 19 की उपधारा (5) में यह अनुबंधित है कि भारत का प्रतिस्पर्धा आयोग, यह अवधारित करने के लिए कि क्या कोई बाजार इस अधिनियम के प्रयोजनों के लिए सुसंगत बाजार का गठन करता है, सुसंगत भौगोलिक बाजार और सुसंगत उत्पाद बाजार का सम्यक् ध्यान रखेगा । सुसंगत भौगोलिक बाजार का अवधारण करते समय जिन बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए, वे धारा 19 की उपधारा (6) में वर्णित हैं । इसी प्रकार, सुसंगत उत्पाद बाजार का अवधारण करते समय ध्यान में रखी जाने वाली बातें धारा 19 की उपधारा (7) में अनुबंधित हैं ।

14. प्रतिषिद्ध प्रतिस्पर्धा-रोधी करारों के संबंध में स्कीम की अभिधारणा करने वाले उन सुसंगत उपबंधों, जिनके आधार पर महानिदेशक द्वारा अन्वेषण किया जाता है, की अवेक्षा करने के पश्चात् इस प्रथम पहलू का अवधारण किया जाना है कि सुसंगत बाजार क्या होगा । महानिदेशक ने भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग को प्रस्तुत की गई अपनी रिपोर्ट में यह राय व्यक्त की कि प्रस्तुत मामले में सुसंगत बाजार पश्चिमी बंगाल का फिल्म और टेलीविजन उद्योग होगा । उसने यह भी अभिलिखित किया कि समन्वय समिति उन व्यक्तियों या व्यक्तियों के संगम से बनी है, जो फिल्म निर्माण के तद्रूप बाजार में व्यौहार कर रहे हैं । उसकी राय में, संघटकों द्वारा संयुक्त कार्रवाई करने के लिए किए गए करार की, क्षैतिजीय प्रकृति का करार होने के कारण, अधिनियम की धारा 3 (3) के उपबंधों के अधीन परीक्षा की जा सकती है । धारावाहिकों का प्रसारण बंद नहीं करने पर समन्वय समिति और ईम्पा की असहयोग करने की धमकी देने और प्रदर्शन करने तथा हड़ताल बुलाने, जिसके परिणामस्वरूप चैनल 10 को वास्तव में धारावाहिक का प्रसारण बंद करना पड़ा (हालांकि सीटीवीएन+ ने प्रसारण जारी रखा था) की आक्षेपित कार्रवाई इस चैनल 10 के नाणिज्यिक

समुपयोजन को निर्बंधित करने की कोटि में आती है और इसलिए अन्यायपूर्ण थी। महानिदेशक ने यह पाया कि समन्वय समिति के निम्नलिखित आचरण से विनिर्दिष्ट रूप से अधिनियम के उपबंधों का उल्लंघन हुआ है :-

“(क) सीटीवीएन+ चैनल को तारीख 18 फरवरी, 2011 को एक पत्र लिखकर महाभारत धारावाहिक का प्रसारण बंद करने के लिए कहने का समन्वय समिति का कृत्य।

(ख) इसके अतिरिक्त, तारीख 11 मार्च, 2011 को चैनल 10 को तथा तारीख 11 मार्च, 2011, 12 मार्च, 2011 और 14 मार्च, 2011 को सीटीवीएन+ चैनल को पत्र लिखकर महाभारत धारावाहिक का प्रसारण बंद करने के लिए कहने का समन्वय समिति का कृत्य।

(ग) समन्वय समिति के सभी संघटकों के सदस्यों द्वारा तारीख 7 अप्रैल, 2011 को महाभारत धारावाहिक के प्रसारण के विरुद्ध एक दिन के लिए काम बंद करना तथा कोलकाता में उसी दिन रानी रासोनी रोड पर 11.00 बजे पूर्वाह्न से 2.00 बजे अपराह्न तक प्रदर्शन करना।

(घ) समन्वय समिति ने भारतीय फिल्म उद्योग के अग्रणी अभिनेता श्री मिथुन चक्रवर्ती और चैनल 10 के मुख्य सलाहकार के पास समावेदन किया और अंततः चैनल 10 द्वारा महाभारत के प्रसारण को बंद कराने में सफल रही।”

15. महानिदेशक ने यह निष्कर्ष निकाला कि समन्वय समिति की ओर से की गई कार्रवाई के परिणामस्वरूप बाजार में प्रवेश को प्रतिबंधित करके प्रतिस्पर्धा का पुरोबंध किया गया है। महानिदेशक ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि धारावाहिक के डब किए हुए रूपांतर को अनुज्ञा न देकर समन्वय समिति ने ऐसे कार्यक्रमों के उत्पादन, वितरण तथा प्रदर्शन और प्रसारण के काम में लगे कारबारियों के लिए कारबार के अवसरों को पुरोबंधित किया है। अतः महानिदेशक ने यह निष्कर्ष निकाला कि ईम्पा और समन्वय समिति की ओर से की गई कार्रवाई से धारा 3(3) के उपबंधों का अतिक्रमण हुआ है, चूंकि उसके सभी संघटकों/संगमों के एक साथ एक मंच पर आकर सामूहिक आशय द्वारा उन्होंने टेलीविजन चैनलों पर दिखाए जाने वाले धारावाहिकों के डब किए हुए रूपांतरों के बाजार और प्रदाय को प्रतिबंधित और नियंत्रित किया है।

16. समन्वय समिति तथा ईम्पा ने मामले में जांच करने की महानिदेशक की अधिकारिता के संबंध में कतिपय मूलभूत आक्षेप किए क्योंकि, उनके अनुसार, जांच अधिनियम की व्याप्ति के परे थी। संक्षेप में, यह तर्क दिया गया –

“(क) समन्वय समिति में पश्चिमी बंगाल फिल्म और टी. वी. उद्योग के कलाकार और तकनीशियन समाविष्ट हैं और यह केवल पश्चिमी बंगाल मोशन पिक्चर आर्टिस्ट फोरम तथा पूर्वोत्तर भारत के सिनेमा तकनीशियनों और कर्मकारों से मिलकर बनी है। डब्ल्यूएटीपी, एटीए और ईम्पा जैसे अन्य सदस्य समन्वय समिति में नहीं हैं। वास्तव में यह व्यापार संघ अधिनियम के अधीन कारीगरों और तकनीशियनों का एक व्यापार संघ है। इसलिए समन्वय समिति एक ‘उद्यम’ नहीं है।

उसी तरह यह ‘व्यक्ति या ‘व्यक्तियों का संगम’ नहीं है जो उत्पादन, प्रदाय और वितरण या सेवाएं इत्यादि प्रदान करने के कारबार में हों। इसलिए, उनके कृत्य अधिनियम की धारा 3 (1) के अधीन नहीं आते हैं।

(ख) यह तर्क दिया गया कि समन्वय समिति सेटेलाइट चैनल में किसी धारावाहिक के उत्पादन प्रोग्रामिंग, विपणन और अपलिक करने पर नियंत्रण करने की स्थिति में नहीं है और इसलिए, अधिनियम के उपबंध इस पर लागू नहीं होते हैं।

(ग) समन्वय समिति के अनुसार, जो कार्रवाई उन्होंने की थी, वह हिंदी धारावाहिक को बंगला में डब करके प्रसारण करने के विरुद्ध आंदोलन के रूप में अपने सदस्यों के हितों के रक्षोपायों के लिए की गई थी। भारत के संविधान के अनुच्छेद 19 (1)(क) के अधीन ऐसी अभ्यापति दर्ज कराने का उनका सांविधानिक अधिकार था।”

17. तथापि, महानिदेशक समन्वय समिति द्वारा प्रस्तुत की गई उपर्युक्त प्रतिरक्षा से आश्वस्त नहीं हुए और यह पाया कि समन्वय समिति का आंदोलन अनुचित था क्योंकि स्थानीय फिल्म कलाकारों की संभावना अत्यधिक है और उक्त चैनलों पर डब किए हुए धारावाहिक दिखाने के कारण उद्योग को नुकसान पहुंचने की संभावना नहीं है। महानिदेशक ने यह भी पाया कि बंगला भाषा में टेलीविजन चैनलों का उद्योग बहुत ही तेजी से बढ़ रहा है और इसलिए समन्वय समिति के तर्क तथ्यों पर

आधारित नहीं हैं। अतः उनकी कार्रवाई को अनुचित ठहराया जाना चाहिए क्योंकि इसके परिणामस्वरूप बाजार में प्रवेश को पुरोबंध किया गया है तथा ऐसे कार्यक्रमों के उत्पादन, वितरण और प्रदर्शन/प्रसारण में लगे कारखानों के लिए कारबार के अवसरों को पुरोबंध किया गया है। महानिदेशक के अनुसार, यह कार्रवाई अधिनियम की धारा 3(3)(ख) की व्याप्ति के भीतर आती है।

18. महानिदेशक की उपर्युक्त रिपोर्ट समन्वय समिति तथा ईम्पा के प्रतिकूल होने के कारण उन दोनों ने इसके विरुद्ध भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग के समक्ष अपने आक्षेप फाइल किए। ये आक्षेप लगभग उसी प्रकार के थे जो महानिदेशक के समक्ष किए गए थे और इसलिए उन्हें इस प्रक्रम पर दोहराना आवश्यक नहीं है क्योंकि, किसी भी दशा में, हम समुचित प्रक्रम पर समन्वय समिति के आधार पर फिर से विचार करेंगे।

19. भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग ने उन आक्षेपों की समीक्षा करने के पश्चात् दो प्रश्न विरचित किए, जो उसके अनुसार, विचार करने के लिए उद्भूत हुए, वे हैं :—

विवाद्यक सं. 1

क्या ईम्पा और समन्वय समिति ने डब किए हुए धारावाहिक महाभारत के प्रसारण पर निर्बंधन अधिरोपित किए हैं/करने का प्रयत्न किया है ?

विवाद्यक सं. 2

क्या उक्त धारावाहिक के प्रसारण पर निर्बंधन अधिरोपित करने के कृत्य और आचरण से अधिनियम के उपबंधों का अतिक्रमण होता है ?

20. भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग ने पूर्वोक्त विवाद्यकों पर खंडित अधिमत दिया। बहुमत के अनुसार, शिकायतकर्ता दोनों विवाद्यकों को साबित करने के लिए निश्चायक साक्ष्य देने में समर्थ रहा है। बहुमत ने यह अभिनिर्धारित किया कि चैनल 10 ने धारावाहिक का प्रसारण ईम्पा तथा समन्वय समिति द्वारा उसे अपने विभिन्न पत्रों के साथ-साथ उनके द्वारा किए गए आंदोलनों और प्रदर्शन के माध्यम से दी गई प्रत्यक्ष धमकियों के परिणामस्वरूप रोका था। इस रीति में, चैनल 10 और सीटीवीएन+ दोनों पर डब किए गए धारावाहिक का प्रसारण न करने का दबाव डाला गया था, हांलाकि जहां तक सीटीवीएन+ चैनल का संबंध है, यह चैनल ऐसे दबाव के आगे नहीं झुका। किंतु चैनल 10 ने हार मानकर धारावाहिक का प्रसारण रोक दिया। इस रीति में, प्रथम विवाद्यक का विनिश्चय

सकारात्मक किया गया ।

द्वितीय विवाद्यक पर विचार करते हुए बहुमत के सदस्यों ने यह अभिनिर्धारित किया कि चूंकि समन्वय समिति एक उद्यम नहीं हैं, इसलिए धारा 4 के भंग का प्रश्न ही पैदा नहीं होता । तथापि, समन्वय समिति के कार्यकलाप अधिनियम की धारा 3 की परिधि के अंतर्गत आते हैं और इस उपबंध का अतिक्रमण हुआ है, चूंकि इससे प्रतिस्पर्धा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है । उसने यह स्वीकार किया कि समन्वय समिति (और इस मामले के लिए ईम्पा भी) व्यापार संघ है । इस बात के होते हुए भी, उन्हें अधिनियम के कार्यक्षेत्र से छूट-प्राप्त नहीं है । विशिष्ट रूप से समन्वय समिति के संबंध में, भारत का प्रतिस्पर्धा आयोग इस तथ्य से प्रभावित हुआ कि जब डब्ल्यूएटीपी, एटीए और ईम्पा जैसे निकाय समन्वय समिति के सदस्य नहीं हैं, फिर भी यह पाया गया कि समन्वय समिति इन संगमों के साथ परामर्श करके कदम उठाती है और इसलिए यह माना जाना चाहिए कि समन्वय समिति में सभी पांचों सदस्य समाविष्ट हैं ।

21. भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग में न्यायिक सदस्य ने विसंगत टिप्पण प्रस्तुत किया क्योंकि वह बहुमत की राय से असहमत थे । उनके अनुसार महानिदेशक द्वारा कारित की गई प्रथम भूल यह थी उसने सुसंगत बाजार की ठीक प्रकार से पहचान नहीं की । उनके अनुसार, सुसंगत बाजार टी. वी. धारावाहिक का प्रसारण था न कि पश्चिमी बंगाल का फिल्म और टी. वी. उद्योग, जैसा कि महानिदेशक द्वारा पाया गया । विद्वान् सदस्य ने सुसंगत बाजार की टी. वी. धारावाहिकों के रूप में पहचान करने के पश्चात् यह राय व्यक्त की कि टी. वी. धारावाहिकों का प्रसारण या तो डायरेक्ट टू होम सर्विसेज (डीटीएच) के द्वारा होता है या केबल के माध्यम से होता है और इसलिए प्रसारण सेवा फिल्मों के उत्पादन, प्रदर्शन और वितरण बिल्कुल एक अलग बाजार है । जहां तक दो चैनलों अर्थात् सीटीवीएन+ और चैनल 10 का संबंध है, वे बाजार में डीटीएच प्रवर्ग या केबल टीवी प्रवर्ग के दर्शकों के लिए कार्यक्रमों के प्रसारण के लिए हैं, डब की गई फिल्मों के उत्पादन, वितरण और प्रदर्शन में नहीं है । अल्पसंख्यक मत के अनुसार, चूंकि उल्लंघन करने वाले पक्षकार अर्थात् समन्वय समिति और ईम्पा डब किए गए धारावाहिकों के प्रसारण के सुसंगत बाजार में सक्रिय नहीं है, इसलिए अधिनियम के उपबंधों के किसी अतिक्रमण का प्रश्न ही नहीं है । आगे यह अभिनिर्धारित किया गया कि अधिनियम की धारा 3 के दायरे में कर्मकार संघ द्वारा की गई ऐसी प्रपीड़क कार्रवाइयां नहीं आती हैं जिनसे विभिन्न आयामों या उत्पादों या सेवा बाजार पर प्रभाव पड़ता हो

और माल या सेवाओं के उत्पादन, वितरण और प्रदाय को प्रभावित करती हो। यह स्वीकार किया गया कि समन्वय समिति तथा ईम्पा ने वस्तुतः विभिन्न साधनों के माध्यम से प्रश्नगत डब किए गए टी. वी. प्रसारण न करने के लिए इन चैनलों पर दबाव डाला था। तथापि, इस दबाव को एक आर्थिक दबाव नहीं माना जा सकता है। ऐसा दबाव डालने वाला यह कृत्य व्यापार संघ का था, जो अधिनियम के अधिकार क्षेत्र से बाहर था और यह उसी सुसंगत बाजार में सक्रिय उद्यमों के बीच एक 'करार' नहीं था, जिसके परिणामस्वरूप डब किए गए धारावाहिकों का प्रसारण रोकना पड़ा हो। इसके अतिरिक्त, टी. वी. चैनल ऐसी प्रपीड़क बातों की अनदेखी करने के लिए स्वतंत्र थे। अल्पसंख्यक राय में तो यह भी मत अभिव्यक्त किया गया कि धरना देना, बहिष्कार करना, हड़ताल करना आदि किसी व्यापार संघ का संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) के अधीन प्रत्याभूत मूल अधिकार है और इसे अधिनियम द्वारा तब तक नहीं छीना जा सकता है जब तक यह दर्शित न होता हो कि उल्लंघन करने वाले पक्षकार उसी सुसंगत बाजार में आर्थिक कार्यकलापों में अंतर्वलित हैं और उन्होंने ऐसा 'करार' किया है जो अधिनियम की धारा 3 के उपबंधों के विरुद्ध है।

22. महत्वपूर्ण रूप से, केवल समन्वय समिति ने ही प्रतिस्पर्धा अपील अधिकरण (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'अधिकरण' कहा गया है) के समक्ष अपील फाइल की। ईम्पा ने, अपने आचरण द्वारा, भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग के बहुमत के विनिश्चय को स्वीकार किया। इस कारण से ही अधिकरण ने ईम्पा के संबंध में विवाद्यक पर विचार नहीं किया। उसने समन्वय समिति के आधार की चर्चा की और यह पता लगाने के लिए कि क्या भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग का बहुसंख्यक मत विधि की दृष्टि में सही है, समन्वय समिति के कार्यकलापों तक सीमित रहते हुए अपना विचार-विमर्श किया। अधिकरण ने बहुसंख्यक मत को अपास्त करते हुए और अल्पसंख्यक मत को स्वीकार करते हुए अन्यथा अभिनिर्धारित किया और परिणामतः, समन्वय समिति की अपील मंजूर की और यह अभिनिर्धारित किया कि अधिनियम की धारा 3 का कोई उल्लंघन नहीं हुआ है और यहां तक कि इस मामले के तथ्यों पर इस धारा का अवलंब नहीं लिया जा सकता है। प्रथमतः, अधिकरण ने 'सुसंगत बाजार' के प्रश्न पर भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग के विसम्मत सदस्य की राय की अभिपुष्टि यह अभिनिर्धारित करते हुए की कि सुसंगत बाजार 'पश्चिमी बंगाल में फिल्म और टेलीविजन उद्योग' नहीं अपितु 'पश्चिमी बंगाल में टेलीविजन पर डब किए गए धारावाहिक का प्रसारण करना' सुसंगत बाजार है। इसके पश्चात्

अधिकरण ने अधिनियम की धारा 3(3) के उपबंधों का उल्लेख किया और यह निष्कर्ष निकाला कि समन्वय समिति किन्हीं समूहों में, या किन्हीं सेवाओं की व्यवस्थाओं में व्यापार नहीं कर रहे हैं और इतना ही नहीं उसके सदस्य तदरूप या समरूप व्यापार या सेवाओं की व्यवस्था में नहीं लगे हैं। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि धारा 3 में यथा परिकल्पित कोई करार किया गया था। अधिकरण के अनुसार, अधिनियम की धारा 3(3) (ख) ऐसे प्रतिस्पर्धियों पर लागू है जो एक ही तरह के वाणिज्यिक कार्यकलाप में हों और अपने करार द्वारा प्रतिस्पर्धा को निर्बंधित करना चाहते हों। प्रस्तुत मामले में इस आशय का कोई साक्ष्य नहीं है। यह कार्यकलाप समन्वय समिति द्वारा अपने सदस्यों के फायदे के लिए उनकी शिकायत को उठाते हुए उसकी मात्र एक अभ्यापत्ति थी और भले ही समन्वय समिति की ऐसी कार्रवाई गलत थी और भले ही उसका आंदोलन यह प्रायोजित करते हुए कूटकर्म से प्रभावित था कि डब किए गए टी. वी धारावाहिक का प्रदर्शन करने से उनके आगे काम मिलने की संभाव्यताओं पर प्रभाव डालेगा, तो भी यह स्वतः अधिनियम के अंतर्गत आने वाला प्रतिस्पर्धा का मुद्दा नहीं बन जाएगा।

23. अधिकरण के उपर्युक्त मत को चुनौती देते हुए प्रतिस्पर्धा आयोग की ओर से उपसंजात होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ काउंसिल श्री चंदीओक ने अधिनियम के विभिन्न उपबंधों को निर्दिष्ट किया और महानिदेशक द्वारा की गई कवायद को तथा भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग के बहुसंख्यक मत को विस्तारपूर्वक पढ़कर सुनाया। उनकी यह दलील थी कि महानिदेशक द्वारा की गई और भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग द्वारा अपने बहुमत के विनिश्चय द्वारा अनुमोदित कवायद विधि की दृष्टि में सही थी। विद्वान् ज्येष्ठ काउंसिल ने उस रीति को प्रश्नगत किया जिसमें 'सुसंगत बाजार' को एक सीमित कार्यक्षेत्र में रखा गया है क्योंकि, उनके अनुसार, पश्चिमी बंगाल राज्य के फिल्म और टेलीविजन उद्योग से संबंधित मामला और समन्वय समिति की संगठित कार्रवाई स्पष्ट रूप से पश्चिमी बंगाल राज्य के संपूर्ण फिल्म और टेलीविजन उद्योग में प्रतिस्पर्धा पर प्रभाव डालने के लिए थी। विद्वान् ज्येष्ठ काउंसिल ने अधिनियम से विभिन्न परिभाषाओं को भी पढ़ा, जिनको हमने पहले ही ऊपर उद्धृत किया है। उनकी दलील यह थी कि धारा 2 (ख) में अंतर्विष्ट 'करार' की परिभाषा का काफी विस्तृत अर्थबोधन है और कोई ऐसा करार जो व्यक्तियों या व्यक्तियों के संगम के बीच प्रतिस्पर्धा-रोधी प्रकृति का हो, उससे धारा 3 का अतिक्रमण होता है।

24. दूसरी ओर, समन्वय समिति की ओर से उपसंजात होने वाले

विद्वान् काउंसिल ने जोरदार रूप से आक्षेपित निर्णय का अवलंब लिया और यह दलील दी कि इस निर्णय में निकाले गए निष्कर्ष विधि की दृष्टि से सही हैं, क्योंकि समन्वय समिति, जोकि एक व्यापार संघ की प्रकृति की है और माल के उत्पादन, प्रदाय, वितरण, भण्डारण, अर्जन या नियंत्रण अथवा सेवाओं की व्यवस्था के कारबार में नहीं है, अधिनियम की धारा 3 की परिधि के अंतर्गत नहीं आ सकती है। उन्होंने यह भी दलील दी कि समन्वय समिति की ओर से की गई कार्रवाई का प्रतिस्पर्धा से कोई लेना-देना नहीं है और व्यापार संघ के रूप में विधिसम्मत अभ्यापत्ति दर्ज कराना समन्वय समिति का मूल अधिकार है। उन्होंने यह दलील दी कि इस विरोध में समन्वय समिति ने भले ही सीमा को लांघा हो, तो भी यह कार्रवाई किसी अन्य विधि के अधीन अनुयोज्य हो सकती है किंतु प्रतिस्पर्धा विधि के अधिकार-क्षेत्र के अंतर्गत नहीं आएगी।

25. हमने अलग-अलग दलीलों पर सम्यक् विचार किया और विभिन्न प्राधिकारियों द्वारा पारित किए गए आदेशों का गहराई से परिशीलन किया, जिनकी झलक पहले ही ऊपर प्रतिबिम्बित होती है।

26. दो महत्वपूर्ण पहलू जिनका अवधारण करने की आवश्यकता है, वे हैं :-

“(i) समन्वय समिति के आक्षेपित कार्यकलाप की जांच करने के प्रयोजन के लिए सुसंगत बाजार क्या है ? और

(ii) क्या समन्वय समिति की कार्रवाई और आचरण अधिनियम की धारा 3 के उपबंधों के अंतर्गत आते हैं ?”

27. इससे पूर्व कि हम उपर्युक्त प्रश्नों पर चर्चा करें, अधिनियम से संबंधित कुछ मूलभूत पहलुओं पर संदेह दूर करना आवश्यक है।

28. प्रतिस्पर्धा अधिनियम, 2002, वर्ष 2007 और 2009 में यथा संशोधित, न्यास-रोधी विवादकों अर्थात् प्रतिस्पर्धा-रोधी करारों, प्रधान स्थिति के दुरुपयोग और उक्त अधिनियम के अंतर्गत आने वाले किसी समुच्चय या अर्जन के विनियमन के संबंध में है। चूंकि भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग के बहुमत ने भी यह स्वीकार किया है कि समन्वय समिति के आक्षेपित कार्यकलाप प्रधान स्थिति के दुरुपयोग की कोटि में नहीं आते हैं, और आयोग ने इन कार्यकलापों को प्रतिस्पर्धा-रोधी माना है जिनसे प्रतिस्पर्धा पर पर्याप्त रूप से प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है, इसलिए हमारी चर्चा केवल प्रतिस्पर्धा-रोधी करारों पर केंद्रित रहेगी। इस बाबत अधिनियम की धारा 3

सुसंगत धारा है। इस धारा का आशय कतिपय करारों को रोकना या प्रतिषिद्ध करना है। अतः, सर्वप्रथम यह पता लगाया जाना है कि क्या यहां ऐसा करार विद्यमान है जो उद्यम या उद्यमों के संगम या व्यक्ति या व्यक्तियों के संगम द्वारा किया गया था। उसके पश्चात् यह अवधारित किए जाने की आवश्यकता है कि क्या ऐसा करार अधिनियम के अर्थात्गत प्रतिस्पर्धा-रोधी करार है या नहीं। जब एक बार ऐसा पाया जाता है तो उपचार, जो किए जाने की आवश्यकता है, से संबंधित अन्य उपबंध लागू होंगे।

29. धारा 3 के अधीन चाहे आयोग द्वारा या महानिदेशक द्वारा किसी अभिकथित उल्लंघन की जांच करते समय और यह अवधारित करते समय कि किसी करार से प्रतिस्पर्धा पर पर्याप्त रूप से प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है या नहीं, जिन बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए वे धारा 19 की उपधारा (3) में वर्णित है, जो निम्नलिखित हैं :-

“19. कतिपय करारों और उद्यम की प्रधान स्थिति की जांच -

* * * * *

(3) आयोग, यह अवधारित करते समय कि क्या कोई करार धारा 3 के अधीन प्रतिस्पर्धा पर पर्याप्त रूप से प्रतिकूल प्रभाव डालता है, निम्नलिखित बातों में से सभी या किसी पर सम्यक् विचार करेगा, अर्थात् :-

- (क) बाजार में नए प्रवेशकों के लिए अवरोधों का सृजन ;
- (ख) विद्यमान प्रतिस्पर्धियों को बाजार से बाहर करना ;
- (ग) बाजार में प्रवेश को प्रतिबंधित करके प्रतिस्पर्धा का पुरोबंध ;
- (घ) उपभोक्तों के लिए फायदों को प्रोद्धवन ;
- (ङ) माल के उत्पादन या वितरण या सेवाओं की व्यवस्था में सुधार ;
- (च) माल के उत्पादन या वितरण या सेवाओं की व्यवस्था के माध्यम से तकनीकी, वैज्ञानिक या आर्थिक विकास का संवर्धन ।”

* * * * *

30. इसमें प्रयुक्त “बाजार” शब्द का “सुसंगत बाजार” के प्रतिनिर्देश है। धारा 19 की उपधारा (5) के अनुसार, ऐसा सुसंगत बाजार सुसंगत भौगोलिक बाजार या सुसंगत उत्पाद बाजार हो सकता है। सुसंगत भौगोलिक बाजार अवधारित करते समय जिन बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए, वे धारा 19 की उपधारा (6) में अनुबंधित हैं और सुसंगत उत्पाद बाजार अवधारित करते समय ध्यान में रखी जाने वाली बातें धारा 19 की उपधारा (7) में विहित की गई हैं। ये दोनों उपधाराएं निम्नलिखित हैं :—

‘(6) आयोग, ‘सुसंगत भौगोलिक बाजार’ का अवधारण करते समय निम्नलिखित सभी या किन्हीं बातों का सम्यक् ध्यान रखेगा, अर्थात् —

- (क) विनियामक व्यापार अवरोध ;
- (ख) स्थानीय विनिर्देश अपेक्षाएं ;
- (ग) राष्ट्रीय उपापन नीतियां ;
- (घ) पर्याप्त वितरण सुविधाएं ;
- (ङ) परिवहन लागत ;
- (च) भाषा ;
- (छ) उपभोक्ता अधिमान ;

(ज) नियमित आपूर्ति या विक्रयोपरांत त्वरित सेवाओं को सुनिश्चित करने की आवश्यकता ।

(7) आयोग, ‘सुसंगत उत्पाद बाजार’ का अवधारण करते समय, निम्नलिखित सभी या किन्हीं बातों का सम्यक् ध्यान रखेगा, अर्थात् —

- (क) माल की भौतिक विशेषताएं या उसका अंतिम उपयोग ;
- (ख) माल या सेवाओं की कीमत ;
- (ग) उपभोक्ता अधिमान ;
- (घ) आंतरिक उत्पाद का अपवर्जन ;
- (ङ) विशिष्ट उत्पादकों की विद्यमानता ;
- (च) औद्योगिक उत्पादों का वर्गीकरण ।’

इसी कारण से, जिस सर्वप्रथम पहलू का अवधारण करने की आवश्यकता है वह है: वह सुसंगत बाजार क्या है जिसमें प्रतिस्पर्धा प्रभावित होती है ?”

31. बाजार की परिभाषा फर्मों के बीच प्रतिस्पर्धा की सीमाओं की पहचान और परिभाषित करने का एक साधन है। यह उस रूपरेखा को स्थापित करने का काम करती है जिसके भीतर आयोग द्वारा प्रतिस्पर्धा नीति को लागू किया जाता है। बाजार की परिभाषा का मुख्य प्रयोजन उन प्रतिस्पर्धात्मक अवरोधों की एक व्यवस्थित तरीके से पहचान करना है, जिनका सामना इसमें अंतर्वलित उपक्रमों को करना पड़ता है। बाजार को इसके उत्पाद और भौगोलिक आकार दोनों में परिभाषित करने का उद्देश्य इसमें अंतर्वलित उपक्रमों के उन वास्तविक प्रतिस्पर्धियों की पहचान करना है जो उन उपक्रमों के व्यवहार को अवरुद्ध करने और प्रभावी प्रतिस्पर्धात्मक दबाव के प्रति स्वतंत्रतापूर्वक प्रतिक्रिया करने से रोकने के लिए समर्थ हैं।

अतः “सुसंगत बाजार” को परिभाषित करने का प्रयोजन उन प्रतिस्पर्धात्मक अवरोधों की एक व्यवस्थित तरीके से पहचान करते हुए उनका निर्धारण करना है जिनका सामना उपक्रमों को तब करना पड़ता है जब वे बाजार में प्रचालन करते हैं। यह दशा विशिष्टतया यह अवधारण करने के लिए है कि क्या उपक्रम प्रतिस्पर्धी या संभावित प्रतिस्पर्धी हैं और बाजार में उनके आचरण के प्रतिस्पर्धी-रोधी प्रभावों का कब निर्धारण करना है। सुसंगत बाजार की अवधारणा से यह विवक्षित है कि उन उत्पादों के बीच प्रभावी प्रतिस्पर्धा हो सकती है जो सुसंगत बाजार का भाग बनते हैं और जहां तक ऐसे उत्पाद के विनिर्दिष्ट उपयोग का संबंध है, इससे यह पूर्वानुमान होता है कि उसी बाजार का भाग बनने वाले सभी उत्पादों के बीच पर्याप्त मात्रा में परस्पर विनिमय होती है।

32. किसी प्रस्तुत मामले में सुसंगत बाजार की पहचान करते समय भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग से यह अपेक्षित है कि वह उस साक्ष्य पर विचार करे जो उपलब्ध है और प्रस्तुत मामले के लिए सुसंगत है। भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग को सुसंगत बाजार की सीमाओं को इतनी स्पष्टता से परिभाषित करना चाहिए जितना मामले की परिस्थितियों में अपेक्षित हो। जहां समुचित हो, वहां वह अनुकल्पी बाजार परिभाषाओं के आधार पर अपना प्रतिस्पर्धा संबंधी निर्धारण कर सकता है। जहां यह स्पष्ट होता हो कि अन्वेषण किए गए आचरण से प्रतिस्पर्धा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की संभावना नहीं है और अन्वेषणाधीन उपक्रम किसी युक्तियुक्त बाजार

परिभाषा के आधार पर बाजार शक्ति की पर्याप्त मात्रा धारित नहीं करता है, तो सर्वोत्तम समुचित बाजार परिभाषा का प्रश्न अभी भी विचारणार्थ रखा जा सकता है ।

33. सुसंगत बाजार, जिसके भीतर बाजार शक्ति का विश्लेषण या प्रस्तुत प्रतिस्पर्धा का निर्धारण करना होता है, उसका उत्पाद आकार और भौगोलिक आकार दोनों से सरोकार है । इस संदर्भ में, सुसंगत उत्पाद बाजार उन सभी उत्पादों से मिलकर बनता है, जो क्रेताओं द्वारा उत्पाद की विशेषताओं, मूल्य और आशयित उपयोग के कारण परस्पर विनिमय करने योग्य या प्रतिस्थापित करने योग्य समझे जाते हैं । सुसंगत भौगोलिक बाजार उन सभी अंचलों या क्षेत्रों से मिलकर बनता है जहां क्रेता प्रश्नगत उत्पादों के अनुकूल्य पाने में समर्थ होंगे या पाने के इच्छुक होंगे । सुसंगत उत्पाद और किसी विशिष्ट उत्पाद के लिए भौगोलिक बाजार क्रेताओं की प्रकृति पर निर्भर करते हुए और संबंधित प्रदायकर्ताओं के परीक्षा अधीन आचरण और प्रदाय शृंखला में उनकी स्थिति द्वारा अलग-अलग हो सकता है । उदाहरण के लिए, यदि आक्षेपणीय आचरण का सरोकार थोक स्तर पर है, तो सुसंगत बाजार थोक क्रेताओं के परिप्रेक्ष्य से परिभाषित किया जाना चाहिए । दूसरी ओर, यदि सरोकार खुदरा स्तर पर आचरण की परीक्षा करने से है, तो सुसंगत बाजार को खुदरा उत्पादों के क्रेताओं के परिप्रेक्ष्य से परिभाषित किया जाना चाहिए ।

34. यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि सुसंगत बाजार को परिभाषित करने की प्रक्रिया सापेक्ष रूप से संकीर्ण संभावना वाली उत्पाद बाजार परिभाषा को विचार में रखते हुए आरंभ होती है । संभावित उत्पाद बाजार फिर उन अनुकूल्य उत्पादों को सम्मिलित करके विस्तारित हो जाता है जिन पर क्रेता प्रतिस्पर्धी मूल्य से ऊपर की मूल्य वृद्धि का विरोध करते हुए वापस आएंगे । इसी प्रकार, सुसंगत भौगोलिक बाजार को उसी आधारण प्रक्रिया का प्रयोग करके परिभाषित किया जा सकता है जो सुसंगत उत्पाद बाजार परिभाषित करने के लिए प्रयोग की जाती है ।

35. उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए, हम अधिकरण के निष्कर्ष से सहमत हैं । यह “बाजार पर नियंत्रण” की धारणा है जो बहुत से प्रतिस्पर्धी विवादों का विश्लेषण करने की कुंजी है । इसलिए यह समझना आवश्यक हो जाता है कि सुसंगत बाजार से क्या तात्पर्य है । यह धारणा एक आर्थिक धारणा है ।

36. प्रस्तुत मामले में, भौगोलिक बाजार पश्चिमी बंगाल राज्य है और

इस सीमा तक कोई विवाद नहीं है क्योंकि समन्वय समिति के कार्यकलाप उक्त राज्य तक सीमित हैं। विवाद यह है कि क्या सुसंगत बाजार के अंतर्गत “टी. वी. धारावाहिक का प्रसारण” आता है या इसकी परिधि के अंतर्गत “पश्चिमी बंगाल राज्य का फिल्म और टी. वी. उद्योग” आता है। प्रश्नगत टी. वी. धारावाहिक हिन्दी भाषा में निर्मित किया गया था। इसे बाद में बंगला भाषा में डब किया गया। जब दो चैनलों अर्थात् सीटीवीएन+ और चैनल 10 में इस टी. वी. धारावाहिक को डब किए गए रूप में अर्थात् बंगला भाषा में प्रसारित करने का विनिश्चय किया, तो इस प्रयास का समन्वय समिति और ईम्पा द्वारा विरोध किया गया। अधिकरण ने भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग के अल्पमत को यह मत व्यक्त करते हुए कायम रखा कि इत्तिला की प्रकृति से ऐसा कुछ दर्शित नहीं होता जिससे कि वह पश्चिमी बंगाल में के संपूर्ण फिल्म और टेलीविजन उद्योग से सुभिन्न रूप से संबद्ध तक हो। इत्तिला केवल टेलीविजन पर डब किए गए धारावाहिक दिखाने के विरुद्ध है और इसका किसी फिल्म या टेलीविजन चैनलों पर की किसी सामग्री के उत्पादन, वितरण आदि से किसी प्रकार का कोई संबंध नहीं है।

हम यह महसूस करते हैं कि अधिकरण द्वारा अपनाया गया यह संकीर्ण दृष्टिकोण है जिससे इस मामले के बहुत से अन्य महत्वपूर्ण पहलुओं की अनदेखी होती है, जिसमें सबसे महत्वपूर्ण पहलू उस उपर्युक्त हेतु के प्रभाव की व्यापकता है जिसको लेकर समन्वय समिति द्वारा आंदोलन किया गया था। यह प्रभाव टेलीविजन धारावाहिक के प्रसारण तक सीमित नहीं है। निस्संदेह, समन्वय समिति टेलीविजन धारावाहिक महाभारत का डब किए गए रूप में उपर्युक्त दो चैनलों पर प्रसारण करने के विरुद्ध थी। तथापि, आंदोलनकारियों का यह भी कहना था कि उक्त प्रसारण से पश्चिमी बंगाल का टी. वी. और फिल्म उद्योग प्रतिकूल रूप से प्रभावित होगा और धमकियों के पीछे का अभिकथित तात्पर्य संपूर्ण टी. वी. और फिल्म उद्योग को बचाना था। समन्वय समिति ने स्वयं तारीख 18 फरवरी, 2012 के अपने पत्र में इस बात का उल्लेख किया है, जो निम्न प्रकार से है :-

“हमें ज्ञात हुआ है कि आप अपने चैनल में प्रचार कर रहे हैं कि ‘महाभारत’ का बंगाली में डब किया गया रूपांतर शीघ्र ही चैनल पर प्रकाशित किया जाएगा। आपको सूचित किया जाता है कि संपूर्ण टी. वी. और फिल्म उद्योग ने वर्ष 1997 में डी. डी. 1 स्ट्रॉट में हिन्दी धारावाहिकों के बंगाली में डब किए गए रूपांतरों का प्रसारण

करने के विरुद्ध कठोरतापूर्वक संघर्ष किया था और उस आंदोलन से लेकर डी. डी. नेशनल नेटवर्क ने हिन्दी कार्यक्रमों के किसी बंगाली में डब किए गए रूपांतर का प्रसारण करना बंद कर दिया है। साथ ही, यह भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि फिल्म उद्योग वर्ष 1997 में डीलक्स फिल्मस के श्री दिलीप कंकारिया द्वारा निर्मित हिन्दी सिनेमा 'लव-कुश' के बंगाली में डब किए गए रूपांतर के प्रकाशन को विवर्जित करने में सफल रहा था।

हमने यह आंदोलन प्रतिष्ठित और अंतरराष्ट्रीय रूप से प्रशंसित बंगाली फिल्म और टेलीविजन उद्योग को शिथिल होने से रोकने के लिए और तद्वारा कलाकारों, कर्मकारों और इस उद्योग से जुड़े लोगों के लिए नौकरी सृजित करने के लिए किया था।

अतः आपसे अनुरोध करते हैं कि आप अपने चैनल पर महाभारत के बंगाली में डब किए गए रूपांतर का प्रसारण रोक दें।¹

(हमारे द्वारा रेखांकन करके बल दिया गया है)

37. इसलिए सुसंगत बाजार चैनल के प्रसारण तक सीमित नहीं है अपितु संपूर्ण फिल्म और टेलीविजन उद्योग सुसंगत बाजार है। समन्वय समिति की चाहे यह शंका ही थी या वास्तविक चिंता कि "महाभारत" के डब किए गए रूपांतर के प्रसारण से बंगाली फिल्म और टेलीविजन उद्योग पर प्रभाव पड़ेगा, "सुसंगत बाजार"¹ परिभाषित करते समय यह सुसंगत पहलू नहीं है। उपर्युक्त कार्रवाई का यही वह क्षेत्र है जिस पर विचार किया जाना चाहिए। समन्वय समिति की भी यही अनुभूति थी कि "महाभारत" के बंगाली भाषा में डब किए गए रूपांतर के प्रसारण से संपूर्ण टेलीविजन और फिल्म उद्योग पर प्रभाव पड़ रहा है। इसको दृष्टिगत करते हुए, मुश्किल से यह बहस का विषय है कि सुसंगत बाजार क्या होगा।

38. इसके साथ हम उस मुख्य विवादक पर आते हैं जो पक्षकारों के

¹ यह मत व्यक्त किया जा सकता है कि भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग के बहुमत ने समन्वय समिति और ईम्या के इस अभिवाक् को नामंजूर कर दिया कि डब की गई फिल्म को मंजूरी देने से बंगाली कलाकारों की नौकरियां छिन्न जाएंगी। भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग के अनुसार- "यदि बंगाली फिल्मों और टी. वी. धारावाहिकों को गैर-बंगाली विषयवस्तु पर प्रतिस्पर्धात्मक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप वरीयता दी जाती है तो अंततोगत्वा बंगाली कलाकारों को ही फायदा मिलेगा। रक्षावादी नीतियों का अनुसरण किया जा रहा है उनसे बंगाली कलाकारों को सहायता नहीं मिलेगी, यदि विषयवस्तु के आधार पर वे प्रतिस्पर्धा नहीं कर पाते हैं। ऐसी नीतियां स्वतंत्र बाजार के सिद्धांतों के प्रतिकूल हैं।"

बीच विवादग्रस्त है, अर्थात् क्या उन कार्यकलापों को, जिनमें समन्वय समिति अंतर्वलित रही, अधिनियम की धारा 3 के प्रयोजन के लिए “करार” के रूप में समझा जा सकता है।

39. प्रारंभ में यह उल्लेख किया जा सकता है कि जो इकाइयां इसमें शामिल हैं और जिनके करार उल्लंघनकारी हो सकते हैं वे हैं — उद्यम या उद्यमों का संगम, या व्यक्ति या व्यक्तियों का संगम या जहां करार किसी व्यक्ति और उद्यम के बीच है। “उद्यम” अभिव्यक्ति किसी भी इकाई को, उसकी विधिक प्रास्थिति या उस तरीके को विचार में लाए बिना जिसमें यह वित्त पोषित की जाती है, कहा जा सकता है और इसलिए इसमें प्राकृतिक तथा विधिक व्यक्ति सम्मिलित हो सकते हैं। इस कथन की पुष्टि इस बात से भी होती है क्योंकि किसी “व्यक्ति” या “व्यक्तियों के संगम” द्वारा किए गए करार भी इसमें सम्मिलित हैं और जब इसे अधिनियम की धारा 2(ठ) में वर्णित “व्यक्ति” की परिभाषा के साथ पढ़ा जाए तो यह बात स्पष्ट हो जाती है। इसी तरह, धारा 2(ख) के अधीन “करार” की परिभाषा भी अति व्यापक रूप से दी गई है। यह परिभाषा न केवल समावेशी है, क्योंकि इसमें दिए गए “सम्मिलित है” शब्द से यह इंगित होता है कि यह परिभाषा निःशेष नहीं है; अपितु किसी ठहराव या समझौते या मिलकर की गई कार्रवाई को भी “करार” कहा गया है। चाहे ऐसा ठहराव या समझौता औपचारिक हो या अनौपचारिक और ऐसा ठहराव या समझौता मौखिक भी हो सकता है और यह आवश्यक नहीं है कि इन्हें लेखबद्ध किया गया हो या चाहे यह समझौता या ठहराव विधिक कार्यवाहियों द्वारा प्रवर्तनीय है या नहीं। इसलिए समन्वय समिति “व्यक्ति” की परिभाषा के अंतर्गत आएगी। तथापि, आवश्यक यह है कि अधिनियम की धारा 3 में निर्दिष्ट ऐसा करार किसी ऐसे आर्थिक कार्यकलाप से संबंधित होना चाहिए जो प्रतिस्पर्धा आयोग की धारणा के केन्द्रगत हो। आर्थिक कार्यकलाप, जैसा कि साधारण तौर पर समझा जाता है, किसी भी ऐसे कार्यकलाप को कहा जाता है जो बाजार में उत्पादों की प्रस्थापना करता हो, चाहे ऐसे कार्यकलाप का आशय लाभ अर्जित करना है या नहीं। कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं जो अधिनियम की धारा 3(3) के अंतर्गत नहीं आते हैं। अंतिम उपभोक्ता के रूप में कार्य करने वाली व्यक्ति उद्यम नहीं है, क्योंकि वह आर्थिक कार्यकलाप नहीं कर रहा होता है। हम यह भी उल्लेख कर सकते हैं कि यूरोपियन संघ की प्रतिस्पर्धा विधि इस बात को मान्यता देती है कि कोई इकाई जो ऐसा कार्यकलाप कर रही है जिसका कार्य अनन्य रूप से सामाजिक है और एकात्मता के सिद्धांत पर आधारित है, उसे धारा

3 में प्रयुक्त अभिव्यक्तियों को विशेषित करने के लिए संभवतः आर्थिक कार्यकलाप करने वाली नहीं समझा जाना चाहिए। कारण स्पष्ट है। “करार” या “परस्पर सहमति की पद्धति” वह साधन है जिसके माध्यम से उद्यम या उद्यमों का संगम अथवा व्यक्ति या व्यक्तियों का संगम प्रतिस्पर्धा को निर्बंधित करते हैं। इन धारणाओं से प्रतिस्पर्धा विधि के आर्थिक प्रचालकों द्वारा अपनी वाणिज्यिक नीति का स्वतंत्रतापूर्वक अवधारण करने का उद्देश्य परिवर्तित हो जाता है। प्रतिस्पर्धा विधि का उद्देश्य उन उपक्रमों (चाहे प्राकृतिक व्यक्ति हो या विधिक इकाइयाँ) के कार्यकलापों को रोकना है जो अपने आर्थिक कार्यकलाप करते समय ऐसे व्यवहार में अंतर्ग्रस्त पाए जाते हैं जिससे प्रतिस्पर्धा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है या अपनी प्रधान स्थिति का फायदा उठाते हों।

40. उद्यम की धारणा एक सापेक्ष धारणा है। इकाई के स्वरूप के बजाय, कार्यकलाप पर कार्यात्मक दृष्टिकोण और तत्संबंधी ध्यान केंद्रित करने के परिणामस्वरूप ऐसी इकाई बन सकती है और जब वह किन्हीं कार्यकलापों में लगती है तो एक उद्यम समझी जाती है, किंतु जब वह अन्य कार्यों में लगती है तब नहीं। इस धारणा की सापेक्षता तब अत्यधिक स्पष्ट होती है जब लाभ न कमाने वाले संगठन या लोक निकायों द्वारा किए जाने वाले कार्यकलापों पर विचार किया जाए। ये इकाइयाँ अपने पूर्ण या लोक हैसियत में क्रियाशील हो सकती हैं किंतु जब वह वाणिज्यिक कार्यकलापों में लगती हैं तो उन्हें उद्यमों के रूप में समझा जा सकता है। किसी कार्यकलाप की आर्थिक प्रकृति प्रायः तब स्पष्ट होती है जब इकाइयाँ बाजार में माल और सेवाओं की प्रस्थापना करती हैं और जब उस कार्यकलाप से, संभावी तौर पर, लाभ प्राप्त किया जा सकता हो। इस प्रकार कोई इकाई जब आर्थिक कार्यकलाप में लग जाती है तो उसके स्वरूप को विचार में लाए बिना वह अधिनियम की धारा 3 के अर्थातर्गत “उद्यम” बन जाती है। आर्थिक कार्यकलाप में ऐसा कोई भी कार्यकलाप सम्मिलित है जिसमें आर्थिक व्यापार अंतर्वलित होता है, चाहे वह मुनाफेवाला है या नहीं।

41. प्रस्तुत मामले में, स्वीकृततः, समन्वय समिति, जो अधिनियम की धारा 2(ठ) में अंतर्विष्ट परिभाषा के अनुसार एक “व्यक्ति” हो सकती है, स्वयमेव कोई आर्थिक कार्यकलाप नहीं कर रही है। इसलिए यदि हम ऐसे “व्यक्ति” अर्थात् समन्वय समिति के “करार” का अवलोकन करें तो यह अधिनियम की धारा 3(1) के अंतर्गत नहीं आ सकेगा क्योंकि यह करार माल के किसी उत्पादन, प्रदाय, वितरण, भण्डारण, अर्जन या नियंत्रण या

सेवाओं की व्यवस्था के बारे में नहीं है। समन्वय समिति, जो स्वयमेव और किसी अन्य के संयोजन के बिना कार्य करने वाला एक व्यापार संघ है, धारा 3 में वर्णित “उद्यम” या “व्यक्तियों के संगम” के प्रकार का नहीं समझा जाएगा। व्यापार संघ अपने सदस्यों की ओर से सामूहिक सौदाकारी के लिए कार्य करता है और आर्थिक कार्यकलाप में नहीं लगाता है। ऐसी परिस्थितियों में, यदि समन्वय समिति ने केवल व्यापार संघवादियों के रूप में कार्य किया होता तो बात अलग रही होती। तब, शायद, अधिकरण द्वारा अपनाए गए मत को कायम रखा जा सकता। तथापि, अधिकरण द्वारा जिस बात को समझने में अर्थात् व्यापार संघ के कार्यकलाप के उपर्युक्त सिद्धांत को लागू करने में चूक हुई, वह एक अति आवश्यक और महत्वपूर्ण तथ्य है, जिस पर महानिदेशक द्वारा तथा भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग द्वारा अपनी बहुमत की राय में ध्यान दिया गया था और वह तथ्य यह है: समन्वय समिति (या इस मामले के ईम्पा भी) वास्तव में उद्यमों का संगम (संघटक सदस्य) हैं और ये सदस्य फिल्मों के निर्माण, वितरण और प्रदर्शन के काम में लगे हैं। ईम्पा फिल्म निर्माताओं, वितरकों और प्रदर्शकों का एक संगम है जो मुख्य रूप से पश्चिमी बंगाल में क्रियाशील है। इसी तरह, समन्वय समिति फेडरेशन आफ सीनियर तकनीशियन एंड वर्कर्स आफ ईस्टर्न इंडिया तथा वेस्ट बंगाल पिक्चर्स आर्टिस्ट्स फोरम का संयुक्त मंच है। ईम्पा तथा समन्वय समिति दोनों मिलकर और समन्वित रीति में कार्य करते हैं। वे प्रतिस्पर्धी सदस्यों अर्थात् प्रस्तुत मामले में इतिलाकर्ता के बहिष्कार का आह्वान करने में एक साथ मिल गए थे और इसलिए समन्वय समिति को, इस तथ्य की उपेक्षा करते हुए कि यह उनके हेतुक का समर्थन कर रही है जो कि एक उद्यम हैं, एक व्यापार संघ के रूप में मानते हुए मामले पर संकीर्णता से विचार नहीं किया जा सकता है। इन निकायों के संघटक सदस्य उन सदस्यों की ओर से उत्पादन या वितरण या प्रदर्शन से संबंधित विनिश्चय करते हैं जो फिल्मों के उत्पादन, वितरण या प्रदर्शन के समरूप या तद्रूप कारबार में लगे हैं। इन दोनों निकायों के विनिश्चय में सदस्यों का सामूहिक आशय प्रतिबिम्बित होता है। जब कुछ सदस्य उत्पादन, वितरण या प्रदर्शन के कार्यक्षेत्र में लगे हुए पाए गए हैं, तो मामले को मात्र व्यापार संघवाद का बहाना करके उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए थी। इस कारण से, अनुच्छेद 19 के अधीन व्यापार संघ के अधिकार के आधार पर दिया गया तर्क, जैसा कि समन्वय समिति द्वारा दावा किया गया है, भी व्यवहार्य नहीं है।

42. तार्किक प्रक्रिया के दृष्टिकोण से मामले पर विचार करने पर

मामला साफ हो जाता है और धुंधलापन गायब हो जाता है। कोई भी स्पष्ट तौर पर यह कह सकता है कि टेलीविजन पर डब किए गए धारावाहिक के प्रदर्शन करने पर प्रतिषेध से प्रतिस्पर्धी पक्षकारों को अपने वाणिज्यिक कार्यकलापों को अग्रसर करने में रुकावट पैदा हुई है। अतः भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग ने ठीक ही यह मत व्यक्त किया है कि भाषा के नाम पर संरक्षा प्रतिस्पर्धा के हित के विरुद्ध जाती है और उपभोक्ता अपनी पसंद का उपयोग करने से वंचित होते हैं। समन्वय समिति के कृत्यों से निश्चित रूप से उपभोक्ताओं को उन्हें टी. वी. चैनल पर डब किए गए धारावाहिक देखने से वंचित करके अपहानि कारित हुई, भले ही संक्षिप्त अवधि के लिए। उसने पश्चिमी बंगाल राज्य में टी. वी. चैनलों पर डब किए गए धारावाहिकों के प्रदर्शन को वर्जित करके बाजार में प्रतिस्पर्धा को भी बाधित किया है। यह कृत्य उक्त डब किए गए टी. वी. धारावाहिक में नए विषय के प्रवेश में बाधा उत्पन्न करने की कोटि में आता है। ऐसे कृत्य और आचरण से बंगला में डब किए गए धारावाहिक का प्रदाय सीमित हुआ, जो अधिनियम की धारा 3(3)(ख) के उपबंध के अतिक्रमण की कोटि में आता है।

43. परिणामतः, भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग की यह अपील मंजूर की जाती है।

खर्च के लिए कोई आदेश नहीं किया जाता है।

अपील मंजूर की गई।

जस.

तमिलनाडु राज्य मार्फत सचिव और अन्य

बनाम

के. बालू और एक अन्य

31 मार्च, 2017

मुख्य न्यायमूर्ति जगदीश सिंह खेहर, न्यायमूर्ति (डा.) डी. वाई. चंद्रचूड़
और न्यायमूर्ति एल. नागेश्वर राव

संविधान, 1950 — अनुच्छेद 19(1)(छ), 133 और 142 — उच्चतम न्यायालय के तारीख 15 दिसम्बर, 2016 के निर्णय द्वारा राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गों के आसपास 500 मीटर की दूरी पर शराब की दुकानों को बंद करने का निदेश दिया जाना — निदेश को वापिस लेने, उपांतरित करने, समय-सीमा बढ़ाने आदि के लिए अपीलें फाइल किया जाना — न्यायालय द्वारा जारी किए गए निदेश शराब पीकर यान चलाने और राजमार्गों के आसपास शराब के विक्रय को प्रतिषिद्ध करने के लिए संघ सरकार की सतत् नीति और राज्यों को जारी किए गए परामर्शों पर आधारित है और 500 मीटर की दूरी विहित करना लोक हित में है तथा यह बात विधायी कृत्य धारण करने की कोटि में नहीं आती है ।

संविधान, 1950 — अनुच्छेद 133 और 142 — उच्चतम न्यायालय के तारीख 15 दिसम्बर, 2016 के निर्णय द्वारा राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गों के आसपास 500 मीटर की दूरी पर शराब की दुकानों को बंद करने का निदेश दिया जाना — निदेश को वापिस लेने, उपांतरित करने, समय-सीमा बढ़ाने आदि के लिए अपीलें फाइल किया जाना — बीस हजार या इससे कम जनसंख्या वाले स्थानीय निकायों में समाविष्ट क्षेत्रों में 500 मीटर की दूरी को उपांतरित करके 220 मीटर करते हुए विद्यमान अनुज्ञप्तियां सितम्बर, 2017 तक जारी रहने और किसी भी दशा में 30 सितम्बर, 2017 के पश्चात् जारी नहीं रहने का निदेश दिया जाता है ।

वर्तमान मामले में, उच्चतम न्यायालय ने तमिलनाडु राज्य तथा पंजाब और हरियाणा राज्यों से उत्पन्न हुई सिविल अपीलों के एक समूह में तारीख 15 दिसंबर, 2016 को निर्णय दिया था । इस न्यायालय का यह निर्णय तमिलनाडु राज्य मार्फत सचिव, गृह, मद्यनिषेध और आबकारी विभाग बनाम के. बालू के रूप में संप्रकाशित है । जिस विवादक पर न्यायालय ने विचार

किया था, वह देश में सर्वत्र राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गों पर शराब की दुकानों की मौजूदगी का था। सड़क दुर्घटनाओं के शासकीय आंकड़ों के साथ-साथ इन दुर्घटनाओं के कारण होने वाली मौतों और क्षतियों ने इस न्यायालय के हस्तक्षेप के लिए पृष्ठभूमि मुहैया की। इस न्यायालय ने शराब के नशे में यान चलाने पर रोक लगाने की संघ सरकार की सतत् नीति और इस नीति की प्रसंगति के रूप में राष्ट्रीय राजमार्गों से शराब विक्रेताओं को हटाने की नीति को उद्धृत किया। भारत में सड़क दुर्घटनाओं का एक महत्वपूर्ण कारण शराब के नशे में यान चलाना है और इस बात को ध्यान में रखते हुए राज्य राजमार्गों पर शराब विक्रेताओं को अनुज्ञा देने का कोई औचित्य नहीं है। इसलिए इस न्यायालय के निर्णय द्वारा राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गों के साथ-साथ राजमार्ग या उसके साथ लगी सर्विस-लेन के बाह्य किनारे से 500 मीटर की दूरी पर शराब के विक्रय के लिए अनुज्ञप्तियां प्रदान करने पर रोक लगाने के लिए निदेश जारी किए गए। इन निदेशों को वापस लेने, इनमें उपांतरण करने और अंतिम समय-सीमा में विस्तार करने के लिए अलग-अलग पक्षकारों द्वारा अपीलों का समुच्चय फाइल किया गया। उच्चतम न्यायालय द्वारा अपीलों का निपटारा करते हुए,

अभिनिर्धारित – राज्य के आबकारी नियमों में सामर्थ्यकारी उपबंध अंतर्विष्ट हैं। उनमें शराब के विक्रय के लिए अनुज्ञप्तियां प्रदान करने के लिए विवेकाधिकार का उपबंध है। शराब का कारबार करने का कोई मूल अधिकार नहीं है, चूंकि सांविधानिक सिद्धांत के विषय के रूप में अनुच्छेद 19(1)(छ) का विस्तार शराब के व्यापार तक नहीं है जिसे सतत् रूप से वाणिज्य इतर वस्तु समझा गया है। जहां किसी ऐसे आबकारी नियम में, जो राज्य सरकार द्वारा बनाया गया है, किसी संस्था या सुख-साधन से विनिर्दिष्ट दूरी बनाए रखने का उपबंध किया गया है, तो इसका आधार तत्व यह है कि राज्य सरकार द्वारा उस दूरी के भीतर कतई कोई अनुज्ञप्ति प्रदान नहीं की जा सकती है। राज्य को विवेकाधिकार है कि अपनी सामर्थ्यकारी शक्तियों के अधीन कोई अनुज्ञप्ति प्रदान की जाए या नहीं। कोई व्यक्ति अनुज्ञप्ति प्रदान करने के लिए अधिकार के रूप में दावा नहीं कर सकता है—शराब का व्यापार करना राज्य द्वारा प्रदत्त एक विशेषाधिकार है। इस न्यायालय द्वारा जो निदेश जारी किए गए हैं, उनसे प्रतिषेध की प्रकृति के किसी सन्नियम का भंग नहीं होता है और न ही वे विधि द्वारा अधिरोपित कोई प्रतिषेध हटाने के रूप में लागू होते हैं। इन निदेशों का प्रभाव और तात्पर्य यह है कि लोक सुरक्षा और लोक स्वास्थ्य के हित में

राष्ट्रीय या राज्य राजमार्गों से या राजमार्ग के पास की सर्विस लेन के बाह्य किनारे से 500 मीटर की दूरी बनाए रखी जानी चाहिए। यह बात न्यायालय द्वारा विधायी कृत्य धारण करने की कोटि में नहीं आती है। वास्तव में राजमार्ग से एक दूरी बनाए रखने की आवश्यकता (यहां तक कि काउंसिल की दलील के अनुसार यह दूरी बहुत सारे राज्यों द्वारा अपनाई गई है) से यह सुनिश्चित करना है कि राजमार्ग के आसपास के लिए अनुज्ञप्तियां देने पर प्रतिषेध राजमार्ग के बिल्कुल निकट आउटलेट की मौजूदगी से विफल न हो। पर्याप्त प्रतिरोध बनाए रखना उस सिद्धांत की एक आवश्यक प्रसंगति है जो राजमार्ग के उपयोक्ताओं के लिए आसानी से शराब की उपलब्धता को रोकने के लिए है। किसी भी स्थिति में, 500 मीटर की विहित दूरी, जो कि स्पष्ट रूप से लोक हित में है, की शिकायत करने के लिए किसी प्राइवेट व्यक्ति की सुनवाई नहीं की जा सकती है। सड़क परिवहन और राजमार्ग मंत्रालय द्वारा उपलब्ध कराए गए सड़क दुर्घटनाओं पर आंकड़ों के प्रतिकूल यह न्यायालय विद्वान् ज्येष्ठ काउंसिल श्री के. के. वेणुगोपाल की इस दलील को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं कि शराब पीकर यान चलाना सड़क दुर्घटनाओं का सबसे महत्वपूर्ण कारण नहीं है (विद्वान् काउंसिल के अनुसार अत्यधिक तीव्र गति मुख्य कारण है)। ड्राइवर के शराब के नशे में होने के कारण भी अत्यधिक तीव्र गति हो सकती है। विद्वान् काउंसिल ने आग्रह किया कि गुजरात जैसे “मद्य-निषेध” राज्य में भी शराब पीकर यान चलाने के कारण दुर्घटनाएं घटती हैं। इंटरनेट पर प्राइवेट वेब-साइट की शंकास्पद प्रामाणिकता को छोड़कर हमने सड़क परिवहन और राजमार्ग मंत्रालय के शासकीय आंकड़ों का अवलंब लेना ज्यादा उचित समझा। इस बात पर भी जोर देना आवश्यक है कि दुर्घटनाओं के एक कारण के रूप में शराब पीकर यान चलाने की घटनाओं को इस बात को ध्यान में रखते हुए कम प्रकाशित करने की प्रवृत्ति है ताकि विपदग्रस्तों या उनके उत्तराधिकारियों के प्रतिकर के दावों पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। वास्तव में, श्री वेणुगोपाल द्वारा अवलंब लिए गए आंकड़ों में भी यह उल्लेख है कि वर्ष 2011 में शराब पीकर यान चलाने के कारण हुई दुर्घटनाओं की अधिकतम प्रबलता उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु में थी। इसलिए यह न्यायालय इस दलील में कोई सार नहीं पाता है। (पैरा 15 और 16)

तीन ऐसे क्षेत्र हैं जहां, जो इस न्यायालय द्वारा निदेश जारी किए गए हैं, उनकी कठिनता में, निर्णय के अंतर्निहित मूलभूत सिद्धांत को प्रभावित

किए बिना, उपयुक्त रूप से फेरबदल किए जाने की आवश्यकता है । पहला क्षेत्र 20,000 लोगों से अन्यून जनसंख्या वाले स्थानीय निकायों की परिसीमाओं के संबंध में है । इस न्यायालय के समक्ष यह आग्रह किया गया कि ऐसे क्षेत्रों में राज्य का राजमार्ग आवाजाही का मुख्य क्षेत्र है जिसके आसपास 20,000 या कम के छोटे-छोटे नगर-क्षेत्र विकसित हो गए हैं । इसलिए राजमार्ग या इसकी सर्विस लेन के बाहरी किनारे से 500 मीटर की दूरी बनाए रखने की अपेक्षा के परिणामस्वरूप ऐसी स्थिति हो सकती है, जहां संपूर्ण स्थानीय क्षेत्र प्रतिषिद्ध दूरी के भीतर आ जाए । हम इस दलील में कुछ सार पाते हैं । हम जोर देकर यह स्पष्ट करते हैं कि ऐसे क्षेत्रों में भी, जो 20,000 से कम जनसंख्या वाले स्थानीय निकायों के अंतर्गत आते हैं, न तो राष्ट्रीय और न ही राज्य राजमार्ग के आसपास या राजमार्ग की सर्विस लेन के आसपास शराब के विक्रय के लिए कोई अनुज्ञप्ति जारी की जाए । इसी प्रकार, शराब का विक्रय ऐसे स्थल से होना चाहिए जो न तो राष्ट्रीय या राज्य राजमार्ग से दृष्टिगोचर हो और न ही राष्ट्रीय या राज्य राजमार्ग से वह स्थल सीधे पहुंच में हो । तथापि, ऐसी स्थिति में, इस न्यायालय का यह मत है कि राष्ट्रीय या राज्य राजमार्ग या राजमार्ग के साथ की सर्विस लेन के बाहरी किनारे से प्रतिषिद्ध दूरी 220 मीटर निर्बंधित की जानी चाहिए । तदनुसार, यह न्यायालय यह निदेश देता है कि इस न्यायालय के तारीख 15 दिसंबर, 2016 के निर्णय के प्रवर्तनशील भाग के पैरा 24 में निर्देश (v) के पश्चात् निम्नलिखित पैरा अंतःस्थापित किया जाएगा, अर्थात् :- “ऐसे क्षेत्रों की दशा में, जो 20,000 या इससे कम लोगों की जनसंख्या वाले स्थानीय निकायों में समाविष्ट हैं, 500 मीटर की दूरी कम करके 220 मीटर हो जाएगी ।”

द्वितीय क्षेत्र जिस पर यह न्यायालय शिथिलीकरण जारी करना प्रस्तावित करता है, वह इस न्यायालय के निर्णय के पैरा 24 में अंतर्विष्ट निदेश (iii) की बाबत है । इस न्यायालय ने यह निदेश दिया है कि ऐसी विद्यमान अनुज्ञप्तियां, जो आदेश की तारीख से पूर्व नवीनीकृत की जा चुकी हैं, वे केवल अनुज्ञप्ति के पर्यवसान की अवधि किंतु तारीख 1 अप्रैल, 2017 के अपश्चात् तक जारी रहेंगी । यह निदेश इस आधार पर किया गया था कि वित्तीय वर्ष की समाप्ति के साथ-साथ आबकारी वर्ष 31 मार्च को समाप्त होता है । इस न्यायालय को सुनवाई के दौरान बताया गया कि अलग-अलग राज्यों में उनके आबकारी वर्षों के लिए प्रवर्तन की अलग-अलग अवधियां हैं । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसिल श्री पी. पी. राव ने आग्रह किया कि निदेशों का कार्यान्वयन इस प्रकार किया जाना चाहिए ताकि व्यापार, जो कि अवैध नहीं है, पर

न्यूनतम “बुरा प्रभाव पड़े”। उदाहरण के लिए, इस न्यायालय का ध्यान इस तथ्य की ओर दिलाया गया कि तेलंगाना में आबकारी वर्ष 1 अक्टूबर से आरंभ होकर अगले वर्ष 30 सितंबर को समाप्त होता है। यह बताया गया कि आंध्र प्रदेश राज्य में आबकारी वर्ष 30 जून को समाप्त होता है। ऐसे अनुज्ञप्तिधारी जिन्हें निर्णय की तारीख से पूर्व अनुज्ञप्तियां आबंटित की गई हैं, ने अपने-अपने विनिधान किए होंगे। 1 अप्रैल, 2017 की अंतिम तारीख ऐसे व्यक्तियों की संरक्षा करने के लिए आशयित थी। तथापि, अलग-अलग आबकारी वर्षों के प्रचलन के कारण कुछ उपांतरण आवश्यक है। इस न्यायालय के मत में, इस न्यायालय के निर्णय के पैरा 24 में निदेश (iii) की निरंतरता में निम्नलिखित निदेश जारी करने से न्याय के उद्देश्य की पूर्ति हो जाएगी : “शराब के विक्रय के लिए उन अनुज्ञप्तियों के मामले में, जो तारीख 15 दिसंबर, 2016 से पूर्व नवीनीकृत की गई हैं और संबंधित राज्य के आबकारी वर्ष की समाप्ति तारीख 1 अप्रैल, 2017 को या उसके पश्चात् होनी है, तो विद्यमान अनुज्ञप्ति तब तक जारी रहेगी जब तक कि अनुज्ञप्ति का पर्यवसान नहीं हो जाता है किंतु किसी भी दशा में तारीख 30 सितंबर, 2017 के पश्चात् जारी नहीं रहेगी।” दूसरे शब्दों में, कोई अनुज्ञप्ति न तो प्रदान की जाएगी, न ही नवीनीकृत की जाएगी और न ही 30 सितंबर, 2017 के पश्चात् इस न्यायालय के निदेश का अतिक्रमण करके प्रवर्तन में रहेगी। तृतीय क्षेत्र सिक्किम (जिसकी ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउंसिल श्री ए. के. गांगुली द्वारा बहस की गई) तथा मेघालय राज्यों के संबंध में है, जिन्होंने पहाड़ी भू-भाग की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए निर्णय में उपयुक्त उपांतरण करने के लिए इस न्यायालय में समावेदन किया है। सिक्किम राज्य के संबंध में, राज्य सरकार की ओर से इस न्यायालय को बताया गया कि राज्य का लगभग 82 प्रतिशत क्षेत्र वन-क्षेत्र है और इस न्यायालय के निदेशों के परिणामस्वरूप 92 प्रतिशत दुकानें बंद करनी होंगी। इसी प्रकार, मेघालय राज्य ने पहाड़ी भू-भाग होने के कारण राज्य की विद्यमान विलक्षण दशाओं को इस न्यायालय के समक्ष रखा। इस न्यायालय का यह मत है कि जहां तक मेघालय और सिक्किम राज्यों का संबंध है, इस न्यायालय के तारीख 15 दिसंबर, 2016 के निर्णय के पैरा 24(v)(iii) में उपबंधित 500 मीटर की दूरी की अपेक्षा से केवल इन दो राज्यों को छूट प्रदान करना पर्याप्त होगा। जहां तक हिमाचल प्रदेश राज्य का संबंध है, इस न्यायालय का यह मत है कि 20,000 की जनसंख्या वाले स्थानीय निकायों के अंतर्गत आने वाले क्षेत्रों की बाबत पहले ही जो छूट प्रदान की गई है, उससे इस राज्य के हितों की पर्याप्त

रूप से संरक्षा हो जाएगी । इस विषय में पहले ही जो कहा गया है, से अधिक और छूट प्रदान नहीं की जाती है । (पैरा 22, 23, 25 और 26)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[2017] (2017) 2 एस. सी. सी. 281 :

तमिलनाडु राज्य मार्फत सचिव, गृह, मद्यनिषेध
और आबकारी विभाग बनाम के. बालू ।

1

सिविल मूल अधिकारिता : 2016 की सिविल अपील सं. 12164-12166 में अंतरिम आवेदन सं. 4-6, 7-9, 10-12, 13-15, 16-18, 19-21, 22-24, 25-27, 28-30, 31-33, 34-36, 37-39 और 40-42.

संविधान, 1950 के अनुच्छेद 133 के अधीन अपील ।

उपस्थित पक्षकारों की ओर से

सर्वश्री मुकुल रोहतगी, ए. मरियापुथम (महासालिसिटर), (सुश्री) पिंकी आनंद (अपर महान्यायाधीश), के. रामकृष्ण रेड्डी (महाधिवक्ता), के. के. वेणुगोपाल, सुब्रमण्यम प्रसाद, आर. वेंकटा रमानी, (डा.) राजीव धवन, सलमान खुर्शीद, पी. पी. राव, श्याम दिवान, राजू रामचंद्रन, संजय आर. हेगड़े, जयदीप गुप्ता, एस. सूरी, आर. बसंत, अजित कुमार सिन्हा, ए. के. पंडा, सी. ए. सुंदरम, शेखर नफाडे, निधेश गुप्ता, ए. के. गांगुली, यशांक अध्येरू, एच. अहमदी, जयंत भूषण, सी. एस. वैद्यनाथन्, ए. के. सांघी (ज्येष्ठ अधिवक्तागण), डी. के. ठाकुर, देवदत्त कामत (अपर महाधिवक्तागण), बी. बालाजी, मुथुवेल पलानी, एस. उदय कुमार

सागर, वी. जी. प्रागसम, प्रभू
 रामसुब्रमणियन, यशराज सिंह बुंदेला,
 अंकूर तलवार, एन. के. पेरुमूल, एच.
 डी. कुमारवेल, (सुश्री) वी. एस.
 लक्ष्मी, ए. विनयगन बालन, डी. दास,
 आर. बी. फूकन, (सुश्री) नेहा टी.
 फूकन, ईशान दास, शैलेश मदियाल,
 शरीक अहमद, वरिन्द्र कुमार शर्मा,
 एम. राम बाबू, अशोक बणिदिनी, पी.
 वी. स्वर्ण राजा, मेका वेंकट राम
 कृष्ण, वामशी राव, सुबोध कुमार
 पाठक, अभिजीत चटर्जी, (सुश्री)
 शशि रंजन, आदिल अल्वी, (सुश्री)
 देवाहुति तामुली, (सुश्री) वृनाती
 बसक, अविजित पटनायक, श्रीसत्य
 मोहंती, पी. वी. दिनेश, (सुश्री) सिंधु
 टी. पी., बिनीश के., राजेन्द्र
 बेनीवाल, आरूषि सिंह, राघवेन्द्र एस.
 श्रीवत्स, वेंकेटा सुब्रमण्यम, राहत
 बंसल, जी. प्रकाश, जिष्णु एम. एल.,
 राम शंकर, (सुश्री) वी. जे. उषा,
 दिव्या सोलंकी, पी. जेगन, राजाराम
 नासायणन् आर. वी. कामेश्वरन, अमोल
 एन. सूर्यवंशी, अभिजीत
 चट्टोपाध्याय, संदीप लामसा, रंजय
 कुमार लाल दासे, (सुश्री) प्रियंका
 दास, (सुश्री) नंदिनी सेन, सुमन सेन
 गुप्ता, वेकेंटश्वर राव अनुमुलु, प्रभाकर
 प्रणाम, अरुण सिंह, आर. वी.
 कामेश्वरन्, (सुश्री) विनू टमटा, एस.
 एस. रावत, जी. एस. मक्कण,
 (सुश्री) ए. थानवी, आरिष सिंह
 लूथरा, ध्रुव दिवान, विकसित अरोड़ा,

(सुश्री) रीना चौधरी, कौशुभ देवमणि,
 (सुश्री) अनन्य घोष, महेश अग्रवाल,
 अभिनव अग्रवाल, (सुश्री) सदापुरिया
 मुखर्जी, मुजांल भट्ट, आशुतोष दूबे,
 कृष्णेंद्र सरकार, अभिषेक चौहान, बी.
 एस. रावत, (सुश्री) राजश्री दूबे
 (सुश्री) अरुणा माथुर, अवनीश
 आरपुथम, (सुश्री) अनुराधा आरपुथम,
 अमित अरोड़ा, पी. वी. योगेश्वरन,
 आशीष कुमार उपाध्याय, सुरेश चन्द्र
 त्रिपाठी, प्रसेनजीत केसवानी,
 सत्यजीत साहा, सिद्धार्थ कौशिक
 (श्रीमती वी. डी. खन्ना की ओर से),
 आशीष गुप्ता, दुष्यंत मनोचा, ईशान
 गौड़, आदित्य मुखर्जी, (सुश्री) तरुणा
 ढींगड़ा, एस. एस. शर्मा, वी. एन.
 रघुपति, परीक्षित पी. अंगदी, ज्येष के.
 उन्नीकृष्णन् (सुश्री) मंजू दास,
 अविरल कश्यप, (सुश्री) सुषमिता
 त्रिपाठी, आरोही भट्टा, अर्धनमौली
 कुमार प्रसाद, एस. के. दास, आर.
 नेदुरमन, (सुश्री) सुविरा लाल, (सुश्री)
 जी. एन. रामपाल, पीयूष कांत राय,
 रवि कमल गुप्ता, निखुंज दयाल,
 प्रमोद दयाल, (सुश्री) पायल दयाल,
 तेजस्वी कुमार प्रधान, एम. पादकारे,
 सुमंत नूकला, गोली रामकृष्ण, विनय
 नवारे, (सुश्री) आभा आर. शर्मा,
 कालीश्वरम राज, सविदत्त एम. एस.
 साई दीपक अय्यर, अरनोल्ड हार्वे,
 आशुतोष नागर, मनोज वी. जार्ज, बी.
 डी. दास, (सुश्री) शिल्पा लिज़ा जार्ज,
 अमित मसीहा, तरुण कांत सामंते,

रायम अब्राहम, (सुश्री) सीमा जैन, (सुश्री) रजनी ओहरी लाल (हर्मिंदर लाल की ओर से), पंकज पांडेय, डा. गजेन्द्र प्रसाद सिंह, एस. थनंजयन, जोतीमण्यन, वी. के. बिजू, रंजन मुखर्जी, सिद्धार्थ दवे, वी. बालाजी, टी. अशोक कुमार, प्रशांत केंजले, अतुल शर्मा, (सुश्री) श्रीप्रध के., राकेश के. शर्मा, यतीश मोहन (सुश्री) रीना यादव, केदार नाथ त्रिपाठी, म. ए. अलीम मजीद, समीर पारेख, सुमित गोयल, (सुश्री) नंदिता बाजपेयी, डा. राजीव बी. मसोदकर, अज़ीम कालेबुद्धे, रवि शर्मा, सुमित कुमार, सुधीर चंद श्रीवास्तव, (सुश्री) दीक्षा राय, राज शेखर राव, समीर डावर, नरेन्द्र सिंह यादव, (सुश्री) हेतु अरोड़ा सेठी, योगेश नागिया और अमित सूद

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति (डा.) डी. वाई. चन्द्रचूड़ ने दिया ।

न्या. (डा.) चन्द्रचूड़ – इस न्यायालय ने तमिलनाडु राज्य तथा पंजाब और हरियाणा राज्यों से उत्पन्न हुई सिविल अपीलों के एक समूह में तारीख 15 दिसंबर, 2016 को निर्णय दिया था । इस न्यायालय का यह निर्णय **तमिलनाडु राज्य मार्फत सचिव, गृह, मद्यनिषेध और आबकारी विभाग बनाम के. बालू¹** के रूप में संप्रकाशित है । जिस विवादक पर न्यायालय ने विचार किया था, वह देश में सर्वत्र राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गों पर शराब की दुकानों की मौजूदगी का था । सड़क दुर्घटनाओं के शासकीय आंकड़ों के साथ-साथ इन दुर्घटनाओं के कारण होने वाली मौतों और क्षतियों ने इस न्यायालय के हस्तक्षेप के लिए पृष्ठभूमि मुहैया की । इस न्यायालय ने शराब के नशे में यान चलाने पर रोक लगाने की संघ सरकार की सतत् नीति और इस नीति की प्रसंगति के रूप में राष्ट्रीय राजमार्गों से शराब विक्रेताओं

¹ (2017) 2 एस. सी. सी. 281.

को हटाने की नीति को उद्धृत किया। इस न्यायालय के उस निर्णय का निष्कर्ष यह है कि भारत में सड़क दुर्घटनाओं का एक महत्वपूर्ण कारण शराब के नशे में यान चलाना है और इस बात को ध्यान में रखते हुए राज्य राजमार्गों पर शराब विक्रेताओं को अनुज्ञा देने (उन्हें राष्ट्रीय राजमार्गों पर प्रतिषिद्ध करते हुए) का कोई औचित्य नहीं है। इसलिए इस न्यायालय के निर्णय द्वारा राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गों के साथ-साथ राजमार्ग या उसके साथ लगी सर्विस लेन के बाह्य किनारे से 500 मीटर की दूरी पर शराब के विक्रय के लिए अनुज्ञप्तियां प्रदान करने पर रोक लगाने के लिए निम्नलिखित निदेश जारी किए गए। विद्यमान अनुज्ञप्तियों को चरणबद्ध तरीके से हटाने के लिए 1 अप्रैल, 2017 की तारीख नियत की गई है। ये निदेश नीचे उपवर्णित किए जाते हैं :-

“(i) सभी राज्य और संघ राज्यक्षेत्र राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गों के आसपास शराब के विक्रय के लिए अनुज्ञप्तियां प्रदान करना तुरंत बंद करेंगे और इससे विरत रहेंगे ;

(ii) उपरोक्त (i) में अंतर्विष्ट प्रतिषेध ऐसे राजमार्गों तक विस्तृत होगा और इसमें सम्मिलित होंगे जो किसी नगरपालिका निगम, शहर, कस्बा या स्थानीय प्राधिकरण के अंतर्गत आते हैं ;

(iii) विद्यमान अनुज्ञप्तियां, जिनका इस आदेश की तारीख से पूर्व नवीनीकरण किया गया है, अनुज्ञप्ति की अवधि का पर्यवसान होने तक जारी रहेंगी किंतु तारीख 1 अप्रैल, 2017 के पश्चात् नहीं।

(iv) राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गों दोनों पर शराब की उपलब्धता के सभी संकेत-चिह्न और विज्ञापन प्रतिषिद्ध होंगे और जो विद्यमान हैं, उन्हें तुरंत हटाया जाएगा ;

(v) शराब के विक्रय की कोई दुकान (i) किसी राष्ट्रीय या राज्य राजमार्ग से दृष्टिगोचर नहीं होगी ; (ii) किसी राष्ट्रीय या राज्य राजमार्ग से पहुंच में नहीं होगी और (iii) राष्ट्रीय या राज्य राजमार्ग या राजमार्ग के साथ लगी सर्विस लेन के बाह्य किनारे से 500 मीटर की दूरी के भीतर स्थित नहीं होगी ;

(vi) सभी राज्यों और संघ राज्यक्षेत्रों को उपरोक्त निदेशों का कड़ाई से प्रवर्तन कराने के आदेश दिए जाते हैं। मुख्य सचिव और पुलिस महानिदेशक एक माह के भीतर राज्य के राजस्व और गृह विभागों से परामर्श करके प्रवर्तन के लिए एक योजना तैयार करेंगे

और अन्य बातों के साथ-साथ, जिला कलेक्टरों और पुलिस अधीक्षकों तथा अन्य सक्षम प्राधिकारियों को उत्तरदायित्व सौंपा जाएगा । अनुपालन की गई कार्रवाई पर पाक्षिक रिपोर्ट मांगते हुए कड़ाईपूर्वक मानीटर किया जाएगा ।

(vii) ये निदेश संविधान के अनुच्छेद 142 के अधीन जारी किए जाते हैं ।”

2. आवेदनों का यह समुच्चय जिनमें से लगभग 68, मूल रूप से (i) कतिपय मामलों में अनुपालन के लिए समय के विस्तार के लिए ; या (ii) यथास्थिति, इस न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय के उपांतरण या इसे वापस लेने के लिए हैं, फाइल किया गया है ।

3. हम प्रारंभ में यह उपदर्शित कर सकते हैं कि विवाद्यक की वह प्रकृति और महत्व जो इस न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय में प्रतिबिम्बित होती है तथा लोक हित के उस महत्वपूर्ण तत्व को ध्यान में रखते हुए जो राष्ट्र के राजमार्गों पर शराब पीकर यान चलाने की वजह से कारित होने वाली सड़क दुर्घटनाओं पर विचार करने के लिए अंतर्वलित है, हमने तारीख 29 और 30 मार्च, 2017 को विस्तारपूर्वक दलीलें सुनी ताकि तारीख 1 अप्रैल, 2017 की निश्चित अवधि से पूर्व मामले का समाधान किया जा सके । ऐसे कुछ राज्यों और प्राइवेट पक्षकारों ने, जो मूल कार्यवाहियों के दौरान न्यायालय के समक्ष नहीं थे, यह आग्रह किया कि इस न्यायालय द्वारा जारी किए गए निदेशों के विषय में उनकी दलीलों पर विचार किया जाना चाहिए । इसलिए हमारा यह मत है कि ऋजुता के हित में यह उचित होगा कि यह अवधारण करने के लिए कि क्या इस न्यायालय के अंतिम निर्णय में कोई उपांतरण अपेक्षित है और यदि है तो उस उपांतरण की प्रकृति क्या हो जो आवश्यक है, उनके दृष्टिकोणों पर निष्पक्षता से विचार किया जाए । इसलिए हम इस तकनीकी से बाध्य नहीं हैं कि ये “अंतर्वर्ती आवेदन” ऐसी कार्यवाही में कायम रखने योग्य हैं या नहीं जिसका निपटारा हो चुका है । उन विवाद्यकों के महत्व को ध्यान में रखते हुए जिन पर उस निर्णय और आदेश में विचार किया गया है, हमारा यह सुविचारित मत है कि इस न्यायालय को उन राज्यों तथा विविध दृष्टिकोण रखने वाले पक्षकारों द्वारा की गई सहायता का फायदा मिलना चाहिए जिन्होंने इस न्यायालय में समावेदन किया है ताकि एक ऐसे निष्कर्ष को सुकर बनाया जा सके जो न्यायसंगत हो और जो उचित सुनवाई के पश्चात् निकाला जा सके । तदनुसार, हमने वह कार्य-दिशा अपनाई और

पूर्ववर्ती सुनवाई की दो तारीखों पर उन विद्वान् काउंसलों द्वारा सहायता की गई जिन्होंने इस विषय पर काफी मेहनत करके अपना कार्य किया है।

4. संदर्भ की सुविधा के लिए, हम यह उपदर्शित कर सकते हैं कि वर्तमान कार्यवाहियों में आठ राज्यों ने (संघ राज्यक्षेत्र पुडुचेरी के अतिरिक्त) इस न्यायालय में समावेदन किया है। इस न्यायालय के समक्ष जो राज्य हैं वे हैं :-

1. आंध्र प्रदेश
2. हिमाचल प्रदेश
3. कर्नाटक
4. केरल
5. सिक्किम
6. तेलंगाना
7. मेघालय
8. तमिलनाडु।

5. हम यह उपदर्शित कर सकते हैं कि निम्नलिखित राज्यों ने कोई आवेदन फाइल नहीं किया है :-

1. अरुणाचल प्रदेश
2. असम
3. छत्तीसगढ़
4. गोवा
6. गुजरात
7. हरियाणा
8. मध्य प्रदेश
9. महाराष्ट्र
10. मणिपुर
11. मिज़ोरम

12. नागालैंड
13. उड़ीसा
14. पंजाब
15. राजस्थान
16. त्रिपुरा
17. उत्तर प्रदेश
18. पश्चिमी बंगाल ।

6. कार्यवाहियों के अनुक्रम में मुख्य सचिव, मध्य प्रदेश सरकार द्वारा यह कथन करते हुए एक शपथपत्र फाइल किया गया कि राज्य सरकार द्वारा इस न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय को, मंत्रि-परिषद् द्वारा तारीख 16 जनवरी, 2017 को एक प्रस्ताव पारित करके, स्वीकार किया गया है । मुख्य सचिव ने न्यायालय को यह सूचित किया कि :-

“भारत के माननीय उच्चतम न्यायालय, नई दिल्ली द्वारा सिविल अपील सं. 12164-12166/2016 में तारीख 15 दिसंबर, 2016 को पारित किए गए आदेश के अनुपालन में मध्य प्रदेश की मंत्रि-परिषद् ने तारीख 16 जनवरी को हुई अपनी बैठक में वर्ष 2017-18 की आबकारी नीति में इस बात का अनुपालन करना सुनिश्चित किया है कि राष्ट्रीय/राज्य राजमार्गों की सर्विस लेन से 500 मीटर की दूरी के भीतर कोई शराब की दुकान स्थित नहीं होगी । राष्ट्रीय/राज्य राजमार्गों से सीधे तौर पर कोई शराब की दुकान दृष्टिगोचर या पहुंच में नहीं होगी । शराब की उपलब्धता को प्रकट करने वाला किसी भी रूप में कोई संकेत-चिह्न या विज्ञापन प्रतिषिद्ध होगा ।

वाणिज्यिक कर विभाग, मध्य प्रदेश सरकार ने तारीख 17 जनवरी, 2017 के अपने आदेश सं. एफ. बी.-01-2017/2/ पांच (आदेश की प्रति संलग्न है) के बिंदु सं. 4 में राष्ट्रीय/राज्य राजमार्गों पर शराब की दुकानों की अवस्थिति के संबंध में उपर्युक्त आशय का आदेश जारी किया है । समझौता वर्ष 2017-18 के लिए देशी/विदेशी शराब के खुदरा विक्रय की दुकानों के बारे में जनता को उक्त उपबंधों की साधारण जानकारी के लिए उपर्युक्त आशय के अनुदेश जारी किए गए हैं, जो तारीख 18 जनवरी, 2017 के मध्य प्रदेश राजपत्र (असाधारण) सं. 27 में प्रकाशित किए गए हैं ।”

7. दिल्ली पर्यटन विकास निगम की ओर से यह कथन किया गया कि 547 शराब की दुकानों में से 14 दुकानें 500 मीटर के सन्नियम के अतिक्रमण में हैं। इन शराब की दुकानों को स्थानांतरित करने के लिए एक समिति गठित की गई है और प्रक्रिया शुरू हो गई है। छह माह के विस्तार की ईप्सा की गई है।

8. सुनवाई के दौरान, आंध्र प्रदेश राज्य की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसिल ने न्यायालय को सूचित किया कि राज्य सरकार ने निर्णय को स्वीकार किया है और तदनुसार उसके द्वारा फाइल किए गए अंतर्वर्ती आवेदन को प्रत्याहृत किया जा रहा है। तदनुसार, अंतरिम आवेदन डायरी सं. 11840 प्रत्याहृत के रूप में खारिज किया जाता है।

9. इसी प्रकार तेलंगाना राज्य ने न्यायालय को सूचित किया कि उसकी आबकारी नीति के अधीन आबकारी वर्ष की समाप्ति 30 सितंबर को होनी है। न्यायालय के समक्ष की गई सीमित प्रार्थना अनुपालन के लिए समय के विस्तार के बारे में है ताकि 30 सितंबर, 2017 को आबकारी वर्ष की समाप्ति पर चालू अनुज्ञप्तियों के पर्यवसान को सुकर बनाया जा सके।

10. पूर्ववर्ती सूचीबद्ध राज्यों के अतिरिक्त, न्यायालय ने यथास्थिति, शराब के व्यक्तिगत अनुज्ञप्तिधारियों और व्यापार के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली एसोसिएशनों द्वारा संस्थित किए गए अंतर्वर्ती आवेदनों को भी विचाराधीन रखा।

11. भारत के विद्वान् महान्यायवादी द्वारा (तमिलनाडु राज्य की ओर से हाजिर होते हुए) इस न्यायालय के समक्ष दी गई मुख्य दलील यह है कि इस न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय से अनुच्छेद 142 द्वारा प्रदत्त सांविधानिक शक्ति की परिसीमाओं का उल्लंघन हुआ है। जिस आधार पर यह दलील दी गई है, यह है कि विभिन्न राज्यों द्वारा अपनी सामर्थ्यकारी विधायी शक्तियों के अधीन जो आबकारी नियम बनाए जाते हैं उनमें राजमार्गों के संबंध में शराब की दुकानों के अवस्थान की दूरियां विहित की जाती हैं। उदाहरणार्थ, यह उल्लेख किया गया कि कतिपय राज्यों के आबकारी नियमों में विहित दूरी 220 मीटर है। इसी प्रकार ऐसे नगरपालिका और स्थानीय क्षेत्रों के लिए छूट उपलब्ध है जिनसे होकर राजमार्ग का कोई भाग गुजरता है। यह आग्रह किया गया है कि राज्य के आबकारी नियमों के अधीन विहित की गई दूरी में इस न्यायालय द्वारा जारी

किए गए उन निदेशों से हस्तक्षेप होता है जिनमें राष्ट्रीय या राज्य राजमार्गों या राजमार्ग के आसपास की सर्विस लेन के बाह्य किनारे से 500 मीटर की दूरी के भीतर शराब बेचने के लिए दुकानें खोलना प्रतिषिद्ध किया गया है। विद्वान् महान्यायवादी (अटर्नी जनरल) ने यह दलील दी कि प्रत्येक राज्य की भूतलीय और भौगोलिक दशाएं सुभिन्न हैं, इसीलिए देश भर में आबकारी नियमों में शराब की दुकानों के अवस्थान के लिए राजमार्गों से भिन्न-भिन्न दूरियां विहित की गई हैं। इसलिए यह आग्रह किया गया कि इस न्यायालय के लिए 500 मीटर की निश्चित दूरी विहित करना उचित नहीं है। महान्यायवादी ने यह आग्रह किया कि इस न्यायालय द्वारा नियुक्त समिति (इस न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश, न्यायमूर्ति एस. राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में) ने केवल 100 मीटर की दूरी की सिफारिश की थी। महान्यायवादी की दलील में जो गलती है वह राष्ट्रीय तथा राज्य राजमार्गों की तुलना करने में है। इसके अतिरिक्त, यह आग्रह किया गया कि यदि प्रतिषेध राष्ट्रीय और राज्य दोनों राजमार्गों पर लागू होना है, तो उन नगरपालिका क्षेत्रों में शराब की दुकानों के अवस्थान के लिए छूट दी जानी चाहिए जिनसे होकर राजमार्ग गुजरते हैं। अनुकल्पतः, यह आग्रह किया गया कि राज्य राजमार्गों के संबंध में दूरी को लेकर एक कमतर प्रतिषेध लगाना उचित होगा। महान्यायवादी ने अपनी दलील केवल राज्य राजमार्गों तक सीमित रखी।

12. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसिल डा. राजीव धवन ने यह आग्रह किया कि इस न्यायालय द्वारा दिया गया निर्णय असांविधानिक है और न्यायिक नीति बनाने की प्रकृति का है।

13. इन कार्यवाहियों में (कार्यवाहियां, जिनमें तारीख 15 दिसंबर, 2016 का निर्णय दिया गया था) भारत संघ का प्रतिनिधित्व श्री पांडा द्वारा किया गया था। श्री पांडा ने सुस्पष्ट रूप से यह प्रकथन किया कि संघ सरकार इस न्यायालय द्वारा तारीख 15 दिसंबर, 2016 को दिए गए निर्णय के समर्थन में है। श्री पांडा ने यह दलील दी कि इस निर्णय का समर्थन संघ सरकार की शराब पीकर यान चलाना बंद करने और राष्ट्रीय राजमार्गों के आसपास शराब के विक्रय को प्रतिषिद्ध करने की सतत् नीति और राज्यों को दिए गए परामर्शों से होता है।

14. इन दलीलों पर विचार करने के लिए प्रारंभ में हमारे लिए यह उल्लेख करना आवश्यक है कि इस न्यायालय ने अपनी अधिकारिता का

प्रयोग करते हुए न तो कोई नीति बनाई है और न ही (जैसा कि हम उपदर्शित करेंगे) कोई विधायी कृत्य धारण किया है। तारीख 15 दिसंबर, 2016 को दिए गए निर्णय का आधार और बुनियाद है (i) संघ सरकार की नीति जो सड़क परिवहन और राजमार्ग मंत्रालय, संघ सरकार द्वारा बनाई गई ; (ii) राष्ट्रीय सड़क सुरक्षा परिषद्, जो मोटर यान अधिनियम, 1988 की धारा 215 के अधीन स्थापित सड़क सुरक्षा के लिए सर्वोच्च निकाय है, का विनिश्चय ; (iii) एक दशक से अधिक अवधि से संघ सरकार द्वारा राज्यों को जारी किए गए परामर्श ; और (iv) शराब के नशे में यान चलाने के प्रति पूर्ण असहनशीलता का संसदीय आदेश, जो मोटर यान अधिनियम, 1988 की धारा 185 में स्पष्ट है। इस न्यायालय के निर्णय में सड़क परिवहन और राजमार्ग मंत्रालय द्वारा उसके परिवहन अनुसंधान विंग में सड़क दुर्घटनाओं पर जारी किए गए शासकीय आंकड़ों से ली गई सांख्यिकी, राष्ट्रीय सड़क सुरक्षा परिषद् के विनिश्चयों और संघ सरकार द्वारा पूर्ववर्ती दशक तक जारी किए गए परामर्शों (एडवाइज़री) को उद्धृत किया है। इस न्यायालय के निर्णय में, अन्य बातों के साथ-साथ, राष्ट्रीय सड़क सुरक्षा परिषद् द्वारा तेरह वर्ष पहले एक बैठक में किए गए इस आशय के विनिश्चय की ओर ध्यान दिलाया गया है कि राष्ट्रीय राजमार्गों के आसपास शराब की दुकानों के लिए अनुज्ञप्तियां नहीं दी जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त, न्यायालय ने सड़क परिवहन और राजमार्ग मंत्रालय द्वारा तारीख 26 अक्टूबर, 2007, 1 दिसंबर, 2011, 18 मार्च, 2013 और 21 मई, 2014 को राज्यों तथा संघ राज्यक्षेत्रों को जारी किए गए परामर्शों का भी अवलंब लिया है। मोटर यान अधिनियम की धारा 185 शराब के नशे में यान चलाने वालों को दंडित करने के संसद् के आशय की सूचक है। अतः इस न्यायालय द्वारा अपने निर्णय के पैरा 9 में निकाले गए निष्कर्ष, जिन्हें हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं, संघ सरकार की सुविचारित नीति पर आधारित हैं :-

“9. अभिलेख पर प्रस्तुत की गई सामग्री से यह उपदर्शित होता है कि -

(i) भारत में सड़क दुर्घटनाओं और घातक सड़क दुर्घटनाओं की ऊंची दर है - परामर्शों में से एक में यह कहा गया है कि प्रत्येक चार मिनट में एक दुर्घटना घटने के साथ यह दर विश्व में सर्वोच्च है।

(ii) यहां सड़क दुर्घटनाओं की अधिकांश घटना शराब के नशे में यान चलाने के कारण होती हैं ;

(iii) राष्ट्रीय सड़क सुरक्षा परिषद् और सड़क परिवहन और राजमार्ग मंत्रालय — जो श्रेष्ठ ज्ञान रखने वाले विशेषज्ञ प्राधिकरण हैं— के सुविचारित मत में राष्ट्रीय राजमार्गों पर शराब की दुकानों की विद्यमानता राष्ट्रीय राजमार्गों पर सड़क दुर्घटनाओं का एक कारण है ;

(iv) राज्य सरकारों और संघ राज्यक्षेत्रों को राष्ट्रीय राजमार्गों पर शराब की दुकानों को बंद करने और भविष्य में नई अनुज्ञप्तियां जारी न करना सुनिश्चित करने के लिए एडवाइज़री जारी की गई हैं.....।”

यह कहते हुए इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गों के बीच प्रभेद करने का कोई तर्कसंगत आधार नहीं है । शराब पीकर यान चलाने और उसके परिणामस्वरूप होने वाली मौतें या क्षतियां केवल राष्ट्रीय राजमार्गों तक सीमित नहीं हैं । इसलिए इस न्यायालय का निर्णय न तो कोई नीति बनाने की न्यायालय की कवायद है और न ही कोई विधायी कवायद करना है ।

15. महान्यायवादी (तमिलनाडु राज्य का प्रतिनिधित्व करते हुए) तथा अन्य विद्वान् ज्येष्ठ काउंसिल जिन्होंने वैसा ही तर्क दिया है, जो राज्य के आबकारी नियमों पर आधारित है, की दलील सारहीन है । राज्य के आबकारी नियमों में सामर्थ्यकारी उपबंध अंतर्विष्ट हैं । उनमें शराब के विक्रय के लिए अनुज्ञप्तियां प्रदान करने के लिए विवेकाधिकार का उपबंध है । शराब का काराबार करने का कोई मूल अधिकार नहीं है, चूंकि सांविधानिक सिद्धांत के विषय के रूप में अनुच्छेद 19(1)(छ) का विस्तार शराब के व्यापार तक नहीं है जिसे सतत् रूप से वाणिज्य इत्तर वस्तु समझा गया है । जहां किसी ऐसे आबकारी नियम में, जो राज्य सरकार द्वारा बनाया गया है, किसी संस्था या सुख-साधन से विनिर्दिष्ट दूरी बनाए रखने का उपबंध किया गया है, तो इसका आधार तत्त्व यह है कि राज्य सरकार द्वारा उस दूरी के भीतर कतई कोई अनुज्ञप्ति प्रदान नहीं की जा सकती है । राज्य को विवेकाधिकार है कि अपनी सामर्थ्यकारी शक्तियों के अधीन कोई अनुज्ञप्ति प्रदान की जाए या नहीं । कोई व्यक्ति अनुज्ञप्ति प्रदान करने के लिए अधिकार के रूप में दावा नहीं कर सकता है—शराब का व्यापार

करना राज्य द्वारा प्रदत्त एक विशेषाधिकार है। इस न्यायालय द्वारा जो निदेश जारी किए गए हैं, उनसे प्रतिषेध की प्रकृति के किसी सन्नियम का भंग नहीं होता है और न ही वे विधि द्वारा अधिरोपित कोई प्रतिषेध हटाने के रूप में लागू होते हैं। इन निदेशों का प्रभाव और तात्पर्य यह है कि लोक सुरक्षा और लोक स्वास्थ्य के हित में राष्ट्रीय या राज्य राजमार्गों से या राजमार्ग के पास की सर्विस लेन के बाह्य किनारे से 500 मीटर की दूरी बनाए रखी जानी चाहिए। यह बात न्यायालय द्वारा विधायी कृत्य धारण करने की कोटि में नहीं आती है। वास्तव में राजमार्ग से एक दूरी बनाए रखने की आवश्यकता (यहां तक कि काउंसिल की दलील के अनुसार यह दूरी बहुत सारे राज्यों द्वारा अपनाई गई है) से यह सुनिश्चित करना है कि राजमार्ग के आसपास के लिए अनुज्ञप्तियां देने पर प्रतिषेध राजमार्ग के बिल्कुल निकट आउटलेट की मौजूदगी से विफल न हो। पर्याप्त प्रतिरोध बनाए रखना उस सिद्धांत की एक आवश्यक प्रसंगति है जो राजमार्ग के उपयोक्ताओं के लिए आसानी से शराब की उपलब्धता को रोकने के लिए है। किसी भी स्थिति में, 500 मीटर की विहित दूरी, जो कि स्पष्ट रूप से लोक हित में है, की शिकायत करने के लिए किसी प्राइवेट व्यक्ति की सुनवाई नहीं की जा सकती है।

16. सड़क परिवहन और राजमार्ग मंत्रालय द्वारा उपलब्ध कराए गए सड़क दुर्घटनाओं पर आंकड़ों के प्रतिकूल हम विद्वान् ज्येष्ठ काउंसिल श्री के. के. वेणुगोपाल की इस दलील को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं कि शराब पीकर यान चलाना सड़क दुर्घटनाओं का सबसे महत्वपूर्ण कारण नहीं है (विद्वान् काउंसिल के अनुसार अत्यधिक तीव्र गति मुख्य कारण है)। ड्राइवर के शराब के नशे में होने के कारण भी अत्यधिक तीव्र गति हो सकती है। विद्वान् काउंसिल ने आग्रह किया कि गुजरात जैसे “मद्य-निषेध” राज्य में भी शराब पीकर यान चलाने के कारण दुर्घटनाएं घटती हैं। इंटरनेट पर प्राइवेट वेब-साइट की शंकास्पद प्रमाणिकता को छोड़कर हमने सड़क परिवहन और राजमार्ग मंत्रालय के शासकीय आंकड़ों का अवलंब लेना ज्यादा उचित समझा। इस बात पर भी जोर देना आवश्यक है कि दुर्घटनाओं के एक कारण के रूप में शराब पीकर यान चलाने की घटनाओं को इस बात को ध्यान में रखते हुए कम प्रकाशित करने की प्रवृत्ति है ताकि विपदग्रस्तों या उनके उत्तराधिकारियों के प्रतिकर के दावों पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। वास्तव में, श्री वेणुगोपाल द्वारा अवलंब लिए गए आंकड़ों में भी यह उल्लेख है कि वर्ष 2011 में शराब पीकर यान चलाने के

कारण हुई दुर्घटनाओं की अधिकतम प्रबलता उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु में थी। इसलिए हम इस दलील में कोई सार नहीं पाते हैं।

17. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसिल द्वारा इस न्यायालय के समक्ष दी गई दलीलों का अगला पहलू यह है कि राज्य राजमार्ग कस्बों, शहरों और गांवों से होकर गुजरते हैं। यह आग्रह किया गया कि 500 मीटर की प्रतिषेधात्मक दूरी के लागू होने से विशिष्ट रूप से वहां गंभीर कठिनाई पैदा होगी यदि किसी नगरपालिका क्षेत्र से एक से अधिक राज्य राजमार्ग परस्पर विभक्त करके गुजरते हुए पाए जाते हैं। इस न्यायालय के समक्ष कोयम्बटूर शहर का उदाहरण यह आग्रह करने के लिए दिया गया कि वहां एक नगरपालिका क्षेत्र से एक से अधिक राजमार्ग परस्पर विभक्त करते हुए गुजरते हैं इसलिए 500 मीटर की दूरी का पालन करने की बाध्यता से गंभीर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। यथास्थिति, शराब के व्यापार का प्रतिनिधित्व करने वाले संगमों या व्यष्टिक अनुज्ञप्तिधारियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसिलों ने यह आग्रह किया कि एक ऐसा क्रमबद्ध हल अंगीकार करना चाहिए जो राज्य राजमार्गों के ऐसे भागों को छूट प्रदान करता हो जो गांवों, शहरों और कस्बों से होकर गुजरते हैं। विद्वान् ज्येष्ठ काउंसिलगण श्री कपिल सिब्बल, श्री हरीश साव्ने, डा. ए. एम. सिंघवी, श्री जयंत भूषण तथा अन्य विद्वान् काउंसिलों ने इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपनाने का सुझाव दिया। कर्नाटक राज्य की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसिल श्री देवदत्त कामत ने एक उदाहरण के द्वारा न्यायालय को सूचित किया कि राज्य के आबकारी नियमों के अधीन 20,000 लोगों से अन्यून जनसंख्या वाली नगरपालिका के मामले में 220 मीटर की विहित दूरी के लागू होने से छूट दी गई है।

18. अपनी दलील को सुदृढ़ करने के लिए यह आग्रह किया गया कि इस न्यायालय द्वारा जो निदेश जारी किया गया है, उसके परिणामस्वरूप राज्यों को राजस्व की हानि होगी। यह दलील दी गई कि इस निदेश के परिणामस्वरूप उन मामलों में व्यक्तिगत कठिनाई होगी, जहां किसी शराब की दुकान को भौगोलिक अवस्थान या स्थलाकृति के कारण स्थानांतरित करना संभव न हो। अनुकल्पतः, यह दलील दी गई कि किसी शराब की दुकान को स्थानांतरित करने से अन्य कठिनाइयों, जैसे कि आवासीय क्षेत्रों की मौजूदगी या शैक्षणिक और धार्मिक संस्थाओं से एक निश्चित दूरी बनाए रखने की अपेक्षा, का सामना करना पड़ सकता है।

19. इस न्यायालय द्वारा तारीख 15 दिसंबर, 2016 को दिए गए निर्णय से राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गों के उन भागों के लिए छूट मंजूर न करने के लिए तर्काधार और मूल आधार उपदर्शित होता है, जो नगरपालिका या स्थानीय प्राधिकारियों की सीमा के अंतर्गत आते हैं। इस न्यायालय ने यह पाया कि ऐसे अपवर्जन से नीति ही विफल हो जाएगी, चूंकि राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गों की ऐसी दूरी के स्थानों के आसपास शराब की उपलब्धता से ड्राइवर्स को अपना शराब का स्टॉक परिपूर्ण करने का मौका मिल जाएगा और इसके परिणामस्वरूप वह स्थिति पैदा होगी जिससे बचने का नीति का प्रथम उद्देश्य है और जो निदेश इस न्यायालय द्वारा जारी किए गए हैं जिनमें राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गों के आसपास तथा किसी राजमार्ग के बाहरी किनारे से या राज्य राजमार्ग के साथ लगी सर्विस लेन से 500 मीटर की नियत दूरी के भीतर शराब के विक्रय के लिए अनुज्ञप्तियां प्रदान करना अवरुद्ध किया गया है। राजमार्गों के आसपास के क्षेत्र ही ऐसे नहीं हैं जहां राज्य द्वारा शराब के विक्रय के लिए अनुज्ञप्तियां दी जा सकती हों। राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गों के आसपास (या 500 मीटर की अनुबंधित दूरी) के अतिरिक्त राज्य और संघ राज्यक्षेत्रों के अन्य क्षेत्रों में, आबकारी नियमों की अन्य अपेक्षाओं के अनुपालन के अध्वधीन रहते हुए, अनुज्ञप्तियां प्रदान की जा सकती हैं। किसी भी राज्य ने न्यायालय के समक्ष कोई आंकड़ा यह उपदर्शित करने के लिए प्रस्तुत नहीं किया कि राज्य राजमार्ग के आसपास या विहित प्रतिरोधक दूरी से भिन्न क्षेत्र में उसके द्वारा अनुज्ञप्ति प्रदान नहीं की जा सकती है। यह मानने के लिए कि नगरपालिक क्षेत्रों में शराब की उपलब्धता केवल राजमार्ग के आसपास ही है, राज्य को विरोध करने का कारण बताना होगा। राजमार्ग के आसपास शराब का विक्रय विक्रेता के लिए प्रलोभक हो सकता है, किंतु यह बात किसी ऐसे सन्नियम की कसौटी नहीं है जिससे लोक स्वास्थ्य की संरक्षा होती हो और राष्ट्र के राजमार्गों पर मौतों को रोकने के लिए हो। राज्य, राज्यक्षेत्रों के ऐसे अति विस्तृत क्षेत्र में शराब के विक्रय के लिए अनुज्ञप्तियों से राजस्व वसूल करने के लिए स्वतंत्र हैं, जो राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गों तथा 500 मीटर की प्रतिरोधक दूरी से बाहर हैं।

20. राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गों के आसपास शराब के विक्रय की अनिष्टकारी प्रकृति की अनदेखी नहीं की जा सकती है। शराब पीकर यान चलाना सड़क दुर्घटनाओं में होने वाली मौतों और कारित होने वाली क्षतियों

का प्रबल कारण है। संविधान एक अति-महत्वपूर्ण सांविधानिक मूल्य के रूप में जीने के अधिकार को परिरक्षित और संरक्षित करता है। लोक स्वास्थ्य और लोक सुरक्षा का संरक्षण सांविधानिक रूप से संरक्षित मूल्यों के तौर पर जीने के अधिकार का वर्धन करने के लिए एक साधन है। जहां लोक स्वास्थ्य और सुरक्षा के संरक्षण तथा शराब पीकर यान चलाने के खतरे से सड़क उपयोक्ताओं की संरक्षा करने की आवश्यकता (एक ओर) तथा शराब का व्यापार करने (दूसरी ओर) के बीच संतुलन बनाया जाना हो तो पश्चात्पूर्ति का हित पूर्ववर्ती के अधीनस्थ रहना चाहिए।

21. आवेदकों की ओर से दी गई एक अन्य दलील यह है कि इस न्यायालय द्वारा नियुक्त की गई विशेषज्ञ समिति (जिसकी अध्यक्षता इस न्यायालय के पूर्ववर्ती न्यायाधीश न्यायमूर्ति एस. राधाकृष्णन् द्वारा की गई थी) द्वारा राजमार्गों के संबंध में 100 मीटर की दूरी की सिफारिश की थी। इस सिफारिश को ध्यान में रखते हुए यह दलील दी गई कि इस न्यायालय को 500 मीटर की न्यूनतम दूरी नियत नहीं करनी चाहिए थी। हम इस दलील में कोई सार नहीं पाते हैं। समिति की सिफारिश को इसके तात्पर्यित स्तर, अर्थात् एक सिफारिश के स्तर से उच्च स्तर पर नहीं रखा जा सकता है। विशेषज्ञ समिति की राय को इस न्यायालय के समक्ष उन कार्यवाहियों के दौरान सम्यक् रूप से उद्धृत किया गया था जिनमें तारीख 15 सितंबर, 2016 का निर्णय दिया गया था। हमारा यह मत है कि राजमार्ग के संबंध में 100 मीटर की दूरी यह सुनिश्चित करने के लिए पर्याप्त नहीं है कि राजमार्ग के उपयोक्ताओं की राजमार्ग के अति सन्निकट शराब के विक्रय तक पहुंच न हो। मात्र 100 मीटर की दूरी से वह प्रयोजन पूर्ण नहीं होगा जिसे प्राप्त किया जाना ईप्सित है। अतः हमने समिति की सिफारिश के इस भाग को स्वीकार नहीं किया है अपितु न्यूनतम दूरी को बढ़ाना उचित समझा है।

22. इस न्यायालय के समक्ष दी गई दलीलों पर विचार करने के पश्चात् हमारा यह मत है कि तीन ऐसे क्षेत्र हैं जहां, जो इस न्यायालय द्वारा निदेश जारी किए गए हैं, उनकी कठिनता में, निर्णय के अंतर्निहित मूलभूत सिद्धांत को प्रभावित किए बिना, उपयुक्त रूप से फेरबदल किए जाने की आवश्यकता है। पहला क्षेत्र 20,000 लोगों से अन्यून जनसंख्या वाले स्थानीय निकायों की परिसीमाओं के संबंध में है। इस न्यायालय के समक्ष यह आग्रह किया गया कि ऐसे क्षेत्रों में राज्य का राजमार्ग आवाजाही का मुख्य क्षेत्र है जिसके आसपास 20,000 या कम के छोटे-छोटे नगर-क्षेत्र

विकसित हो गए हैं। इसलिए राजमार्ग या इसकी सर्विस लेन के बाहरी किनारे से 500 मीटर की दूरी बनाए रखने की अपेक्षा के परिणामस्वरूप ऐसी स्थिति हो सकती है, जहां संपूर्ण स्थानीय क्षेत्र प्रतिषिद्ध दूरी के भीतर आ जाए। हम इस दलील में कुछ सार पाते हैं। हम जोर देकर यह स्पष्ट करते हैं कि ऐसे क्षेत्रों में भी, जो 20,000 से कम जनसंख्या वाले स्थानीय निकायों के अंतर्गत आते हैं, न तो राष्ट्रीय और न ही राज्य राजमार्ग के आसपास या राजमार्ग की सर्विस लेन के आसपास शराब के विक्रय के लिए कोई अनुज्ञप्ति जारी की जाए। इसी प्रकार, शराब का विक्रय ऐसे स्थल से होना चाहिए जो न तो राष्ट्रीय या राज्य राजमार्ग से दृष्टिगोचर हो और न ही राष्ट्रीय या राज्य राजमार्ग से वह स्थल सीधे पहुंच में हो। तथापि, ऐसी स्थिति में, हमारा यह मत है कि राष्ट्रीय या राज्य राजमार्ग या राजमार्ग के साथ की सर्विस लेन के बाहरी किनारे से प्रतिषिद्ध दूरी 220 मीटर निर्बंधित की जानी चाहिए। तदनुसार, हम यह निदेश देते हैं कि इस न्यायालय के तारीख 15 दिसंबर, 2016 के निर्णय के प्रवर्तनशील भाग के पैरा 24 में निर्देश (v) के पश्चात् निम्नलिखित पैरा अंतःस्थापित किया जाएगा, अर्थात् :-

“ऐसे क्षेत्रों की दशा में, जो 20,000 या इससे कम लोगों की जनसंख्या वाले स्थानीय निकायों में समाविष्ट हैं, 500 मीटर की दूरी कम करके 220 मीटर हो जाएगी।”

23. द्वितीय क्षेत्र जिस पर हम शिथिलीकरण जारी करना प्रस्तावित करते हैं, वह इस न्यायालय के निर्णय के पैरा 24 में अंतर्विष्ट निदेश (iii) की बाबत है। इस न्यायालय ने यह निदेश दिया है कि ऐसी विद्यमान अनुज्ञप्तियां, जो आदेश की तारीख से पूर्व नवीनीकृत की जा चुकी हैं, वे केवल अनुज्ञप्ति के पर्यवसान की अवधि किंतु तारीख 1 अप्रैल, 2017 के अपश्चात् तक जारी रहेंगी। यह निदेश इस आधार पर किया गया था कि वित्तीय वर्ष की समाप्ति के साथ-साथ आबकारी वर्ष 31 मार्च को समाप्त होता है। इस न्यायालय को सुनवाई के दौरान बताया गया कि अलग-अलग राज्यों में उनके आबकारी वर्षों के लिए प्रवर्तन की अलग-अलग अवधियां हैं। विद्वान् ज्येष्ठ काउंसिल श्री पी. पी. राव ने आग्रह किया कि निदेशों का कार्यान्वयन इस प्रकार किया जाना चाहिए ताकि व्यापार, जो कि अवैध नहीं है, पर न्यूनतम “बुरा प्रभाव पड़े”। उदाहरण के लिए, हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर दिलाया गया कि तेलंगाना में आबकारी वर्ष 1 अक्टूबर से आरंभ होकर अगले वर्ष 30 सितंबर को समाप्त होता है। यह

बताया गया कि आंध्र प्रदेश राज्य में आबकारी वर्ष 30 जून को समाप्त होता है। ऐसे अनुज्ञप्तिधारी जिन्हें निर्णय की तारीख से पूर्व अनुज्ञप्तियां आबंटित की गई हैं, ने अपने-अपने विनिधान किए होंगे। 1 अप्रैल, 2017 की अंतिम तारीख ऐसे व्यक्तियों की संरक्षा करने के लिए आशयित थी। तथापि, अलग-अलग आबकारी वर्षों के प्रचलन के कारण कुछ उपांतरण आवश्यक हैं। हमारे मत में, इस न्यायालय के निर्णय के पैरा 24 में निदेश (iii) की निरंतरता में निम्नलिखित निदेश जारी करने से न्याय के उद्देश्य की पूर्ति हो जाएगी :-

“शराब के विक्रय के लिए उन अनुज्ञप्तियों के मामले में, जो तारीख 15 दिसंबर, 2016 से पूर्व नवीनीकृत की गई हैं और संबंधित राज्य के आबकारी वर्ष की समाप्ति तारीख 1 अप्रैल, 2017 को या उसके पश्चात् होनी है, तो विद्यमान अनुज्ञप्ति तब तक जारी रहेगी जब तक कि अनुज्ञप्ति का पर्यवसान नहीं हो जाता है किंतु किसी भी दशा में तारीख 30 सितंबर, 2017 के पश्चात् जारी नहीं रहेगी।”

दूसरे शब्दों में, कोई अनुज्ञप्ति न तो प्रदान की जाएगी, न ही नवीनीकृत की जाएगी और न ही 30 सितंबर, 2017 के पश्चात् इस न्यायालय के निदेश का अतिक्रमण करके प्रवर्तन में रहेगी।

24. तमिलनाडु राज्य में शराब की दुकानों का संचालन तमिलनाडु राज्य विपणन निगम (टासमेक) द्वारा किया जाता है, जो कि राज्य के स्वामित्वाधीन इकाई है। इस न्यायालय के निर्णय में, राज्य के अनुरोध पर 1 अप्रैल, 2017 तक का समय प्रदान किया गया था। इसलिए हम तमिलनाडु राज्य को और अधिक विस्तार प्रदान करने से इनकार करते हैं।

25. तृतीय क्षेत्र सिक्किम (जिसकी ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउंसिल श्री ए. के. गांगुली द्वारा बहस की गई) तथा मेघालय राज्यों के संबंध में है, जिन्होंने पहाड़ी भू-भाग की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए निर्णय में उपयुक्त उपांतरण करने के लिए इस न्यायालय में समावेदन किया है। सिक्किम राज्य के संबंध में, राज्य सरकार की ओर से इस न्यायालय को बताया गया कि राज्य का लगभग 82 प्रतिशत क्षेत्र वन-क्षेत्र है और इस न्यायालय के निदेशों के परिणामस्वरूप 92 प्रतिशत दुकानें बंद करनी होंगी। इसी प्रकार, मेघालय राज्य ने पहाड़ी भू-भाग होने के कारण राज्य की विद्यमान विलक्षण दशाओं को इस न्यायालय के समक्ष रखा। हमारा यह मत है कि जहां तक मेघालय और सिक्किम राज्यों का संबंध है, इस

न्यायालय के तारीख 15 दिसंबर, 2016 के निर्णय के पैरा 24(v)(iii) में उपबंधित 500 मीटर की दूरी की अपेक्षा से केवल इन दो राज्यों को छूट प्रदान करना पर्याप्त होगा।

26. जहां तक हिमाचल प्रदेश राज्य का संबंध है, हमारा यह मत है कि 20,000 की जनसंख्या वाले स्थानीय निकायों के अंतर्गत आने वाले क्षेत्रों की बाबत पहले ही जो छूट प्रदान की गई है, उससे इस राज्य के हितों की पर्याप्त रूप से संरक्षा हो जाएगी। इस विषय में पहले ही जो कहा गया है, से अधिक और छूट प्रदान नहीं की जाती है।

27. अंततः, हम यह स्पष्ट करते हैं कि हम विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री आर्यम सुंदरम तथा अन्य काउंसलों द्वारा यथा ईप्सित निबंधनों में कोई निदेश जारी करने के लिए तैयार नहीं हैं कि इस न्यायालय के निर्णय को स्पष्ट किया जाए ताकि यह निर्णय केवल शराब के विक्रय में अंतर्वलित दुकानों पर ही लागू हो सके। चूंकि इस निदेश का उद्देश्य शराब पीकर यान चलाने पर रोक लगाना है, इसलिए ऐसी कोई छूट नहीं दी जा सकती जो अभिष्ट उद्देश्य को विफल कर दे। परिणामतः, इस न्यायालय द्वारा जारी किए गए निदेशों का, जैसा कि सुझाव दिया गया है, कमतर अर्थ नहीं लगाया जा सकता है। निदेशों का उसी रूप में अर्थ लगाया जाएगा जिस रूप में वे हैं।

28. तदनुसार, हम उपरोक्त निबंधनों के अनुसार अंतर्वर्ती आवेदनों के इस समूह का निपटारा करते हैं। सिविल अपील का तारीख 15 दिसंबर, 2016 के निर्णय के निबंधनानुसार निपटारा किया जाता है और आज आदेश पारित किया जाता है।

अंतर्वर्ती आवेदनों और सिविल अपीलों
का निपटारा किया गया।

जस.

रामतल

बनाम

मरुतातल और अन्य

22 अगस्त, 2017

न्यायमूर्ति एन. वी. रमन और न्यायमूर्ति प्रफुल्ल सी. पंत

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 133 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 100 और 103] – अपील – निचले न्यायालयों द्वारा तथ्यों के प्रश्न पर समवर्ती निष्कर्ष निकाला जाना – द्वितीय अपील में उच्च न्यायालय द्वारा इन समवर्ती निष्कर्षों को साक्ष्यों का पुनर्मूल्यांकन करके उलटा जाना – यह उच्च न्यायालय की अधिकारिता के परे होना – साक्ष्यों का पुनर्मूल्यांकन मात्र न्यायालय की हानि होने की दशा में मान्य होना – यदि अभिलेख पर के साक्ष्यों से यह साबित हो जाता है कि मामले में न्याय की हानि नहीं हुई है तो उच्च न्यायालय द्वारा द्वितीय अपील में, साक्ष्यों का पुनर्मूल्यांकन करके निचले न्यायालयों द्वारा सम्यक् तौर पर साक्ष्यों का मूल्यांकन और नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का पालन करते हुए निकाले गए तथ्य के समवर्ती निष्कर्षों को उलटना, उच्च न्यायालय की अधिकारिता के परे है और यह उन्हें प्रदत्त अधिकारिता का अतिक्रमण करने की कोटि में आएगा।

वर्तमान मामले में, संक्षिप्त तथ्य, यह है कि इसमें का अपीलार्थी जो वाद में वादी (संक्षिप्त में जिसे इसमें इसके पश्चात् “क्रेता” कहा गया है) और प्रत्यर्थी सं. 2 जो प्रतिवादी (संक्षिप्त में जिसे इसमें इसके पश्चात् “विक्रेता” कहा गया है, जब तक कि संदर्भ में अन्यथा अपेक्षित है) है, ने तारीख 10 दिसम्बर, 1986 को वाद अनुसूचित संपत्ति के संबंध में विक्रय करार किया था। विक्रय प्रतिफल, रु. 1,01,000/- प्रति एकड़ नियत किया गया था। अग्रिम रकम के रूप में रु. 40,000/- संदत्त किया गया था। करार के निबंधनानुसार, संपूर्ण विक्रय विलेख निष्पादित करते हुए विक्रय की समाप्ति के लिए एक वर्ष नियत की गई थी। अतिरिक्त तौर पर करार में यह अनुध्यात था कि विक्रेता, वाद अनुसूचित संपत्ति की सीमाओं का शनाख्त कराने के लिए सर्वेक्षण करेगा। क्योंकि, उक्त शर्त का विक्रेता द्वारा अनुपालन नहीं किया गया, इसलिए विक्रेता ने कोई अन्य

विलंब किए बिना अनुध्यात की बाध्यता का अनुपालन करने के लिए क्रेता को तारीख 26 सितम्बर, 1986 को एक नोटिस जारी किया। क्रेता द्वारा निरंतर इनकार करने का विरोध करते हुए विक्रेता के पास तारीख 10 दिसम्बर, 1986 के विक्रय करार का विनिर्दिष्ट पालन कराने की ईप्सा करते हुए वर्तमान वाद फाइल करने के अलावा कोई विकल्प नहीं बचा था। विचारण न्यायालय ने संपूर्ण विचारण करने के पश्चात् विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद को डिक्री कर दिया। असफल विक्रेता/प्रतिवादी ने अपील न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की जिसने विचारण न्यायालय के निर्णय की पुष्टि करते हुए अपील खारिज कर दी। दोनों निचले न्यायालयों ने समवर्ती तौर पर यह निष्कर्ष निकाला था कि विक्रेता द्वारा सर्वेक्षण नहीं किया गया था, क्योंकि उसके समर्थन में कोई सामग्री प्रस्तुत नहीं की गई है। इसके अतिरिक्त, प्रतिवादी साक्षी 1 और प्रतिवादी साक्षी 2 के कथनों को भी अविश्वसनीय अभिनिर्धारित किया था। निचले न्यायालयों ने इस तथ्य का अवलंब लिया था कि 1989 की सी. आर. पी. सं. 2195 में उच्च न्यायालय ने यह सुस्पष्ट निष्कर्ष निकाला है कि संपत्ति का सर्वेक्षण नहीं किया गया था और मूल्य भी सुनिश्चित नहीं किया गया था। क्योंकि, पूर्वोक्त तथ्यात्मक निष्कर्ष अंतिम हो गए थे, इसलिए विचारण न्यायालय के साथ ही अपील न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला है कि विक्रेता/प्रतिवादी, संविदा के अपने भाग को पूरा करने में असफल रहा है। उच्च न्यायालय ने द्वितीय अपील में समवर्ती निष्कर्षों को उलटते हुए निचले न्यायालय के निर्णय और डिक्री को अपास्त कर दिया। आक्षेपित निर्णय के परिशीलन से यह प्रकट होता है कि उच्च न्यायालय ने इस तथ्य को स्वीकार कर लिया था कि क्रेता विश्वसनीय मौखिक और दस्तावेजी साक्ष्यों द्वारा यह साबित करने में असमर्थ रहा है कि विक्रेता द्वारा वाद संपत्ति की माप और सीमांकन नहीं किया गया था। उच्च न्यायालय द्वारा द्वितीय अपील में दिए गए पूर्वोक्त निर्णय से व्यथित होकर क्रेता ने इस न्यायालय के समक्ष वर्तमान अपील फाइल की है। उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – इस विवाद्यक पर विचार करने के पूर्व कि क्या उच्च न्यायालय ने द्वितीय अपील में तथ्य के प्रश्न पर गलत निष्कर्ष निकाला है, इस विवाद्यक के प्रभावी संव्यवहार के अनुक्रम में करार के कतिपय खंडों पर विचार किया जाना आवश्यक होगा। करार में, विक्रय प्रतिफल के रूप में रु. 1,01,000/- प्रति एकड़ नियत था। विक्रय निष्पादित करने के लिए

क्रेता के लिए एक वर्ष की अवधि नियत थी। यह भी वर्णन किया गया था कि यदि विक्रेता, क्रेता के पक्ष में विक्रय विलेख निष्पादित करने में असफल रहता है या इनकार करता है, तो क्रेता को न्यायालय में अतिशेष रकम की छूट प्राप्त करने का अधिकार होगा और अनिवार्य रजिस्ट्रीकरण का भी अधिकार होगा, परंतु क्रेता को अग्रिम रकम को घटाते हुए अतिशेष रकम का संदाय करने के लिए और विक्रय विलेख निष्पादित करने के लिए तैयार होना होगा। यह भी उल्लिखित किया जाता है कि ऐसी दशा में, विक्रेता मुकदमेबाजी के संपूर्ण खर्च का वहन करने के लिए तैयार हुआ था। इसके अतिरिक्त, संपत्ति को बाजार योग्य भूखंडों में परिवर्तित करने के लिए संविदा की तारीख से क्रेता को कब्जा भी देना था। विक्रेता अपने खर्च पर अनुसूचित संपत्ति का सर्वेक्षण कराने के लिए सहमत हुआ था और पथरों से सीमाओं का सीमांकन कराने के लिए भी सहमत हुआ था। अतिरिक्त तौर पर, विक्रय प्रतिफल, सर्वेक्षण में पाए गए भूमि की सीमा के अनुसार संगणना किए जाने की सहमति हुई थी। दूसरी ओर, क्रेता संविदा की तारीख से छह माह के भीतर संपूर्ण विक्रय प्रतिफल का संदाय करने के लिए सहमत हुआ था। यह उल्लिखित किया जाता है कि विक्रेता किसी भी बाधा में सुधार करने के लिए सहमत हुआ था जो सरकार, पंचायत और हाउसिंग बोर्ड की भूमि के अलावा अन्य भूमि के विक्रय से संबंधित घटित होगी और ऐसी बाधा घटित होने पर करार की अवधि विस्तारित हो जाएगी। इसके अतिरिक्त, अनुसूचित संपत्ति की सीमा 1.87 का 3/4 एकड़ उल्लिखित की गई थी। करार में नियत विभिन्न शर्तों की परिशीलन से यह स्पष्ट होता है कि आपसी बचन एक-दूसरे पर निर्भर थे और संविदा के सही निर्वचन पर अवधारित किए जाने थे, जिसके लिए संव्यवहार की प्रकृति अपेक्षित थी। उच्च न्यायालय द्वारा संविदा के निर्वचन के बारे में अपनाया गया मत, जिसमें संविदा का निष्पादन, संदाय की बाध्यता से स्वतंत्र था, त्रुटिपूर्ण है और विधि की दृष्टि में कायम नहीं रखा जा सकता है, क्योंकि संविदा का संपूर्ण रूप से परिशीलन किए जाने की आवश्यकता थी, न कि इसके खंडों में, जैसा कि उच्च न्यायालय द्वारा किया गया है। इसलिए, क्रेता के संदाय की बाध्यता और संविदा के निष्पादन की बाध्यता, विक्रेता द्वारा किए गए मापन (नाप-जोख) पर निर्भर था। तथ्यात्मक पहलू जिस पर विचार किया जाना तात्पर्यित था, यह है कि क्या विक्रेता द्वारा सर्वेक्षण कराया गया था, या नहीं। अभिलेख पर यह प्रस्तुत किया गया है कि प्रतिवादी साक्षी 1 और प्रतिवादी साक्षी 2 ने यह कथन किया है कि

सर्वेक्षण, करार के निष्पादन के तत्पश्चात् किया गया था, किन्तु विक्रेता की ओर से ऐसा कोई दस्तावेज चिन्हित नहीं किया गया है जो इस तथ्य का साक्ष्य होता कि सर्वेक्षण किया गया था। जब दोनों निचले न्यायालयों ने यह मत अपनाया था कि साक्षी का साक्ष्य उनकी प्रतिपरीक्षा के सविस्तार वर्णन पर विश्वसनीय नहीं था और कोई दस्तावेज उपलब्ध नहीं था, यह साबित करने के लिए कि सर्वेक्षण किया गया था, तो उच्च न्यायालय को कोई दस्तावेजी साक्ष्य नहीं होने के नाते साक्षियों के मौखिक साक्ष्य को विचार में लेते हुए ऐसे तथ्यात्मक निष्कर्षों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए था। निर्णायक तथ्य यह है कि सर्वेक्षण नहीं किया गया था, जो उच्च न्यायालय द्वारा 1989 के सी. आर. पी. सं. 2195 के पूर्ववर्ती निर्णय द्वारा अंतिम हो गया था। इसलिए, जब एक बार विचारण न्यायालय और प्रथम अपील न्यायालय, जो तथ्य निष्कर्ष निकालने वाले न्यायालय थे, ने यह विनिर्दिष्ट निष्कर्ष निकाला है कि वादी विक्रय करार का विनिर्दिष्ट पालन कराने के लिए हकदार है, तो उच्च न्यायालय द्वितीय अपील में साक्ष्यों का पुनर्मूल्यांकन करके ऐसे तथ्यात्मक निष्कर्षों को उलट नहीं सकता था। उच्च न्यायालय के लिए यह समुचित नहीं था कि वह द्वितीय अपील में साक्ष्यों का पुनर्मूल्यांकन करने का कार्य आरंभ करता और निचले न्यायालयों द्वारा निकाले गए तथ्यों के समवर्ती निष्कर्ष में बाधा डालता, जो तथ्य निष्कर्ष निकालने वाले न्यायालय थे। सी. पी. सी. की धारा 100 और 103 के स्पष्ट परिशीलन से यह परिकल्पित होता है कि अपीलार्थी पर यह भार होता है कि वह अपील के आधारों के ज्ञापन में अपील में अंतर्वलित विधि के सारवान् प्रश्नों का कथन करे, उसके बाद उच्च न्यायालय का यह समाधान होना चाहिए कि उसके विचार के लिए ऐसा विधि का सारवान् प्रश्न उद्भूत हुआ है जिससे विधि के प्रश्न गठित होते हैं और अपील में उसका विनिश्चय किया जाना है। अतएव, द्वितीय अपील को ग्रहण करने के लिए पूर्व अपेक्षित शर्त यह है कि मामले में विधि का सारवान् प्रश्न अंतर्वलित होना चाहिए जिस पर उच्च न्यायालय द्वारा न्यायनिर्णयन किया जाना है। विधान-मंडल का आशय द्वितीय अपील के क्षेत्र को अंतर्वलित मात्र विधि के सारवान् प्रश्न तक ही सीमित करना है और धारा 100 में किया गया संशोधन, विधान-मंडल के आशय को और अधिक स्पष्ट करता है कि उच्च न्यायालय को कभी-भी तथ्य निष्कर्ष निकालने वाले न्यायालय के रूप में स्थापित नहीं करना है। तथापि, यह संपूर्ण नियम नहीं है कि उच्च न्यायालय द्वितीय अपील में तथ्य के प्रश्न पर

हस्तक्षेप नहीं कर सकता है, सी. पी. सी. की धारा 103 उच्च न्यायालय को उस समय साक्ष्य पर विचार करने के लिए समर्थ बनाती है, जब उसे निचले न्यायालयों द्वारा गलत तौर पर अवधारित किया गया है, जिस पर विधि का सारवान् प्रश्न उद्भूत हुआ है, जैसा कि धारा 100 में निर्दिष्ट किया गया है। जब साक्ष्य का मूल्यांकन करने के लिए तात्त्विक अनियमितताएं बरती जाती हैं और जब यह न्यायालय के निष्कर्षों के प्रतिकूल होता है जो किसी सामग्री पर आधारित नहीं है, तो न्यायालय तथ्य के प्रश्न पर भी हस्तक्षेप करने के लिए सशक्त होता है। जब तक संपूर्ण प्रतिकूलता नहीं होती है तब तक उच्च न्यायालय के तथ्य के प्रश्न में हस्तक्षेप करना समुचित नहीं होगा क्योंकि दो मत संभाव्य हैं, ऐसी परिस्थितियों में उच्च न्यायालयों को तथ्य के प्रश्नों पर अधिकारिता का प्रयोग करने से स्वयं को बचाना चाहिए। जब विधान-मंडल का आशय इस प्रकार स्पष्ट है कि न्यायालयों को किन्हीं भी कारणों से धारा 100 के क्षेत्र में बढ़ोतरी करने की कोई शक्ति नहीं है। न्याय विधि के अनुसरण में ही किया जाना चाहिए। वर्तमान मामले में, उच्च न्यायालय ने निचले न्यायालयों के सुविचारित निर्णय जो तर्कपूर्ण कारणों पर आधारित हैं, को उलटने में अपनी अधिकारिता के बाहर कार्य किया है। विद्वान् न्यायाधीश को साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन नहीं करना चाहिए था, अतएव, उच्च न्यायालय द्वारा संपूर्ण कार्रवाई, सी. पी. सी. की धारा 100 के अधीन प्रदत्त क्षेत्र और अधिकारिता के परे है। (पैरा 10, 11, 12, 13, 14, 15 और 16)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[2015] (2015) 1 एस. सी. 597 :

के. प्रकाश बनाम बी. आर. सम्पत कुमार।

21

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2017 की सिविल अपील सं. 10741.

संविधान, 1950 के अनुच्छेद 133 के अधीन अपील।

अपीलार्थी की ओर से

सर्वश्री हरीश कुमार, (सुश्री) अनुश्री मेनन (विकास मेहता के लिए), पुखरामबंम और रमेश कुमार, अधिवक्तागण

प्रत्यर्थियों की ओर से

सर्वश्री रामासुब्रमणियन्, बीजू
थंकप्पेन और आर. सी. गुबरेले,
अधिवक्तागण

न्यायालय का निर्णय न्यामूर्ति एन. वी. रमन ने दिया ।

न्या. रमन – इजाजत दी जाती है ।

2. विशेष इजाजत द्वारा यह अपील, मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा 2001 की द्वितीय अपील सं. 1819 में पारित तारीख 14 मार्च, 2014 के निर्णय और डिक्री के विरुद्ध निर्देशित है, जिसमें उच्च न्यायालय ने निचले न्यायालयों के समवर्ती निष्कर्षों को अपास्त करते हुए, द्वितीय अपील मंजूर कर लिया था ।

3. आरंभ में ही, यह उल्लिखित किया जाता है कि इस अपील के लंबित रहने के दौरान ही प्रत्यर्थी सं. 1 और प्रत्यर्थी सं. 3 ने तारीख 4 अगस्त, 2014 के समझौता अभिलेख द्वारा विवादक में समझौता कर लिया है । पूर्वोक्त समझौते के प्रकाश में इस अपील को मात्र प्रत्यर्थी सं. 2 के विरुद्ध ही स्वीकार किया जाता है ।

4. तथ्य के संक्षिप्त तथ्य, जो हमारे समक्ष के अपील का निपटारा करने के लिए आवश्यक हैं, यह है कि इसमें का अपीलार्थी जो वाद में वादी (संक्षिप्त में जिसे इसमें इसके पश्चात् “क्रेता” कहा गया है) और प्रत्यर्थी सं. 2 जो प्रतिवादी (संक्षिप्त में जिसे इसमें इसके पश्चात् “विक्रेता” कहा गया है, जब तक कि संदर्भ में अन्यथा अपेक्षित है) है, ने तारीख 10 दिसम्बर, 1986 को वाद अनुसूचित संपत्ति के संबंध में विक्रय करार किया था । विक्रय प्रतिफल, रु. 1,01,000/- प्रति एकड़ नियत किया गया था । अग्रिम रकम के रूप में रु. 40,000/- संदत्त किया गया था । करार के निबंधनानुसार, संपूर्ण विक्रय विलेख निष्पादित करते हुए विक्रय की समाप्ति के लिए एक वर्ष नियत की गई थी । अतिरिक्त तौर पर करार में यह अनुध्यात था कि विक्रेता, वाद अनुसूचित संपत्ति की सीमाओं का शनाख्त कराने के लिए सर्वेक्षण करेगा । क्योंकि, उक्त शर्त का विक्रेता द्वारा अनुपालन नहीं किया गया, इसलिए विक्रेता ने कोई अन्य विलंब किए बिना अनुध्यात की बाध्यता का अनुपालन करने के लिए क्रेता को तारीख 26 सितम्बर, 1986 को एक नोटिस जारी किया । क्रेता द्वारा निरंतर इनकार करने का विरोध करते हुए विक्रेता के पास तारीख 10 दिसम्बर, 1986 के विक्रय करार का विनिर्दिष्ट पालन कराने की ईप्सा करते हुए वर्तमान वाद

फाइल करने के अलावा कोई विकल्प नहीं बचा था ।

5. विचारण न्यायालय ने संपूर्ण विचारण करने के पश्चात् विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद को डिक्री कर दिया । असफल विक्रेता/प्रतिवादी ने अपील न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की जिसने विचारण न्यायालय के निर्णय की पुष्टि करते हुए अपील खारिज कर दी । दोनों निचले न्यायालयों ने समवर्ती तौर पर यह निष्कर्ष निकाला था कि विक्रेता द्वारा सर्वेक्षण नहीं किया गया था, क्योंकि उसके समर्थन में कोई सामग्री प्रस्तुत नहीं की गई है । इसके अतिरिक्त, प्रतिवादी साक्षी 1 और प्रतिवादी साक्षी 2 के कथनों को भी अविश्वसनीय अभिनिर्धारित किया था । निचले न्यायालयों ने इस तथ्य का अवलंब लिया था कि 1989 की सी. आर. पी. सं. 2195 में उच्च न्यायालय ने यह सुस्पष्ट निष्कर्ष निकाला है कि संपत्ति का सर्वेक्षण नहीं किया गया था और मूल्य भी सुनिश्चित नहीं किया गया था । क्योंकि, पूर्वोक्त तथ्यात्मक निष्कर्ष अंतिम हो गए थे, इसलिए विचारण न्यायालय के साथ ही अपील न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला है कि विक्रेता/प्रतिवादी, संविदा के अपने भाग को पूरा करने में असफल रहा है ।

6. उच्च न्यायालय ने द्वितीय अपील में समवर्ती निष्कर्षों को उलटते हुए निचले न्यायालय के निर्णय और डिक्री को अपारत कर दिया । आक्षेपित निर्णय के परिशीलन से यह प्रकट होता है कि उच्च न्यायालय ने इस तथ्य को स्वीकार कर लिया था कि क्रेता विश्वसनीय मौखिक और दस्तावेजी साक्ष्यों द्वारा यह साबित करने में असमर्थ रहा है कि विक्रेता द्वारा वाद संपत्ति की माप और सीमांकन नहीं कराया गया था । उच्च न्यायालय द्वारा द्वितीय अपील में दिए गए पूर्वोक्त निर्णय से व्यथित होकर क्रेता ने इस न्यायालय के समक्ष वर्तमान अपील फाइल की है ।

7. क्रेता के विद्वान् काउंसेल श्री टी. हरीश कुमार ने यह निवेदन किया है कि :-

(I) उच्च न्यायालय द्वितीय अपील में तथ्य के निष्कर्षों को उलट नहीं सकता था, क्योंकि वह सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 100 के अधीन द्वितीय अपील के क्षेत्र से बाहर था (संक्षिप्त में जिसे इसमें इसके पश्चात् “सी. पी. सी.” कहा गया है) ।

(II) करार विक्रेता को सर्वेक्षण कराने और सीमाओं को नियत कराने का समादेश देता है । सहमत प्रतिफल के संदाय के लिए

सर्वेक्षण कराना पूर्ववर्ती शर्त होने के नाते ऐसी दशा में असंदाय करके स्वयं विक्रेता ने संविदा का भंग कारित किया है ।

(III) विक्रेता ने यह साबित करने के लिए कोई दस्तावेजी साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया है कि सर्वेक्षण किया गया था ।

(IV) क्रेता द्वारा प्रस्तुत वाद पत्र और इसके समर्थन में प्रस्तुत शपथपत्र के परिशीलन से यह सिद्ध होता है कि यह दर्शित करने के लिए अभिलेख पर पर्याप्त अभिवचन और साक्ष्य था कि वे संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामंद थे ।

8. इसके विपरीत, विक्रेता के विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल सुश्री इंदु मल्होत्रा ने यह निवेदन किया कि :-

(I) इस न्यायालय द्वारा विनिर्दिष्ट पालन के साम्या उपचार का आदेश नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि रजामंद और तैयार होने को याची द्वारा अभिवाचित या साबित नहीं किया गया है ।

(II) माप की शर्त, संविदा के निष्पादन के लिए पूर्ववर्ती शर्त नहीं थी, क्योंकि संपत्ति का पर्याप्त तौर पर शनाख्त और माप कर लिया गया था जो विक्रय करार से संलग्न संपत्ति के अनुसूची से प्रकट होता है ।

(III) उच्च न्यायालय, प्रतिवादी साक्षी 1 और प्रतिवादी साक्षी 2 के साक्ष्य का सही ही अवलंब लिया है जिससे यह साबित होता है कि पर्यवेक्षक नियुक्त किया गया था और तदनुसार, भूमि का सर्वेक्षण किया गया था ।

(IV) क्रेता ने यह साबित करने के लिए कोई साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया है कि उसके पास विक्रय संव्यवहार पूरा करने के लिए पर्याप्त वित्तीय साधन थे ।

9. क्रेता के विद्वान् काउंसेल द्वारा यह प्रारंभिक आक्षेप उद्भूत किया गया है कि उच्च न्यायालय ने सी. पी. सी. की धारा 100 के अधीन द्वितीय अपील में अपनी अपीली अधिकारिता के बाहर कार्य किया है, जबकि निचले न्यायालयों के कारणों से असहमत होते हुए, तथ्यों पर विभिन्न निष्कर्ष निकाले गए हैं । यह उल्लिखित किया जाता है कि विचारण न्यायालय और निचले अपील न्यायालय ने यह समवर्ती निष्कर्ष निकाला है

कि क्रेता, संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामंद था, जो दोनों अभिवचनों के साथ ही अभिलेख पर उपलब्ध मौखिक और दस्तावेजी साक्ष्यों से प्रकट होता है।

10. इस विवादक पर विचार करने के पूर्व कि क्या उच्च न्यायालय ने द्वितीय अपील में तथ्य के प्रश्न पर गलत निष्कर्ष निकाला है, इस विवादक के प्रभावी संव्यवहार के अनुक्रम में करार के कतिपय खंडों पर विचार किया जाना आवश्यक होगा। करार में, विक्रय प्रतिफल के रूप में रु. 1,01,000/- प्रति एकड़ नियत था। विक्रय निष्पादित करने के लिए क्रेता के लिए एक वर्ष की अवधि नियत थी। यह भी वर्णन किया गया था कि यदि विक्रेता, क्रेता के पक्ष में विक्रय विलेख निष्पादित करने में असफल रहता है या इनकार करता है, तो क्रेता को न्यायालय में अतिशेष रकम की छूट प्राप्त करने का अधिकार होगा और अनिवार्य रजिस्ट्रीकरण का भी अधिकार होगा, परंतु क्रेता को अग्रिम रकम को घटाते हुए अतिशेष रकम का संदाय करने के लिए और विक्रय विलेख निष्पादित करने के लिए तैयार होना होगा। यह भी उल्लिखित किया जाता है कि ऐसी दशा में, विक्रेता मुकदमेबाजी के संपूर्ण खर्च का वहन करने के लिए तैयार हुआ था। इसके अतिरिक्त, संपत्ति को बाजार योग्य भूखंडों में परिवर्तित करने के लिए संविदा की तारीख से क्रेता को कब्जा भी देना था।

11. विक्रेता अपने खर्च पर अनुसूचित संपत्ति का सर्वेक्षण कराने के लिए सहमत हुआ था और पत्थरों से सीमाओं का सीमांकन कराने के लिए भी सहमत हुआ था। अतिरिक्त तौर पर, विक्रय प्रतिफल, सर्वेक्षण में पाए गए भूमि की सीमा के अनुसार संगणना किए जाने की सहमति हुई थी। दूसरी ओर, क्रेता संविदा की तारीख से छह माह के भीतर संपूर्ण विक्रय प्रतिफल का संदाय करने के लिए सहमत हुआ था। यह उल्लिखित किया जाता है कि विक्रेता किसी भी बाधा में सुधार करने के लिए सहमत हुआ था जो सरकार, पंचायत और हाउसिंग बोर्ड की भूमि के अलावा अन्य भूमि के विक्रय से संबंधित घटित होगी और ऐसी बाधा घटित होने पर करार की अवधि विस्तारित हो जाएगी। इसके अतिरिक्त, अनुसूचित संपत्ति की सीमा 1.87 का 3/4 एकड़ उल्लिखित की गई थी।

12. करार में नियत विभिन्न शर्तों की परिशीलन से यह स्पष्ट होता है कि आपसी बचन एक-दूसरे पर निर्भर थे और संविदा के सही निर्वचन पर अवधारित किए जाने थे, जिसके लिए संव्यवहार की प्रकृति अपेक्षित थी।

उच्च न्यायालय द्वारा संविदा के निर्वचन के बारे में अपनाया गया मत, जिसमें संविदा का निष्पादन, संदाय की बाध्यता से स्वतंत्र था, त्रुटिपूर्ण है और विधि की दृष्टि में कायम नहीं रखा जा सकता है, क्योंकि संविदा का संपूर्ण रूप से परिशीलन किए जाने की आवश्यकता थी, न कि इसके खंडों में, जैसा कि उच्च न्यायालय द्वारा किया गया है। इसलिए, क्रेता के संदाय की बाध्यता और संविदा के निष्पादन की बाध्यता, विक्रेता द्वारा किए गए मापन (नाप-जोख) पर निर्भर था।

13. तथ्यात्मक पहलू जिस पर विचार किया जाना तात्पर्यित था, यह है कि क्या विक्रेता द्वारा सर्वेक्षण कराया गया था, या नहीं। अभिलेख पर यह प्रस्तुत किया गया है कि प्रतिवादी साक्षी 1 और प्रतिवादी साक्षी 2 ने यह कथन किया है कि सर्वेक्षण, करार के निष्पादन के तत्पश्चात् किया गया था, किन्तु विक्रेता की ओर से ऐसा कोई दस्तावेज चिह्नित नहीं किया गया है जो इस तथ्य का साक्ष्य होता कि सर्वेक्षण किया गया था। जब दोनों निचले न्यायालयों ने यह मत अपनाया था कि साक्षी का साक्ष्य उनकी प्रतिपरीक्षा के सविस्तार वर्णन पर विश्वसनीय नहीं था और कोई दस्तावेज उपलब्ध नहीं था, यह साबित करने के लिए कि सर्वेक्षण किया गया था, तो उच्च न्यायालय को कोई दस्तावेजी साक्ष्य नहीं होने के नाते साक्षियों के मौखिक साक्ष्य को विचार में लेते हुए ऐसे तथ्यात्मक निष्कर्षों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए था। निर्णायक तथ्य यह है कि सर्वेक्षण नहीं किया गया था, जो उच्च न्यायालय द्वारा 1989 के सी. आर. पी. सं. 2195 के पूर्ववर्ती निर्णय द्वारा अंतिम हो गया था। इसलिए, जब एक बार विचारण न्यायालय और प्रथम अपील न्यायालय, जो तथ्य निष्कर्ष निकालने वाले न्यायालय थे, ने यह विनिर्दिष्ट निष्कर्ष निकाला है कि वादी विक्रय करार का विनिर्दिष्ट पालन कराने के लिए हकदार है, तो उच्च न्यायालय द्वितीय अपील में साक्ष्यों का पुनर्मूल्यांकन करके ऐसे तथ्यात्मक निष्कर्षों को उलट नहीं सकता था।

14. उच्च न्यायालय के लिए यह समुचित नहीं था कि वह द्वितीय अपील में साक्ष्यों का पुनर्मूल्यांकन करने का कार्य आरंभ करता और निचले न्यायालयों द्वारा निकाले गए तथ्यों के समवर्ती निष्कर्ष में बाधा डालता, जो तथ्य निष्कर्ष निकालने वाले न्यायालय थे। हमें इस समय पर बेहतर मूल्यांकन करने के लिए सी. पी. सी. की धारा 100 और 103 को उद्धृत करना समुचित होगा, जो इस प्रकार है :—

धारा 100 :

(1) उसके सिवाय जैसा इस संहिता के पाठ में या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि में अभिव्यक्त रूप से उपबंधित हैं, उच्च न्यायालय के अधीनस्थ किसी न्यायालय द्वारा अपील में पारित प्रत्येक डिक्री की उच्च न्यायालय में अपील हो सकेगी, यदि उच्च न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि उस मामले में विधि का कोई सारवान् प्रश्न अंतर्वलित है।

(2) एकपक्षीय पारित अपीली डिक्री की अपील इस धारा के अधीन हो सकेगी।

(3) इस धारा के अधीन अपील में अंतर्वलित विधि के उस सारवान् प्रश्न का अपील के ज्ञापन में प्रमिततः कथन किया जाएगा।

(4) जहां उच्च न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि किसी मामले में सारवान् विधि का प्रश्न अंतर्वलित है तो वह उस प्रश्न को बनाएगा।

(5) अपील इस प्रकार बनाए गए प्रश्न पर सुनी जाएगी और प्रतिवादी को अपील की सुनवाई में यह तर्क करने की अनुज्ञा दी जाएगी कि ऐसे मामले में ऐसा प्रश्न अंतर्वलित नहीं है।

धारा 103 :

तथ्य-विवादकों का अवधारण करने की उच्च न्यायालय की शक्ति — यदि अभिलेख में का साक्ष्य पर्याप्त हो तो किसी भी द्वितीय अपील में उच्च न्यायालय ऐसी अपील के निपटारे के लिए आवश्यक कोई विवादक अवधारित कर सकेगा, जो —

(क) निचले अपील न्यायालय द्वारा या प्रथम बार के न्यायालय और निचले अपील न्यायालय दोनों द्वारा अवधारित नहीं किया गया है ; अथवा

(ख) धारा 100 में यथानिर्दिष्ट विधि के ऐसे प्रश्न के विनिश्चय के कारण ऐसे न्यायालय या न्यायालयों द्वारा गलत तौर पर अवधारित किया गया है।

15. सी. पी. सी. की धारा 100 और 103 के स्पष्ट परिशीलन से यह परिकल्पित होता है कि अपीलार्थी पर यह भार होता है कि वह अपील के

आधारों के ज्ञापन में अपील में अंतर्वलित विधि के सारवान् प्रश्नों का कथन करे, उसके बाद उच्च न्यायालय का यह समाधान होना चाहिए कि उसके विचार के लिए ऐसा विधि का सारवान् प्रश्न उद्भूत हुआ है जिससे विधि के प्रश्न गठित होते हैं और अपील में उसका विनिश्चय किया जाना है। अतएव, द्वितीय अपील को ग्रहण करने के लिए पूर्व अपेक्षित शर्त यह है कि मामले में विधि का सारवान् प्रश्न अंतर्वलित होना चाहिए जिस पर उच्च न्यायालय द्वारा न्यायनिर्णयन किया जाना है। विधान-मंडल का आशय मात्र द्वितीय अपील के क्षेत्र में अंतर्वलित विधि के सारवान् प्रश्न तक ही सीमित करना है और धारा 100 में किया गया संशोधन, विधान-मंडल के आशय को और अधिक स्पष्ट करता है कि उच्च न्यायालय को कभी भी तथ्य निष्कर्ष निकालने वाले न्यायालय के रूप में स्थापित नहीं करना है। तथापि, यह संपूर्ण नियम नहीं है कि उच्च न्यायालय द्वितीय अपील में तथ्य के प्रश्न पर हस्तक्षेप नहीं कर सकता है, सी. पी. सी. की धारा 103 उच्च न्यायालय को उस समय साक्ष्य पर विचार करने के लिए समर्थ बनाती है, जब उसे निचले न्यायालयों द्वारा गलत तौर पर अवधारित किया गया है, जिस पर विधि का सारवान् प्रश्न उद्भूत हुआ है, जैसा कि धारा 100 में निर्दिष्ट किया गया है। जब साक्ष्य का मूल्यांकन करने के लिए तात्त्विक अनियमितताएं बरती जाती हैं और जब यह न्यायालय के निष्कर्षों के प्रतिकूल होता है जो किसी सामग्री पर आधारित नहीं है, तो न्यायालय तथ्य के प्रश्न पर भी हस्तक्षेप करने के लिए सशक्त होता है। जब तक संपूर्ण प्रतिकूलता नहीं होती है तब तक उच्च न्यायालय के तथ्य के प्रश्न में हस्तक्षेप करना समुचित नहीं होगा क्योंकि दो मत संभाव्य हैं, ऐसी परिस्थितियों में उच्च न्यायालयों को तथ्य के प्रश्नों पर अधिकारिता का प्रयोग करने से स्वयं को बचाना चाहिए।

16. जब विधान-मंडल का आशय इस प्रकार स्पष्ट है कि न्यायालयों को किन्हीं भी कारणों से धारा 100 के क्षेत्र में बढ़ोतरी करने की कोई शक्ति नहीं है। न्याय विधि के अनुसरण में ही किया जाना चाहिए। वर्तमान मामले में, उच्च न्यायालय ने निचले न्यायालयों के सुविचारित निर्णय जो तर्कपूर्ण कारणों पर आधारित हैं, को उलटने में अपनी अधिकारिता के बाहर कार्य किया है। विद्वान् न्यायाधीश को साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन नहीं करना चाहिए था, अतएव, उच्च न्यायालय द्वारा संपूर्ण कार्रवाई, सी. पी. सी. की धारा 100 के अधीन प्रदत्त क्षेत्र और अधिकारिता के परे है।

17. यद्यपि, यह विनिर्दिष्ट आधार, उच्च न्यायालय के निर्णय के डिक्री को अपास्त करने के लिए पर्याप्त है, परंतु हमें क्रमशः विद्वान् काउंसलों द्वारा किए गए विस्तृत निवेदनों को ध्यान में रखते हुए अन्य विवाद्यकों पर मामले की परीक्षा करना है। अब, हम इस विवाद्यक पर विचार करते हैं कि क्या “समय” संविदा का सार है।

18. हमारा यह विचार है कि यह तथ्य कि करार में संदाय करने और संविदा की समाप्ति के लिए समय नियत करने वाला उपबंध है। यह भी उल्लिखित किया जाता है कि करार के खंड 3 में क्रेता द्वारा संदाय करने की दशा में संविदा का निष्पादन करना था, जो अंततोगत्वा विक्रेता द्वारा सर्वेक्षण करने और सीमाओं को नियत करने की बाध्यता का पालन करने पर निर्भर था। अतिरिक्त तौर पर, विक्रेता का आचरण विनिर्दिष्टतः विक्रेता द्वारा तारीख 5 अक्टूबर, 1987 के नोटिस के उत्तर को विचार में लेते हुए, जिसमें उन्होंने यह स्वीकार किया है कि छह माह की अवधि बाध्यकारी नहीं थी, क्योंकि संदाय करने की बाध्यता एक वर्ष के अंत तक अर्थात् विक्रय की समाप्ति के पूर्व तक थी। विक्रेता के पूर्वोक्त नोटिस के उत्तर में यह भी सहमति हुई थी कि अतिरिक्त ब्याज के संदाय करने पर विलंब में संदाय स्वीकार किया जा सकता था, से स्पष्टतः उपदर्शित होता है कि “समय” संविदा का सार नहीं था, इसके अतिरिक्त, विक्रेता किसी भी दशा में संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार नहीं था।

19. स्थावर संपत्ति के विक्रय के संबंध में इस न्यायालय द्वारा अधिकथित विधि के अनुसार संविदा का सार होने के नाते “समय” की उपधारणा नहीं की जा सकती है। यहां तक कि जब नियत न्यायालयों द्वारा भी इसमें हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता है कि संविदा के निबंधनों पर विचार करते हुए संपत्ति की प्रकृति और अन्य घिरी हुई परिस्थितियों युक्तियुक्त समय के भीतर पालन किया जाना चाहिए था। हम यह महसूस करते हैं कि इस प्रतिपादना में समुचित मामलों में पुनरीक्षण किए जाने की आवश्यकता है, क्योंकि वर्तमान समय में, स्थावर संपत्ति की दर का मूल्य घटता-बढ़ता रहता है।

20. पुनरावृत्ति करते हुए, यह उल्लिखित किया जाना चाहिए कि क्या समय संविदा का सार है, यह प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करता है। इस मामले में, संविदा के निबंधनों पर विचार करने के पश्चात् पक्षकारों के आचरण और हमारे समक्ष प्रस्तुत अन्य सामग्रियों से यह

प्रतीत होता है कि विक्रेता की यह दलील कि समय संविदा का सार है, नकारात्मक है।

21. विक्रेता के विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि सांख्यिक उपचार होने के नाते विनिर्दिष्ट पालन की पूर्ववर्ती शर्त “तैयार और रजामंद होने” का विनिर्दिष्टतः अभिवचन किया जाना चाहिए और इसे विनिर्दिष्ट के पालन के प्रवर्तन के लिए क्रेता द्वारा साबित किया जाना चाहिए। (निर्दिष्ट : के. प्रकाश बनाम बी. आर. सम्पत कुमार¹)। उसने यह भी निवेदन किया कि अभिवचन में मात्र यह अस्पष्ट प्रकथन है कि क्रेता संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामंद था। इस प्रतिपादना के बारे में कोई विवादक नहीं है कि विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद में सबूत का भार हमेशा ही वादी पर होता है, यह प्रकथन करने और साबित करने का कि वे संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए हमेशा ही सभी प्रकार से तैयार और रजामंद हैं। विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 की धारा 16(ग) में यह समादेश है कि न केवल तैयार और रजामंद होने का अभिवाक् किया जाना चाहिए अपितु इसे ग्राह्य साक्ष्यों द्वारा साबित भी किया जाना चाहिए। विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 की धारा 16(ग) के अधीन शर्तों को पूरा करने की अपेक्षा, विनिर्दिष्ट पालन का अनुतोष प्राप्त करने के लिए एक पूर्ववर्ती शर्त है। जबकि वर्तमान मामले में, वाद पत्र के साथ ही अभिलेख पर उपलब्ध दस्तावेजों से यह दर्शित होता है कि यह विनिर्दिष्टतः अभिवाक् किया गया था कि क्रेता संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामंद था। अतिरिक्त तौर पर, अभि. सा. 1 के साक्ष्य से भी यह भी साबित होता है कि क्रेता संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामंद था। पूर्वोक्त चर्चा के प्रकाश में, विक्रेता के विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल की दलील गुणागुण रहित होने के नाते निरसित की जाती है।

22. अंततः, विक्रेता के विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने जोर देते हुए यह दलील दी है कि इस न्यायालय को क्रेता के पक्ष में विनिर्दिष्ट पालन मंजूर करते हुए अपनी अधिकारिता का प्रयोग नहीं करना चाहिए था, क्योंकि यह विक्रेता के लिए असांख्यिक होगा। यह निवेदन किया कि संपत्ति के मूल्य में कई तरीके से वृद्धि हुई है और मुकदमा लंबित रहने के दौरान भी विक्रेता ने एक अन्य व्यक्ति के साथ एक अन्य विक्रय संविदा निष्पादित

¹ (2015) 1 एस. सी. सी. 597.

कर लिया है। इस बारे में कोई विवादक नहीं है कि संविदा का निष्पादन संतोषजनक सर्वेक्षण के अधीन किया गया था जो विक्रेता पर आबद्धकारी है और वह क्रेता का समाधान होने की बाध्यता के बारे में अपने भाग का पालन करने में असफल रहा है। यद्यपि मापन का विक्रय विलेख में उल्लेख नहीं किया गया था, किन्तु करार के अन्य खंडों के परिशीलन से यह प्रकट होता है कि 1.87 का 3/4 एकड़ के उक्त मापन का करार के अधीन उल्लिखित तात्कालिक अंक का प्रयोग किया गया था।

23. क्रेता ने विक्रेता द्वारा विक्रय निष्पादन के विलंब करने पर तत्काल ही विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद फाइल किया है। इस चर्चा से स्पष्ट होता है कि क्रेता सभी प्रक्रमों पर, संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए हमेशा ही तैयार और रजामंद रहा है। इसके अतिरिक्त, यह विक्रेता ही है जिसने संविदा को किसी न किसी बहाने से टालने की हमेशा ही कोशिश की थी। अब विक्रेता स्वयं अपनी गलती का लाभ नहीं ले सकता है और उसके बाद उसने यह अभिवाक् किया है कि विनिर्दिष्ट पालन की डिक्री मंजूर करना असाम्यिक होगा। मूल्यों की बढ़ोतरी, विनिर्दिष्ट पालन का अनुतोष देने से इनकार करने के लिए आधार नहीं हो सकता है। विनिर्दिष्ट पालन एक साम्या अनुतोष है और अनुतोष मंजूर करना, न्यायालय का विवेकाधिकार है। न्यायालय द्वारा विवेकाधिकार का प्रयोग न्यायिक तौर पर और विधि के सुस्थिर सिद्धांतों के भीतर किया जाता है। संपूर्णतः, निचले न्यायालयों के निर्णयों जो अपनी अधिकारिता का प्रयोग करते हुए न्यायिक तौर पर दिए गए हैं, में कोई अवैधता या कमी नहीं है और उच्च न्यायालय को इसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए था।

24. उपर्युक्त चर्चा के प्रकाश में, इस अपील को मंजूर करते हुए, हम उच्च न्यायालय के निर्णय को अपास्त करते हैं और विचारण न्यायालय के निर्णय को प्रतिस्थापित करते हैं। खर्च का कोई आदेश नहीं किया जाता है।

अपील मंजूर की गई।

क.

[2018] 1 उम. नि. प. 100

पंजाब राज्य और एक अन्य

बनाम

धर्म पाल

5 सितम्बर, 2017

मुख्य न्यायमूर्ति दीपक मिश्रा, न्यायमूर्ति ए. एम. खानविलकर और
न्यायमूर्ति डा. डी. वाई. चन्द्रचूड़

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 16 और 39(घ) [सपठित पंजाब सिविल सेवा नियम का नियम 4.13, 4.16, 4.22 और 4.2] – प्रोन्नति – स्थानापन्न रूप में कार्य करने के लिए प्रोन्नति – वेतनमान का फायदा – सरकारी आदेश में कर्मचारी द्वारा स्थानापन्न प्रोन्नति से पूर्व वाले अपने वेतनमान में कार्य करने संबंधी निर्बंधन अनुबंधित करना – यदि संबंधित सेवा नियमों में स्थानापन्न प्रोन्नति वाला वेतनमान दिया जाना प्रतिबंधित नहीं है तो प्रोन्नति संबंधी सरकारी आदेश में मात्र निर्बंधन अनुबंधित करने या संबंधित कर्मचारी द्वारा इस संबंध में वचनबंध दिए जाने के कारण कर्मचारी स्थानापन्न पद के फायदों का दावा करने से विवर्जित नहीं हो जाएगा और वह प्रोन्नति वाले पद के वेतन और अन्य पारिणामिक फायदों का हकदार है ।

प्रत्यर्थी को तारीख 22 मई, 1970 को लिपिक के रूप में नियुक्त किया गया था और उसे 22 सितम्बर, 1980 को ज्येष्ठ सहायक के पद पर प्रोन्नत किया गया था । उसे तारीख 9 दिसम्बर, 2004 के आदेश द्वारा अधीक्षक ग्रेड II का स्थानापन्न प्रभार दिया गया था और तत्पश्चात् उसे तारीख 26 मई, 2007 के सरकारी आदेश द्वारा अधीक्षक ग्रेड I के रूप में कृत्य करने का निदेश दिया गया था । जैसा कि तथ्यात्मक वर्णन से प्रकट होता है, उसने तारीख 31 मार्च, 2008 को सेवा से अधिवर्षिता प्राप्त की । प्रत्यर्थी ने अधिवर्षिता की आयु प्राप्त करने से पूर्व एक रिट याचिका द्वारा उच्च न्यायालय में समावेदन किया क्योंकि उसे नियमित रूप से नित्य प्रति कर्तव्य के आधार पर स्थानापन्न संबंधी कर्तव्यों का पालन करने के बावजूद अधीक्षक ग्रेड II और अधीक्षक ग्रेड I के पदों के वेतनमान का फायदा प्रदान नहीं किया गया था । उसने वेतन, 18 प्रतिशत ब्याज सहित बकाया वेतन और अन्य पारिणामिक भत्ते अनुदत्त करने संबंधी अनुतोष की ईप्सा की । उच्च न्यायालय ने यह राय व्यक्त की कि यह संविवाद प्रीतम सिंह

धालीवाल वाले विनिश्चय के अंतर्गत आता है और उसने उक्त निर्णय के आधार पर रिट याचिका का निपटारा कर दिया। विशेष इजाजत लेकर की गई प्रस्तुत अपील में उच्च न्यायालय द्वारा पारित आदेश की विधिक स्वीकार्यता को प्रश्नगत किया गया है। उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – आरंभ में, यह कहना उपयुक्त है कि नियुक्तियों या पदों के संबंध में कोई तथ्यात्मक विवाद नहीं है। इस स्थिति के कारण नियुक्ति संबंधी आदेशों के प्रतिनिर्देश करना उपयुक्त होगा और उन आदेशों को नियमों की कसौटी पर भी परखना होगा। यह कथन करने के लिए कोई विशेष बल देने की आवश्यकता नहीं है कि यदि वे आदेश नियमों के अनुरूप हैं तो प्रत्यर्थी निर्विवाद रूप से तब तक कोई दावा प्रस्तुत नहीं कर सकता है जब तक नियमों को असांविधानिक घोषित नहीं कर दिया जाता है। सूक्ष्म रूप से संवीक्षा करने पर यह पाया गया कि नियम 4.13 में यह अनुध्यात है कि किसी स्थानापन्न पद पर नियुक्त किया गया सरकारी कर्मचारी किसी स्थायी पद की बाबत अपने अधिष्ठायी वेतन से उच्चतर वेतन तब तक प्राप्त नहीं करेगा जब तक कि वह पद, जिस पर उसे स्थानापन्न रूप में कार्य करने के लिए नियुक्त किया जाता है, नियमों की अनुसूची में प्रगणित पद न हो और इसके अतिरिक्त स्थानापन्न नियुक्ति में उस पद से संबद्ध कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों से अधिक महत्व के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का ग्रहण करना अंतर्वलित न हो। इस संबंध में कोई विवाद नहीं है कि अधीक्षक ग्रेड II और ग्रेड I के पद इस अनुसूची के अंतर्गत आते हैं। यह उल्लेखनीय है कि फायदे का विस्तार नियम 4.22 और नियम 4.24 के उपबंधों के अधधीन है। इन नियमों से स्पष्ट रूप से यह द्योतित होता है कि जो कर्मचारी उच्चतर पद धारण करता है उसे दोनों पदों की सेवा के लिए अपेक्षित अर्हताएं और शर्तें पूरी करनी चाहिए। न्यायालय के समक्ष यह विवाद नहीं किया गया है कि प्रत्यर्थी अधीक्षक ग्रेड II और ग्रेड I का पद धारण करने का पात्र था। (पैरा 7, 9, 10 और 12)

वर्तमान मामले में, नियमों में वेतनमान अनुदत्त करना प्रतिषिद्ध नहीं है। हम स्पष्ट रूप से यह कथन कर सकते हैं कि आदेश में कोई समावेशन करके या मात्र कोई वचनबंध देकर, किसी भी परिस्थिति में, कर्मचारी को स्थानापन्न स्थिति के फायदों का दावा करने से विवर्जित नहीं किया जाएगा। परिणामस्वरूप यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि उच्च न्यायालय द्वारा अभिव्यक्त मत पूर्णतः त्रुटिहीन है। उपर्युक्त आधारों को

ध्यान में रखते हुए, इस अपील में कोई गुणागुण प्रतीत नहीं होता है (पैरा 22)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

- [2014] (2014) 13 एस. सी. सी. 283 :
ए. फ्रांसिस बनाम मेट्रोपोलिटन ट्रांसपोर्ट
कारपोरेशन लिमिटेड, तमिलनाडु का प्रबंधतंत्र; 5,18,22
- [2007] (2007) 8 एस. सी. सी. 279 :
एस. सी. चन्द्रा और अन्य बनाम झारखंड
राज्य और अन्य; 5,17
- [2004] 2004 (4) आर. एस. जे. 599 :
प्रीतम सिंह धालीवाल बनाम पंजाब राज्य
और एक अन्य; 1,3,14
- [2003] (2003) 6 एस. सी. सी. 123 :
हरियाणा राज्य और एक अन्य बनाम तिलक
राज और अन्य; 5,16
- [1999] 1999 (2) एस. सी. टी. 286 :
सेल्वारज बनाम उप राज्यपाल, पोर्ट ब्लेयर
महाद्वीप और अन्य; 14
- [1998] (1998) 5 एस. सी. सी. 87 :
सचिव-सह-मुख्य इंजीनियर, चंडीगढ़ बनाम
हरी ओम शर्मा और अन्य; 18,20 22
- [1983] ए. आई. आर. 1983 एस. सी. 1060 :
श्रीमती पी. ग़ोवर बनाम हरियाणा राज्य
और एक अन्य । 14,15,22

सिविल अपीली अधिकारिता : 2011 की सिविल अपील सं. 1549.

2007 की सिविल रिट याचिका सं. 18843 में चंडीगढ़ स्थित पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय द्वारा पारित तारीख 20 अगस्त, 2008 के निर्णय और अंतिम आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से

सुश्री उत्तरा बब्बर, सुश्री अकांक्षा
चौधरी और श्री जगजीत सिंह छाबड़ा

प्रत्यर्थी की ओर से

सर्वश्री आर. के. कपूर, (सुश्री) ख्याली,
रजत कपूर, (सुश्री) श्वेता कपूर, अनीस
अहमद खान और सुदर्शन सिंह रावत

न्यायालय का निर्णय मुख्य न्यायमूर्ति दीपक मिश्रा ने दिया ।

मु. न्या. दीपक मिश्रा – विशेष इजाजत लेकर की गई प्रस्तुत अपील में 2007 की सिविल रिट याचिका सं. 18843 में चंडीगढ़ स्थित पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय द्वारा पारित तारीख 20 अगस्त, 2008 के आदेश की विधिक स्वीकार्यता को प्रश्नगत किया गया है, जिसके द्वारा खंड न्यायपीठ ने **प्रीतम सिंह धालीवाल** बनाम **पंजाब राज्य और एक अन्य**¹ वाले मामले में के विनिश्चय का अवलंब लेते हुए प्रत्यर्थी द्वारा उस पद के लिए, जो वह स्थानापन्न आधार पर धारण किए हुए था, वेतनमान का फायदा प्राप्त करने के लिए की गई प्रार्थना को स्वीकार कर लिया है ।

2. इस संविवाद की समस्या का मूल्यांकन करने के लिए संक्षेप में तथ्यों का प्रतिपादन करना आवश्यक है । प्रत्यर्थी को तारीख 22 मई, 1970 को लिपिक के रूप में नियुक्त किया गया था और उसे 22 सितम्बर, 1980 को ज्येष्ठ सहायक के पद पर प्रोन्नत किया गया था । उसे तारीख 9 दिसम्बर, 2004 के आदेश द्वारा अधीक्षक ग्रेड II का स्थानापन्न प्रभार दिया गया था और तत्पश्चात् उसे तारीख 26 मई, 2007 के सरकारी आदेश द्वारा अधीक्षक ग्रेड I के रूप में कृत्य करने का निदेश दिया गया था । जैसा कि तथ्यात्मक वर्णन से प्रकट होता है, उसने तारीख 31 मार्च, 2008 को सेवा से अधिवर्षिता प्राप्त की ।

3. प्रत्यर्थी ने अधिवर्षिता की आयु प्राप्त करने से पूर्व एक रिट याचिका द्वारा उच्च न्यायालय में समावेदन किया क्योंकि उसे नियमित रूप से नित्य प्रति कर्तव्य के आधार पर स्थानापन्न संबंधी कर्तव्यों का पालन करने के बावजूद अधीक्षक ग्रेड II और अधीक्षक ग्रेड I के पदों के वेतनमान का फायदा प्रदान नहीं किया गया था । उसने वेतन, 18 प्रतिशत ब्याज सहित बकाया वेतन और अन्य पारिणामिक भत्ते अनुदत्त करने संबंधी अनुतोष की ईप्सा की । जैसा कि ऊपर कथन किया गया है, उच्च न्यायालय ने **प्रीतम सिंह धालीवाल** (उपरोक्त) वाले निर्णय का अवलंब लिया और यह राय व्यक्त की कि यह संविवाद उक्त विनिश्चय के अंतर्गत आता है और उक्त निर्णय के आधार पर रिट याचिका का निपटारा कर

¹ 2004 (4) आर. एस. जे. 599.

दिया। अतः प्रस्तुत अपील फाइल की गई है।

4. हमने अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसेल सुश्री उत्तरा बब्बर और प्रत्यर्थी की ओर से विद्वान् काउंसेल श्री सुदर्शन सिंह रावत की सुनवाई की।

5. सुश्री बब्बर द्वारा आक्षेपित आदेश की आलोचना करते हुए यह दलील दी गई है कि उच्च न्यायालय ने तारीख 9 सितम्बर, 2004 और 26 मई, 2007 के आदेशों में समाविष्ट निर्बंधनों को पूर्णतः अनदेखा करते हुए, जिसमें स्पष्ट रूप से यह अनुबंधित था कि प्रत्यर्थी कर्मचारी अपने वेतनमान में कार्य करेगा और उसकी स्थानापन्न प्रोन्नति विभागीय प्रोन्नति समिति की सिफारिशों के अधीन होगी और समिति के अनुमोदन के पश्चात् ही उसे वित्तीय फायदे दिए जाएंगे, प्रत्यर्थी को फायदा प्रदान करके घोर अवैधता कारित की है। उसने आगे यह दलील दी कि उच्च न्यायालय द्वारा जिस नज़ीर का अवलंब लिया गया है वह इस न्यायालय द्वारा हरियाणा राज्य और एक अन्य बनाम तिलक राज और अन्य¹, एस. सी. चन्द्रा और अन्य बनाम झारखंड राज्य और अन्य² और ए. फ्रांसिस बनाम मेट्रोपोलिटन ट्रांसपोर्ट कारपोरेशन लिमिटेड, तमिलनाडु का प्रबंधन³ वाले मामलों में जो कुछ अधिकथित किया गया उसे देखते हुए लागू नहीं होती। उसने इस पहलू पर भी जोर दिया कि प्रत्यर्थी पंजाब सिविल सेवा नियम (जिन्हें संक्षेप में “नियम” कहा गया है) के अधीन फायदे का हकदार नहीं है चूंकि नियमों में स्पष्ट रूप से इस फायदे से इनकार करना विहित है।

6. प्रत्यर्थी के विद्वान् काउंसेल श्री रावत ने आक्षेपित आदेश की प्रतिरक्षा में यह दलील दी कि राज्य की यह उपधारणा कि उक्त नियमों में नकारात्मक रूप में शर्तें अधिरोपित की गई हैं, मूल रूप से त्रुटिपूर्ण है। उनके अनुसार, जिन निर्णयों का अवलंब लिया गया है वे वर्तमान मामले के तथ्यों को लागू नहीं होते हैं और इसलिए उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए विनिश्चय में दोष नहीं निकाला जा सकता है। उसने आगे यह दलील दी कि प्रत्यर्थी को अधिष्ठायी पद से मुक्त कर दिया गया था और उसने उच्चतर पदों पर कार्य किया था और उक्त पदों के उत्तरदायित्वों का निर्वहन किया था और इसलिए उसे फायदों से इनकार करना न्याय का उपहास होगा और इससे राज्य को वास्तविक विधिक स्थिति में श्रद्धाहीनता का मार्ग प्रशस्त करने के लिए अनुज्ञात करना होगा। इसके अतिरिक्त,

¹ (2003) 6 एस. सी. सी. 123.

² (2007) 8 एस. सी. सी. 279.

³ (2014) 13 एस. सी. सी. 283.

विद्वान् काउंसिल ने यह दलील दी कि नियोजक द्वारा पारित आदेश में प्रयोग की गई भाषा से नियम की आवश्यक भावना आहत होगी ।

7. आरंभ में, यह कहना उपयुक्त है कि नियुक्तियों या पदों के संबंध में कोई तथ्यात्मक विवाद नहीं है । इस स्थिति के कारण हम नियुक्ति संबंधी आदेशों के प्रतिनिर्देश करना उपयुक्त समझते हैं क्योंकि अपीलार्थी-पंजाब राज्य की ओर से विद्वान् काउंसिल सुश्री बब्बर उसके संबंध में बहस करेंगी । तारीख 9 दिसम्बर, 2004 का आदेश निम्नलिखित रूप में है :-

“आदेश

श्रीमती चन्द प्रभा, अधीक्षक, ग्रेड I के तारीख 31 जुलाई, 2004 को सेवानिवृत्त होने पर अधीक्षक, ग्रेड I का पद रिक्त हो गया था । उस रिक्त पद पर श्री केवल सिंह, अधीक्षक, ग्रेड II की अधीक्षक ग्रेड I के रूप में उसके अपने वेतनमान में प्रोन्नति की जाती है ।

श्री केवल सिंह, अधीक्षक, ग्रेड II की अधीक्षक ग्रेड I के रूप में प्रोन्नति के कारण और श्री भिन्दर सिंह, अधीक्षक, ग्रेड II के तारीख 7 सितम्बर, 2004 से उपार्जित छुट्टी पर चले जाने के कारण श्री अश्विनी कुमार, ज्येष्ठ सहायक (स्थानापन्न अधीक्षक ग्रेड II) और श्री धर्म पाल (स्थानापन्न अधीक्षक ग्रेड II) को अधीक्षक ग्रेड II के रूप में प्रोन्नत किया जाता है ।

ये पदधारी अपने-अपने वेतनमान में कार्य करेंगे और उक्त प्रोन्नतियां विभागीय प्रोन्नति समिति की सिफारिशों के अधधीन होंगी । उपर्युक्त समिति के अनुमोदन पर उन्हें वित्तीय फायदे दिए जाएंगे । ये पदधारी इन आदेशों के आधार पर किसी ज्येष्ठता आदि का दावा नहीं करेंगे ।”

प्रत्यर्थी ने उपर्युक्त आदेश के आधार पर स्थानापन्न अधीक्षक ग्रेड II के रूप में कार्य किया ।

8. जैसा कि ऊपर कथन किया गया है, जबकि वह उक्त पद पर स्थानापन्न रूप में कार्य कर रहा था, उसे अधीक्षक ग्रेड I के पद पर कार्य करने के लिए स्थानापन्न आधार पर प्रोन्नत कर दिया गया था । उक्त आदेश का सुसंगत प्रभाग निम्नलिखित रूप में है :-

“पदधारी अपने पूर्वतर वेतनमान में कार्य करेंगे और उपर्युक्त प्रोन्नतियां विभागीय प्रोन्नति समिति की सिफारिशों के अधधीन होंगी । उन्हें उपर्युक्त समिति के अनुमोदन पर वित्तीय फायदे दिए

जाएंगे । पदधारी इन आदेशों के आधार पर किसी प्रकार की ज्येष्ठता आदि का दावा नहीं करेंगे ।”

9. उक्त आदेशों को नियमों की कसौटी पर परखना होगा । यह कथन करने के लिए कोई विशेष बल देने की आवश्यकता नहीं है कि यदि वे आदेश नियमों के अनुरूप हैं तो प्रत्यर्थी निर्विवाद रूप से तब तक कोई दावा प्रस्तुत नहीं कर सकता है जब तक नियमों को असांविधानिक घोषित नहीं कर दिया जाता है । हमारा ध्यान नियम 4.13 की ओर आकर्षित किया गया है जो कि "स्थानापन्न सरकारी कर्मचारियों का वेतन" शीर्ष के अंतर्गत आता है । उक्त नियम का सुसंगत भाग निम्नलिखित रूप में है :-

***“नियम 4.13.** (1) नियम 4.22 से नियम 4.24 के उपबंधों के अधीन रहते हुए, कोई ऐसा सरकारी कर्मचारी, जिसे किसी पद पर स्थानापन्न रूप में कार्य करने के लिए नियुक्त किया जाता है, किसी सावधिक पद से भिन्न किसी स्थायी पद की बाबत अपने अधिष्ठायी वेतन से उच्चतर वेतन तब तक प्राप्त नहीं करेगा जब तक वह पद, जिस पर उसे स्थानापन्न रूप में कार्य करने के लिए नियुक्त किया जाता है, इस नियम की अनुसूची में प्रगणित पद न हो या जब तक स्थानापन्न नियुक्ति में, ऐसे सावधिक पद से भिन्न, जिस पर उसका धारणाधिकार है, उस पद से संबद्ध कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों से अधिक महत्व वाले कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का ग्रहण करना अंतर्वलित न हो :

*अंग्रेज़ी में यह इस प्रकार है :-

“Rule 4.13. (1) Subject to the provisions of rules 4.22 to 4.24, a Government employee who is appointed to officiate in a post shall not draw pay higher than his substantive pay in respect of a permanent post, other than a tenure post, unless the post in which he is appointed to officiate is one enumerated in the schedule to this rule or unless the officiating appointment involves the assumption of duties and responsibilities of greater importance than those attaching to the post, other than a tenure post on which he holds a lien :

परन्तु यह कि सक्षम प्राधिकारी ऐसी किसी सेवा को, जो कि किसी काल-वेतनमान के आधार पर संगठित नहीं है और जिसमें इन नियमों के प्रवर्तन में आने के समय एक ग्रेड से दूसरे ग्रेड में स्थानापन्न प्रोन्नतियां करने की पद्धति प्रवृत्त है, इस नियम के प्रवर्तन से छूट प्रदान कर सकेगा :

परन्तु यह और कि सक्षम प्राधिकारी, किसी सेवा की साधारण पंक्ति से बाहर ऐसे पद विनिर्दिष्ट कर सकेगा, जिनके धारकों को, इस नियम के उपबंधों के होते हुए भी और ऐसी शर्तों के अधीन रहते हुए, जो सक्षम प्राधिकारी विहित करे, सेवा के कांडर में कोई ऐसी स्थानापन्न प्रोन्नति दी जा सकेगी, जो प्रोन्नति का आदेश करने के लिए सक्षम प्राधिकारी विनिश्चित करे और तदुपरि उसे वही वेतन दिया जा सकेगा (चाहे वह ऐसे पदों से संबद्ध किसी विशेष वेतन सहित हो या उसके बिना) जो वे तब प्राप्त करते यदि वे अब भी साधारण पंक्ति में होते ।

(2) इस नियम के प्रयोजनार्थ, स्थानापन्न नियुक्ति के बारे में यह नहीं समझा जाएगा कि उसमें अधिक महत्व के कर्तव्यों या उत्तरदायित्वों का ग्रहण करना अंतर्बलित है यदि वह पद जिस पर वह

Provided that the competent authority may exempt from the operation of this rule, any service which is not organised on a time-scale basis and in which a system of action promotions from grade to grade is in force at the time of the coming into force of these rules:

Provided further that the competent authority may specify posts outside the ordinary line of a service the holders of which may, notwithstanding the provisions of this rule and subject to such conditions as the competent authority may prescribe, be given any officiating promotion in the cadre of the service which the authority competent to order promotion may decide and may thereupon be granted the same pay (whether with or without any special pay, if any, attached to such posts) as they would have received if still in the ordinary line.

(2) For the purpose of this rule, the officiating appointment shall not be deemed to involve the assumption of

नियुक्ति की जाती है, उसी वेतनमान में, जैसे कि सावधिक पद से भिन्न ऐसा स्थायी पद जिस पर उसका धारणाधिकार है या उसके समरूप वेतनमान में है ।”

10. उक्त नियम के साथ कतिपय टिप्पण जोड़े गए हैं किन्तु वे प्रस्तुत संविवाद के न्यायनिर्णयन के लिए सुसंगत नहीं हैं । सूक्ष्म रूप से संवीक्षा करने पर यह पाया गया कि उक्त नियम में यह अनुध्यात है कि किसी स्थानापन्न पद पर नियुक्त किया गया सरकारी कर्मचारी किसी स्थायी पद की बाबत अपने अधिष्ठायी वेतन से उच्चतर वेतन तब तक प्राप्त नहीं करेगा जब तक कि वह पद, जिस पर उसे स्थानापन्न रूप में कार्य करने के लिए नियुक्त किया जाता है, नियमों की अनुसूची में प्रगणित पद न हो और इसके अतिरिक्त स्थानापन्न नियुक्ति में उस पद से संबद्ध कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों से अधिक महत्व के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का ग्रहण करना अंतर्वलित न हो । इस संबंध में कोई विवाद नहीं है कि अधीक्षक ग्रेड II और ग्रेड I के पद इस अनुसूची के अंतर्गत आते हैं । यह उल्लेखनीय है कि फायदे का विस्तार नियम 4.22 और नियम 4.24 के उपबंधों के अध्वधीन है ।

11. उपर्युक्त कानूनी स्थिति को ध्यान में रखते हुए, नियम 4.22 और नियम 4.24 को उद्धृत करना आवश्यक है । वे निम्नलिखित रूप में हैं :-

***“नियम 4.22.** सक्षम प्राधिकारी, अस्थायी अध्यापय के रूप में एक सरकारी कर्मचारी को एक समय में अधिष्ठायी रूप से दो या अधिक स्वतंत्र पद धारण करने या स्थानापन्न रूप में कार्य करने के लिए नियुक्त कर सकेगा । ऐसे मामलों में, सरकारी कर्मचारी वह उच्चतर वेतन प्राप्त करेगा जिसका वह तब हकदार होता यदि उसकी नियुक्ति उनमें से केवल एक पद पर की गई होती :

duties or responsibilities of greater importance if the post to which it is made is on the same scale of pay as the permanent post, other than a tenure post, on which he held a lien, or on a scale of pay identical therewith.”

***Rule 4.22.** The competent authority may appoint one Government employee to hold substantively, as a temporary measure or to officiate in, two or more independent posts at one time. In such cases, the Government employee shall draw the highest pay to which he would be entitled if his appointment to one of the posts stood alone:

परन्तु कर्मचारी को दोनों पदों की सेवाओं के लिए अपेक्षित अर्हताएं और शर्तें पूरी करनी चाहिए ।

नियम 4.24. जब कोई कर्मचारी अपने अधिष्ठायी पद के कर्तव्य के अतिरिक्त एक अन्य पद के नित्य प्रति के कार्य का प्रभार धारण करता है तब वह पूर्ववर्ती पद पर स्थानापन्न रूप में कार्य नहीं करता और इसलिए वह किसी अतिरिक्त पारिश्रमिक का हकदार नहीं होता है ।”

12. जैसा कि हम उक्त नियमों के बारे में समझते हैं, उनसे स्पष्ट रूप से यह द्योतित होता है कि जो कर्मचारी उच्चतर पद धारण करता है उसे दोनों पदों की सेवा के लिए अपेक्षित अर्हताएं और शर्तें पूरी करनी चाहिए । न्यायालय के समक्ष यह विवाद नहीं किया गया है कि प्रत्यर्थी अधीक्षक ग्रेड II और ग्रेड I का पद धारण करने का पात्र था । इस संदर्भ में, अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसिल ने हमारा ध्यान नियम 4.16 की ओर दिलाया । उक्त नियम निम्नलिखित रूप में है :-

***“नियम 4.16.** सक्षम प्राधिकारी किसी स्थानापन्न सरकारी कर्मचारी का वेतन इन नियमों के अधीन अनुज्ञेय रकम से कम रकम पर नियत कर सकेगा ।

टिप्पण 1 – इस नियम के अंतर्गत आने वाले मामलों में एक वर्ग वह है जिसमें कोई सरकारी कर्मचारी मात्र नित्य प्रति कर्तव्यों का प्रभार धारित करता है और उस पद के पूर्ण कर्तव्यों का पालन नहीं करता है ।

Provided that the employee must fulfil the requisite qualifications and conditions for services for both the posts.

Rule 4.24. When a Government employee holds current duty charge of another post, in addition to that of his own substantive post, he does not officiate in the former post and as such is not entitled to any additional remuneration."

***Rule 4.16.** A competent authority may fix the pay of an officiating Government employee at an amount less than that admissible under these rules.

Note 1 – One class of cases falling under this rule is that in which a Government employee merely holds charge of the current duties and does not perform the full duties of the post.

टिप्पण 2 – जब किसी सरकारी कर्मचारी को किसी पद पर काल-वेतनमान पर स्थानापन्न रूप में कार्य करने के लिए नियुक्त किया जाता है किन्तु उसका वेतन इस नियम के अधीन काल-वेतनमान के न्यूनतम से कम वेतन पर नियत किया जाता है तब उसके बारे में यह नहीं समझा जाना चाहिए कि उसने नियम 4.4 के अर्थान्तर्गत उस पद पर प्रभावी रूप से स्थानापन्न रूप में कार्य किया है या नियम 4.9 के अर्थान्तर्गत कर्तव्य किया है ।

ऐसे सरकारी कर्मचारी को पुष्टि होने पर, अपना आरंभिक वेतन नियम 4.4(ख) के अधीन नियत करा लेना चाहिए और अपने पुष्टीकरण की तारीख से संगणित अपेक्षित प्रायिक अवधि के लिए कर्तव्य कर लेने के पश्चात् अगली वेतनवृद्धि प्राप्त करनी चाहिए ।

टिप्पण 3 – इस नियम द्वारा प्रदत्त शक्ति का प्रयोग किसी व्यक्तिगत मामले में पारित किसी विशेष आदेश द्वारा और उस मामले के तथ्यों पर विचार करने के पश्चात् ही किया जा सकता है । ऐसा साधारण आदेश, जिसका तात्पर्य नियम 4.14 के प्रवर्तन को सर्वत्र बेदखल करना है, इस नियम के अधिकारातीत होगा । यद्यपि, प्रत्येक व्यक्तिगत मामले के संबंध में प्रकट रूप से विशेष आदेश पारित करने की

Note 2 – When a Government employee is appointed to officiate in a post on a time-scale of pay but has his pay fixed below the minimum of the time-scale under this rule he must not be treated as having effectually officiated in that post within the meaning of rule 4.4 or having rendered duty in it within the meaning of rule 4.9

Such a Government employee on confirmation, should have his initial pay fixed under rule 4.4(b) and draw the next increment after he has put in duty for the usual period required, calculated from the date of his confirmation.

Note 3 – The power conferred by this rule is not exercisable save by a special order passed in an individual case and on a consideration of the facts of that case. A general order purporting to oust universally the operation of rule 4.14 would be ultra vires of this rule. Although, the practice of passing ostensibly special order on every individual

पद्धति इस नियम के अधिकारातीत नहीं होगी तथापि, इससे उसके संबंध में घोरतम संभावित कपट गठित होगा ।”

13. उपर्युक्त निर्देश की सावधानीपूर्वक संवीक्षा करने पर यह दृष्टिगोचर होता है कि उक्त नियम में बिल्कुल भिन्न स्थिति प्रकल्पित है । प्रस्तुत तथ्यात्मक ढांचा पूर्णतः भिन्न है । हम इस प्रकार अभिनिर्धारित करने के लिए इसलिए प्रेरित हुए हैं क्योंकि प्रस्तुत मामले में प्रत्यर्थी उच्चतर पद धारण किए हुए था और इसके अलावा वह उन पदों से संबद्ध उच्चतर उत्तरदायित्व वाले कर्तव्यों का पालन कर रहा था । इस प्रकार विश्लेषण करने पर, हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इन नियमों से राज्य के विद्वान् काउंसिल द्वारा प्रस्तुत की गई प्रस्थापना को बल नहीं मिलता है ।

14. हम कानूनी स्थिति का विश्लेषण करने के पश्चात्, उन नजीरों का उल्लेख कर सकते हैं जिनकी अनुशंसा हमारे समक्ष की गई है । प्रथमतः, हम **प्रीतम सिंह धालीवाल** (उपरोक्त) वाले मामले में के विनिश्चय पर विचार करेंगे जिसका उच्च न्यायालय द्वारा आक्षेपित निर्णय में अवलंब लिया गया है । उक्त मामले में, उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ ने **श्रीमती पी. ग्रोवर बनाम हरियाणा राज्य और एक अन्य¹** और **सेल्वारज बनाम उपराज्यपाल, पोर्ट ब्लेयर महाद्वीप और अन्य²** और उच्च न्यायालय के पूर्ववर्ती विनिश्चयों का अवलंब लिया और कानूनी स्थिति का विश्लेषण करने के पश्चात् यह मत व्यक्त किया है कि उस मामले में अधिकारी से तारीख 14 मार्च, 1996 से उप-निदेशक के रूप में स्थानापन्न रूप से कार्य करने के लिए कहा गया था और वह अपर उपायुक्त (जी) जैसे निरंतर समतुल्य पदों पर तैनात रहा था, और उसकी अधिवर्षिता तक, स्थानापन्न प्रभार को कभी प्रत्याहृत नहीं किया गया, अतः उस पद, जिसके लिए उसे स्थानापन्न करने के लिए और उसकी अधिवर्षिता तक अपना कर्तव्य करने के लिए कहा गया था, के लिए उसे उच्चतर वेतनमान का दावा करने के उसके हक को अस्वीकार नहीं किया जाएगा ।

15. चूंकि उच्च न्यायालय का तर्काधार मूलतः **श्रीमती पी. ग्रोवर** (उपरोक्त) वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा प्रतिपादित विधि के प्रतिपादन पर आधारित है इसलिए हम उक्त मामले में अधिकथित विनिश्चयाधार का

case would not be ultra vires of this rule it would constitute the grossest possible fraud thereon.”

¹ ए. आई. आर. 1983 एस. सी. 1060.

² 1999 (2) एस. सी. टी. 286.

मूल्यांकन करना उपयुक्त समझते हैं। इस न्यायालय के दो न्यायाधीशों की न्यायपीठ ऐसी तथ्यात्मक स्थिति पर विचार कर रही थी जिसमें नीति संबंधी विनिश्चय को ध्यान में रखते हुए, उस मामले में के अपीलार्थी को कार्यकारी जिला शिक्षा अधिकारी के रूप में प्रोन्नत किया गया था। प्रोन्नति के आदेश में यह अधियोजित शर्त अंतर्विष्ट थी कि वह अपना वेतनमान प्राप्त करेगी जिससे प्रकटतः यह अभिप्रेत था कि वह अपने वेतनमान में प्रोन्नति से पूर्व वाला वेतन प्राप्त करती रहेगी। अपीलार्थी द्वारा यह दावा पेश किया गया था कि वह जिला शिक्षा अधिकारी के वेतन की हकदार है और उसे उससे इनकार करने का कोई न्यायोचित्य नहीं है। उच्च न्यायालय के समक्ष एक रिट याचिका फाइल की गई थी और राज्य ने, अन्य बातों के साथ-साथ यह दलील देते हुए प्रति-शपथपत्र फाइल किया था कि उसे कार्यकारी जिला शिक्षा अधिकारी के पद पर प्रोन्नत किया गया था क्योंकि कोई वर्ग I का पद नहीं था और इसलिए वह इस बात की हकदार नहीं थी कि उसे जिला शिक्षा अधिकारी का वेतन संदत्त किया जाए। न्यायालय ने तथ्यात्मक स्थिति का मूल्यांकन करते हुए निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया :-

“..... हम प्रति-शपथपत्र में दिए गए कारण को समझने में असमर्थ हैं। उसे जिला शिक्षा अधिकारी के पद पर, जो कि वर्ग I पद है, कार्यकारी आधार पर प्रोन्नत किया गया था। हमारा ध्यान ऐसे किसी नियम की ओर आकृष्ट नहीं किया गया था जिसमें यह उपबंध हो कि कार्यकारी आधार पर प्रोन्नति से प्रोन्नत अधिकारी उस पद के वेतन का हकदार नहीं होगा। ऐसे किसी नियम के अभाव में, जिसमें उच्चतर पद पर प्रोन्नत किसी अधिकारी को ऐसे उच्चतर पद का वेतन संदत्त करने संबंधी ऐसी इनकारी को न्यायोचित ठहराया गया हो (ऐसे किसी नियम की, यदि वह विद्यमान है, विधिमान्यता संदेहास्पद होगी), हमें अवश्य ही यह अभिनिर्धारित करना चाहिए कि श्रीमती ग्रोवर उस तारीख से, जिसको उस पद पर उन्हें प्रोन्नत किया गया था, अर्थात् 19 जुलाई, 1976 से 31 अगस्त, 1980 तक, जब वह सेवानिवृत्त हुई थी, जिला शिक्षा अधिकारी का वेतन संदत्त किए जाने की हकदार है।”

16. **तिलक राज** (उपरोक्त) वाले मामले में दैनिक मजदूरी वाले व्यक्तियों को नियमित कर्मचारियों को लागू वेतनमान में न्यूनतम वेतन अनुदत्त करने के न्यायोचित्य के संबंध में विवाद्यक उद्भूत हुआ था। दो

न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने विभिन्न विनिश्चयों के प्रतिनिर्देश किया और इस प्रकार अभिनिर्धारित किया :—

“11. कोई वेतनमान किसी निश्चित पद से संबद्ध होता है और दैनिक मजदूरी वाले व्यक्ति की दशा में वह कोई पद धारण नहीं करता। प्रत्यर्थी कर्मकारों के बारे में यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता है कि वे ऐसे कोई पद धारण करते थे जिससे कि वे नियमित और स्थायी कर्मचारिवृन्द से किसी या समस्त प्रयोजनों के लिए, जिसमें समान वेतन और भत्ते भी हैं, किसी प्रकार की तुलना का दावा कर सकें। समानता के आधार पर अनुतोष का दावा करने के लिए दावेदारों को अन्य समूह के बराबर अधिकारों तथा अभिकथित भेदभाव का दावा करने का पात्र बनने के लिए समानता का स्पष्ट आधार और पारिणामिक विरोधी भेदभाव सिद्ध करना होता है। उच्च न्यायालय के समक्ष दोनों प्रवर्गों में से किसी भी प्रवर्ग के कर्तव्यों की प्रकृति के बारे में कोई सामग्री प्रस्तुत नहीं की गई थी और यह अभिनिर्धारित करना संभव नहीं है कि “समान कार्य के लिए समान वेतन” का सिद्धांत अमूर्त है।

12. “समान कार्य के लिए समान वेतन” एक ऐसी संकल्पना है जिसे लागू करने के लिए समान वेतनमान का दावा करने वाले कर्मचारियों के समूह और कर्मचारियों के ऐसे अन्य समूह के बीच, जिन्होंने ऐसे वेतनमान पहले ही अर्जित कर लिए हैं, संपूर्ण और समग्र समानता करना आवश्यक है। समान वेतन के बारे में समस्या का निपटारा सदैव गणितीय सूत्र द्वारा नहीं किया जा सकता।”

उक्त विनिश्चय का समग्र रूप से सावधानीपूर्वक परिशीलन करने पर हमारी यह सुविचारित राय है कि यह अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसिल द्वारा प्रस्तुत की गई प्रतिपादना के लिए कोई नज़ीर नहीं है। इससे उस सिद्धांत को बिल्कुल भी समर्थन प्राप्त नहीं होता जिसे राज्य द्वारा श्रमसाध्य रूप से स्थापित करने की ईप्सा की गई है।

17. एस. सी. चन्द्रा (उपरोक्त) वाले मामले में के अपीलार्थियों ने झारखंड उच्च न्यायालय में रिट याचिका फाइल की थी, जिसके द्वारा प्रत्यर्थी सं. 3 से 6 के विरुद्ध ब्याज सहित वेतन, महंगाई भत्ता और बकाया देने के लिए परमादेश की रिट जारी करने और इसके अलावा विद्यालय को बन्द न करने का निदेश देने या अनुकल्पतः प्रत्यर्थी सं. 1 और 2 को

प्रश्नगत विद्यालय का प्रबंध और नियंत्रण अपने हाथ में लेने का निदेश जारी करने की ईप्सा की गई थी। उच्च न्यायालय के समक्ष रिट याची विद्यालय के अध्यापक और गैर-शिक्षण कर्मचारिवृन्द थे और उन्होंने स्वयं को हिन्दुस्तान क्रॉपर लिमिटेड (एच. सी. एल.) के कर्मचारी होने का दावा किया था। न्यायालय ने, उच्च न्यायालय के निर्णय का परिशीलन करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया कि मात्र इस कारण कि एच. सी. एल. का प्रबंधतंत्र वित्तीय सहायता दे रहा था, स्वतः यह अर्थान्वयन नहीं किया जा सकता कि विद्यालय एच. सी. एल. के प्रबंधतंत्र द्वारा चलाया जा रहा था और तदनुसार, न्यायालय ने अपील खारिज कर दी। हमें यह मत व्यक्त करने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि उक्त निर्णय में जो सिद्धांत अधिकथित किया गया है वह वर्तमान तथ्यों को लागू नहीं होता है।

18. ए. फ्रांसिस (उपर्युक्त) वाले मामले में, न्यायालय अपीलार्थी की सहायक प्रबंधक के उच्चतर वेतनमान में, जिस पर उसने 28 फरवरी, 2001 से 31 मई, 2005 तक कार्य किया था, उसके वेतन की हकदारी के संबंध में विचार कर रहा था। नियोजक ने कतिपय फायदों से इनकार किया था और कर्मचारी ने उच्च न्यायालय के समक्ष रिट याचिका फाइल की, जो विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा मंजूर कर ली गई थी। कारपोरेशन ने लेटर्स पेटेंट अपील फाइल की थी, जिसके द्वारा विद्वान् एकल न्यायाधीश के निर्णय को उलट दिया गया था। इस न्यायालय के समक्ष अपीलार्थी ने सचिव-सह-मुख्य इंजीनियर, चंडीगढ़ बनाम हरी ओम शर्मा और अन्य¹ वाले मामले का अवलंब लिया। कारपोरेशन की ओर से यह दलील देते हुए आदेश के निबंधनों पर जोर दिया गया था कि आदेश में वेतन और परिलब्धियों के संबंध में विनिर्दिष्ट शर्तें अनुबंधित की गई थीं और इसलिए उच्चतर पद के संबंध में दावा विधि की दृष्टि से मान्य नहीं है।

19. न्यायालय ने तथ्यात्मक आधार पर मूल्यांकन करते हुए निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया :-

“तारीख 28 फरवरी, 2001 के आदेश में, जिसके द्वारा अपीलार्थी को सहायक प्रबंधक के पद पर कर्तव्यों का निर्वहन करने के लिए अनुज्ञात किया गया था, यह स्पष्ट किया गया था कि अपीलार्थी उससे किसी फायदे का दावा करने का हकदार नहीं होगा, जिसमें उच्चतर वेतन भी है और इसके अतिरिक्त वह सहायक श्रम

¹ (1998) 5 एस. सी. सी. 87.

कल्याण अधिकारी के पद पर अपना वेतन लेता रहेगा। यदि उसे उच्चतर पद पर कर्तव्यों का निर्वहन करने के लिए अनुज्ञात करने वाले आदेश का स्पष्ट निबंधन यह था तो यह अवलोकन करना कठिन है कि उक्त शर्त को किस प्रकार अनदेखा या नजरअन्दाज़ किया जा सकता है। सचिव-सह-मुख्य इंजीनियर (उपरोक्त) वाले मामले में इस न्यायालय का विनिश्चय ऐसी स्थिति में दिया गया था जहां पदधारी को उच्चतर पद पर तदर्थ आधार पर प्रोन्नत किया गया था। उपर्युक्त विनिश्चय इसलिए भी प्रभेद्य है चूंकि प्रोन्नति आदेश में ऐसी कोई विनिर्दिष्ट शर्त नहीं थी जो पदधारी को उच्चतर वेतनमान के वेतन से विवर्जित करती हो। ऐसी शर्त कर्मचारी से लिए गए वचनबंध में शामिल की गई थी, जिसे इस न्यायालय द्वारा लोक नीति के प्रतिकूल अभिनिर्धारित किया गया था।”

20. हरी ओम शर्मा (उपरोक्त) वाले मामले में प्रत्यर्थी को वर्ष 1990 में कनिष्ठ इंजीनियर I के रूप में प्रोन्नत किया गया था और वह उक्त पद के लिए वेतन का संदाय किए बिना और नियमित आधार पर प्रोन्नत किए बिना उस पद पर कार्य करता रहा था। इस स्थिति में उसने केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण में समावेदन किया जिसने दावा याचिका को इस निदेश के साथ मंजूर कर लिया कि प्रत्यर्थी को कनिष्ठ इंजीनियर I के पद का वेतन संदत्त किया जाएगा। इसके अलावा, कतिपय अन्य निदेश भी जारी किए गए थे। न्यायालय ने इस तथ्य को ध्यान में रखा कि प्रत्यर्थी को कामचलाऊ व्यवस्था के आधार पर कनिष्ठ इंजीनियर I के रूप में प्रोन्नत किया गया था और यह राय व्यक्त की कि मात्र इस आधार पर उक्त पद के वेतन संबंधी उसके दावे से इनकार नहीं किया जाएगा। उस संदर्भ में, न्यायालय ने निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया :—

“..... यदि किसी व्यक्ति को अधिक उत्तरदायित्व वाले किसी उच्चतर पद पर स्थानापन्न रूप में नियुक्त किया जाता है तो वह सामान्यतया उस पद के वेतन का हकदार होता है। अधिकरण ने यह अवेक्षा की कि प्रत्यर्थी वर्ष 1990 से कनिष्ठ इंजीनियर I के पद पर कार्य कर रहा है और इतनी लंबी अवधि के बाद की गई प्रोन्नति को कामचलाऊ व्यवस्था नहीं माना जा सकता है।”

21. न्यायालय ने इस प्रकार कथन करने के पश्चात् निम्नलिखित रूप में मत व्यक्त किया :—

“अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल ने यह दलील देने का प्रयास किया कि जब प्रत्यर्थी को कामचलाऊ व्यवस्था के रूप में कनिष्ठ इंजीनियर I के रूप में प्रोन्नत किया गया था तब उसने अपीलार्थी को यह वचनबंध दिया था कि वह कामचलाऊ व्यवस्था के आधार पर न तो अधिकार-स्वरूप प्रोन्नति का दावा करेगा और न ही उस पद से संबंधित किसी फायदे का दावा करेगा। यह तर्क अत्यंत निरर्थक है। इस तथ्य के अतिरिक्त कि सरकार को एक आदर्श नियोजक के रूप में अपनी हैसियत में, ऐसी दलील देने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जा सकता है, उस वचनबंध को, जिसके बारे में यह कथन किया गया है कि वह पक्षकारों के बीच करार गठित करता है, विधि की दृष्टि से प्रवर्तित नहीं किया जा सकता है। चूंकि प्रत्यर्थी अपीलार्थी का एक कर्मचारी है इसलिए उसे अपनी वृद्धिरुद्धता की अवधि का भंग करना था यद्यपि, जैसा कि हमने पहले निष्कर्ष निकाला है, गैर-डिप्लोमाधारकों में से वही एकमात्र ऐसा व्यक्ति था, जो कनिष्ठ इंजीनियर I के पद पर प्रोन्नति के लिए उपलब्ध था और इसलिए उसके अधिकारस्वरूप प्रोन्नति के लिए उसके बारे में विचार किया जाना संभावित था। ऐसा कोई करार कि यदि किसी व्यक्ति को उच्चतर पद पर प्रोन्नत किया जाता है या उस पद पर स्थानापन्न रूप में कार्य करने के लिए कहा जाता है या जैसा कि वर्तमान मामले में हुआ था, उसे उच्चतर पद पर रखने की कोई कामचलाऊ व्यवस्था की जाती है तो वह उच्चतर वेतन या अन्य संबद्ध फायदों का दावा नहीं करेगा, विधि की दृष्टि से प्रतिकूल होगा और लोक नीति के भी विरुद्ध होगा। वह संविदा अधिनियम, 1872 की धारा 23 को ध्यान में रखते हुए प्रवर्तनीय नहीं होगा। (जोर देने के लिए रेखांकित)

उक्त मामले में अनुध्यात सिद्धांत अत्यंत महत्वपूर्ण है चूंकि इसमें लोक नीति की संकल्पना और संविदा की नितांतता की संकल्पना के प्रति निर्देश किया गया है।

22. वर्तमान मामले में, नियमों में वेतनमान अनुदत्त करना प्रतिषिद्ध नहीं है। उच्च न्यायालय के फायदा प्रदान करने संबंधी विनिश्चय को श्रीमती पी. ग्रोवर (उपर्युक्त) और हरी ओम शर्मा (उपरोक्त) वाले मामलों में अधिकथित सिद्धांतों से समर्थन प्राप्त होता है। जहां तक ए. फ्रांसिस (उपरोक्त) वाले मामले के निर्णय का संबंध है, हम यह मत व्यक्त करना चाहेंगे कि उक्त मामला अपने स्वयं के तथ्यों पर आधारित है। हम स्पष्ट

रूप से यह कथन कर सकते हैं कि आदेश में कोई समावेशन करके या मात्र कोई वचनबंध देकर, किसी भी परिस्थिति में, कर्मचारी को स्थानापन्न स्थिति के फायदों का दावा करने से विवर्जित नहीं किया जाएगा। हम यह मानने के लिए प्रवृत्त हुए हैं कि यह संविवाद **हरि ओम शर्मा** (उपरोक्त) वाले मामले में अधिकथित विनिश्चयाधार के अंतर्गत आता है और परिणामस्वरूप हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि उच्च न्यायालय द्वारा अभिव्यक्त मत पूर्णतः त्रुटिहीन है।

23. उपर्युक्त आधारों को ध्यान में रखते हुए, हमें इस अपील में कोई गुणागुण प्रतीत नहीं होता और तदनुसार वह खारिज की जाती है और खर्चों के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता है।

अपील खारिज की गई।

प्रो.

[2018] 1 उम. नि. प. 117

नादिभिमिति सूर्यनारायण

बनाम

कतुर्थी कृष्णा भाष्कर राव और अन्य

9 अक्टूबर, 2017

न्यायमूर्ति आर. के. अग्रवाल और न्यायमूर्ति अभय मनोहर सापरे

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 133 [संपठित संपत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 की धारा 52 और विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 की धारा 16(ग)] – अपील – स्थावर संपत्ति का विक्रय करने के लिए करार – इसी संपत्ति का विक्रय करने के लिए, विक्रेता द्वारा अन्य करार – पूर्ववर्ती क्रेता द्वारा करार के अपने भाग का पालन करने के लिए हमेशा ही तैयार और रजामंद होना – पूर्ववर्ती विक्रेता द्वारा करार के अपने भाग का पालन करने से इनकार करना – पूर्ववर्ती क्रेता द्वारा करार का विनिर्दिष्ट पालन कराने के लिए वाद फाइल किया जाना – वाद डिक्री किया जाना और पश्चात्पूर्व करार अकृत और शून्य घोषित किया जाना – यदि अभिलेख पर यह साबित कर दिया जाता है कि किसी स्थावर संपत्ति का विक्रय करने के लिए दो पक्षकारों के बीच कोई विधिमान्य

करार हुआ है और पक्षकारों में से एक पक्षकार करार के अपने भाग का पालन करने के लिए हमेशा ही तैयार और रजामंद रहा है, किन्तु दूसरा पक्षकार करार के अपने भाग का पालन करने से न केवल इनकार किया है, अपितु उसी संपत्ति का विक्रय करने के लिए अन्य पक्षकार से करार कर लिया है तो विनिर्दिष्ट पालन के बाद में पूर्ववर्ती करार को विधिमान्य ठहराते हुए विनिर्दिष्ट पालन के बाद को डिक्री करने वाला आदेश और पश्चात्पूर्वी करार को अकृत और शून्य ठहराते हुए, अग्रिम धन, यदि कोई है, को वापस करने वाला आदेश, युक्तियुक्त और विधिमान्य होगा।

वर्तमान मामले में, सूर्यनारायण, ग्राम अमलापुरम, आंध्र प्रदेश में स्थित गृह (वादपत्र में संलग्न अनुसूची में सविस्तार वर्णित — जिसे इसमें इसके पश्चात् “वाद गृह” कहा गया है, का स्वामी था। उसकी मृत्यु वर्ष 1980 में हुई और अपने पीछे अपनी पत्नी (प्रतिवादी सं. 1) और पुत्रियों (प्रतिवादी सं. 2 और 3) और प्रपौत्र (प्रतिवादी सं. 4 और 5) को छोड़ गया। उसने अपनी पत्नी के पक्ष में उसका जीवन हित देते हुए एक विल निष्पादित किया था। इसलिए, उसने वाद गृह प्राप्त किया था। इन प्रतिवादियों ने वाद गृह का सहस्वामी होने का दावा करते हुए रु. 150/- के माहवार किराए पर 1981 में प्रतिवादी सं. 6 को वाद गृह को किराए पर दे दिया था। तारीख 18 जनवरी, 1983 को प्रतिवादी सं. 1 से 5 ने रु. 46,000/- के एवज में वादी के पक्ष में वाद गृह का विक्रय करने के लिए वादी (प्रत्यर्थी सं. 1) के साथ एक करार किया। तदनुसार, वादी ने प्रतिवादी सं. 1 से 5 को अग्रिम धन के रूप में रु. 1000/- संदत्त किया और अतिशेष रकम का संदाय वादी द्वारा प्रतिवादी सं. 1 से 5 को विक्रय विलेख की रजिस्ट्रीकरण के समय संदत्त किया जाना था जिसे छह माह के भीतर निष्पादित किया जाना था। तदनुसार, वादी ने अतिशेष रकम की व्यवस्था की थी। तथापि, दूसरी ओर, प्रतिवादी सं. 1 से 5 ने वादी के पक्ष में विक्रय विलेख निष्पादित करने का वचन दिया जैसा कि तारीख 18 जनवरी, 1983 के करार के अनुसार, उनके बीच में करार हुआ और दूसरी ओर, प्रतिवादी सं. 1 से 5 ने वादी के पक्ष में विक्रय विलेख निष्पादित करने के बजाय रु. 45,000/- में प्रतिवादी सं. 6 के पक्ष में तारीख 9 फरवरी, 1983 को एक विक्रय विलेख निष्पादित किया। इस कारण से वादी (प्रत्यर्थी सं. 1) ने सभी 6 प्रतिवादियों के विरुद्ध तारीख 14 जुलाई, 1983 को अधीनस्थ न्यायाधीश, अमलापुरम के न्यायालय में वाद फाइल किया था जिससे यह अपील उद्भूत हुई है। वाद, तारीख 18 जनवरी, 1983 के करार के विनिर्दिष्ट पालन के लिए और वैकल्पिक रूप में वादी द्वारा संदत्त

प्रतिफल की वापसी के लिए और वादी द्वारा पारित क्षतिपूर्ति के लिए भी फाइल किया गया था। वादी ने अन्य बातों के साथ यह प्रकथन किया कि वह हमेशा से ही करार के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामंद रहा है और वस्तुतः उसने करार के निबंधनों में अग्रिम धन के रूप में रु. 1000/- प्रतिवादी सं. 1 और 5 को संदत्त करते हुए अपने भाग का पालन किया है और अब भी वह विक्रय विलेख की रजिस्ट्रीकरण के समय पर अतिशेष प्रतिफल का संदाय करने के लिए हमेशा से ही तैयार और रजामंद था/है। यह प्रकथन किया कि छह माह की अवधि व्यतीत होने के पूर्व ही जो जुलाई, 1983 में बीत गया था, प्रतिवादी सं. 1 से 5 ने स्वयं तारीख 9 फरवरी, 1983 को प्रतिवादी सं. 6 को वाद गृह का विक्रय कर दिया और इस प्रकार, उन्होंने वादी के पक्ष में विक्रय विलेख निष्पादित करते हुए करार के अपने भाग का पालन नहीं किया और अतएव, वाद गृह के संबंध में विक्रय विलेख का निष्पादन करने के लिए तारीख 18 जनवरी, 1983 के करार के विनिर्दिष्ट पालन की ईप्सा करते हुए वाद फाइल की गई और वैकल्पिक रूप में प्रतिवादी सं. 1 से 5 को संदत्त धन की वापसी और ग्रसित हानि के लिए प्रतिकर की मांग की गई। प्रतिवादी सं. 1 से 5 ने अपना सामान्य लिखित कथन फाइल किया जबकि प्रतिवादी सं. 6 ने अपना लिखित कथन फाइल किया। जहां तक प्रतिवादी सं. 1 से 5 का संबंध है उन्होंने यह पक्षकथन किया कि उन्होंने सर्वप्रथम प्रतिवादी सं. 6 के साथ तारीख 4 जनवरी, 1983 को रु. 45,000/- में वाद गृह का विक्रय करने के लिए एक करार किया था। तथापि, वादी को संव्यवहार की जानकारी होने पर उसने प्रतिवादी सं. 1 से 5 से संपर्क किया और उनसे यह निवेदन किया कि वे उसे वाद गृह का विक्रय कर दे और यह कथन किया कि वह प्रतिवादी सं. 6 को संव्यवहार वापस करने के लिए राजी कर लेगा और इसके बजाय वाद गृह का विक्रय उसे करना मंजूर कर ले। यह प्रकथन किया कि वादी प्रतिवादी सं. 1 से 5 को यह भी सुनिश्चित करेगा कि यदि किसी कारण से वह प्रतिवादी सं. 6 को संव्यवहार को वापस लेने के लिए राजी करने में असफल रहता है तो वह वापस आएगा जिसके लिए प्रतिवादी सं. 1 से 5 सहमत होंगे और तदनुसार, तारीख 18 जनवरी, 1983 को वादी के साथ एक करार किया। उसके बाद, प्रतिवादियों (1 से 5) ने इस पृष्ठभूमि में यह प्रकथन किया कि किस प्रकार वे प्रतिवादी सं. 6 को वाद गृह का विक्रय करने के लिए सहमत करेगा। उनके अनुसार, स्व. सूर्यनारायण ने अपने जीवन काल के दौरान एक लेनदार (श्रीमती एम. वेंकटलक्ष्मी) से कुछ धन (रु. 1400/-

और रु. 1200/-) उधार लिया था, किन्तु उक्त ऋण का संदाय करने के पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई। इसलिए, लेनदार ने इसका प्रतिसंदाय करने के लिए प्रतिवादी सं. 1 से 5 पर दबाव बनाया और इस पृष्ठभूमि में भी प्रतिवादी सं. 1 से 5 ने प्रतिवादी सं. 6 के साथ तारीख 4 जनवरी, 1983 को प्रतिवादी सं. 6 के वाद गृह का विक्रय करने के लिए एक विक्रय करार किया। प्रतिवादियों ने प्रतिवादी सं. 6 के साथ पूर्व करार को न्यायोचित ठहराने के लिए कुछ सविस्तार कारण दिया है। जहां तक प्रतिवादी सं. 6 का संबंध है, वादी के दावों को इनकार करते समय अधिक या कम रूप से प्रतिवादी सं. 1 से 5 द्वारा लिए गए आधारों को ही दोहराया है। उसने सद्भाविक आशय के साथ विधिमान्य प्रतिफल के एवज में अपने पक्ष में विक्रय का बचाव किया। उसने यह भी अभिकथन किया कि उसका करार वादी की सहमति के पूर्व होने के नाते विधिक और विधिमान्य है। पक्षकारों ने साक्ष्य प्रस्तुत किया। विचारण न्यायालय ने तारीख 13 सितम्बर, 1989 के निर्णय द्वारा वादी का वाद डिक्री कर दिया। विचारण न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि वाद गृह का विक्रय करने के लिए प्रतिवादी सं. 6 के साथ तारीख 4 जनवरी, 1983 का करार असली और सद्भाविक करार नहीं था। यह भी अभिनिर्धारित किया कि ऐसे करार के अनुसरण में, निष्पादित तारीख 9 फरवरी, 1983 का विक्रय करार असली विक्रय करार नहीं था और प्रतिवादी सं. 1 से 5 तथा प्रतिवादी सं. 6 के बीच वाद गृह का विक्रय और क्रय करने के लिए किसी प्रकार के प्रतिफल का लेन-देन नहीं हुआ था। यह भी अभिनिर्धारित किया कि वादी और प्रतिवादी सं. 1 से 5 के बीच तारीख 18 जनवरी, 1983 का करार एक असली करार था जो उस अनुसरण में भी किया गया था जिसमें प्रतिवादी सं. 1 से 5 ने वादी से भागतः संदाय प्राप्त किया था। उसके बाद यह अभिनिर्धारित किया कि वादी करार के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार था किन्तु प्रतिवादी सं. 1 से 5 ही थे जिन्होंने करार का भंग किया है। विचारण न्यायालय ने इन निष्कर्षों के साथ प्रतिवादियों के विरुद्ध वाद डिक्री कर दिया और वाद गृह के संबंध में विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री पारित किया, यह निर्देश देते हुए कि प्रतिवादी वादी से रु. 45,000/- प्राप्त करने पर वादी के पक्ष में विक्रय विलेख निष्पादित करें। इससे व्यथित होकर, प्रतिवादी सं. 6 ने उच्च न्यायालय के समक्ष प्रथम अपील फाइल की। विद्वान् एकल न्यायाधीश ने प्रतिवादी सं. 6 की अपील को मंजूर कर लिया और विचारण न्यायालय द्वारा पारित निर्णय/डिक्री को अपास्त कर दिया और परिणामस्वरूप, वादी का वाद खारिज कर दिया। इससे व्यथित होकर वादी

ने उच्च न्यायालय के खंड न्यायपीठ के समक्ष लेटर्स पेटेन्ट अपील फाइल की। आक्षेपित आदेश द्वारा खंड न्यायपीठ ने वादी की अपील को मंजूर कर लिया और एकल न्यायाधीश के निर्णय को अपास्त करते हुए, विचारण न्यायालय के निर्णय को प्रतिस्थापित कर दिया। परिणामस्वरूप, वादी का वाद, प्रतिवादियों के विरुद्ध वाद गृह के संबंध में डिक्री हो गया जिसमें वादी के पक्ष में तारीख 18 जनवरी, 1983 के करार का पालन करने का निर्देश दिया गया। इससे व्यथित होकर, प्रतिवादी सं. 6 ने इस न्यायालय के समक्ष विशेष इजाजत के माध्यम से वर्तमान अपील फाइल की है। उच्चतम न्यायालय द्वारा विशेष इजाजत अपील को भागतः मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – यह विवादित नहीं है कि वादी ने अपने भाग का पालन किया है जब उसने तारीख 18 जनवरी, 1983 के करार के निबंधनों में प्रतिवादी सं. 1 से 5 को रु. 1000/- की अग्रिम धन संदत्त किया था। यह भी विवादित नहीं है कि विक्रय विलेख को छह माह के भीतर अर्थात् जुलाई, 1983 तक निष्पादित करा लिया गया था। यह भी विवादित नहीं है कि प्रतिवादी सं. 1 से 5 ने प्रतिवादी सं. 6 के पक्ष में तारीख 9 फरवरी, 1983 को विक्रय विलेख निष्पादित किया था। इस प्रकार प्रतिवादी सं. 1 से 5 की ओर से भंग किया जाना प्रकट है, इसलिए, जब एक बार एक तथ्य अविवादित हो गए हैं तो वादी द्वारा कुछ और साबित करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। इसके बावजूद, वादी ने अपने पक्ष में विक्रय विलेख निष्पादित करने के लिए प्रतिवादी सं. 1 से 5 को एक नोटिस (प्रदर्श ए-2) भेजा था, किन्तु प्रतिवादियों ने इस पर ध्यान नहीं दिया था। न्यायालय के सुविचारित राय में, प्रतिवादियों द्वारा क्रमशः अपने लिखित कथनों में बताई गई यह कहानी कि किन परिस्थितियों में, तारीख 4 जनवरी, 1983 का करार प्रतिवादी सं. 1 से 5 और प्रतिवादी सं. 6 के बीच निष्पादित किया गया था, पूर्णतया काल्पनिक असंगत और बनावटी है। इसलिए, दोनों निचले न्यायालयों (विचारण न्यायालय और खंड न्यायपीठ), ने सही ही इस पर अविश्वास किया और न्यायालय उनके कारणों पर पूर्ण रूप से सहमत है। वस्तुतः, यदि प्रतिवादी सं. 1 से 5 का मुख्य आशय वाद गृह का विक्रय करने और कुटुम्ब के ऋण को समाप्त करने का था और यदि न्यायालय उनकी इस कहानी को इस सीमा तक स्वीकार भी कर ले तो भी न्यायालय के मत में, वादी द्वारा वाद गृह का प्रतिवादी को विक्रय करके भी उस प्रयोजन को पूरा नहीं कर सकते थे। वादी के साथ सहमत विक्रय प्रतिफल प्रतिवादी सं. 6 के विरुद्ध जिसने रु. 45,000/- में क्रय किया था, से अधिक 46,000/- रुपए है। दूसरे शब्दों

में, यदि प्रतिवादी सं. 1 से 5 का आशय वाद गृह का विक्रय करके ऋण को समाप्त करना था तो ऐसा प्रयोजन वादी को वाद गृह का विक्रय करते हुए भी अच्छी तरह से प्राप्त किया जा सकता था और मात्र प्रतिवादी सं. 6 को ही इसका विक्रय करने का कोई विशेष कारण नहीं था। इसके बजाय यह स्पष्ट होता है कि वह वाद गृह का किराएदार होने के नाते किसी भी कीमत पर वाद गृह क्रय करने के लिए उत्सुक था, क्योंकि वह इसके व्यवसाय में था। जहां तक इस अन्य कहानी का संबंध है कि किस प्रकार और क्यों स्व. सूर्यनारायण ने ऋण लिया था और उन्होंने किससे लिया था, इत्यादि का पक्षकारों के बीच विनिर्दिष्ट पालन को विनिश्चित करने के लिए कोई सुसंगतता नहीं है, इस साधारण कारण से कि यह प्रतिवादी सं. 1 से 5, सूर्यनारायण और उसके लेनदार के बीच का आंतरिक मामला था। इसलिए, दोनों निचले न्यायालय (विचारण न्यायालय और खंड न्यायापीठ), प्रतिवादियों द्वारा अभिवाचित कहानी के इस भाग को पूर्णतया असंगत होने के नाते नामंजूर करने में सही थे। पूर्ववर्ती चर्चा के प्रकाश में, न्यायालय की यह सुविचारित राय है कि दोनों निचले न्यायालय प्रतिवादियों के विरुद्ध तारीख 18 जनवरी, 1983 के करार का विनिर्दिष्ट पालन कराने के लिए वादी के वाद को डिक्री करने में सही थे और न्यायालय इस निष्कर्ष को कायम रखता है। (पैरा 22, 23, 24, 25 और 26)

इस मामले में, डिक्री का प्रभाव यह है कि वादी को तारीख 18 जनवरी, 1983 के करार के निबंधनों में प्रतिवादी सं. 1 से 5 को अतिशेष विक्रय प्रतिफल का संदाय करने की आवश्यकता है और बदले में, प्रतिवादी सं. 1 से 5 को वादी के पक्ष में वाद गृह का विक्रय विलेख निष्पादित किया जाना है और वादी को वाद गृह का कब्जा दिया जाना है। चूंकि, इसी बीच में, प्रतिवादी सं. 1 से 5 ने वाद गृह को रु. 45,000/- के प्रतिफल में तारीख 9 फरवरी, 1983 के विक्रय विलेख द्वारा प्रतिवादी सं. 1 को विक्रय कर दिया है, इसलिए, ऐसा विक्रय वादी पर आबद्धकर नहीं होगा। वास्तव में, अब तारीख 9 फरवरी, 1983 का विक्रय विलेख विधि में दूषित हो गया है और प्रतिवादी सं. 1 से 5 तथा प्रतिवादी सं. 6 के बीच विक्रय संव्यवहार असफल हो गया है। ऐसी परिस्थितियों में, विक्रेता अर्थात् (प्रतिवादी सं. 1 से 5) को रु. 45,000/- या उसके किसी भाग के विक्रय प्रतिफल को रोके रखने का कोई अधिकार नहीं है जिसे उसने प्रतिवादी सं. 6 से प्राप्त किया है, जैसी भी दशा हो, और इसलिए, उसे क्रेता (प्रतिवादी सं. 6) को वापस करना होगा। दूसरे शब्दों में, जो भी रकम जिसे प्रतिवादी सं. 1 से 5 द्वारा प्रतिवादी सं. 6 से (चाहे रु. 45,000/- या उसका कोई भाग) प्राप्त

किया गया है उसे प्रतिवादी सं. 1 से 5 द्वारा प्रतिवादी सं. 6 को वापस करना होगा। इसलिए, न्यायालय यह ठीक और समुचित समझता है और पक्षकारों के बीच इस मुकदमेबाजी जो पिछले लगभग 3 दशकों से अधिक अवधि से लंबित है, का अंत करने और वाद/अपील के पक्षकारों के बीच साम्या के संतुलन को ध्यान में रखते हुए, यह निर्देश देते हैं कि प्रतिवादी सं. 1 से 5 द्वारा प्रतिवादी सं. 6 को रु. 45,000/- या जो भी रकम हो, को वापस करना होगा जिसे उन्होंने (प्रतिवादी सं. 1 से 5) प्रतिवादी सं. 6 से विक्रय प्रतिफल के रूप में प्राप्त किया है। यह निर्देश न्यायालय द्वारा संविधान, 1950 के अनुच्छेद 142 के अधीन शक्तियों का अवलंब लेते हुए प्रतिवादियों को संपूर्ण न्याय के लिए दिया जाता है, क्योंकि न्यायालय भविष्य में, इस रकम की वसूली के लिए प्रतिवादियों के बीच फिर से मुकदमेबाजी की शुरुआत नहीं होने देना चाहता है। न्यायालय यहां यह भी स्पष्ट करता है कि यदि तारीख 9 फरवरी, 1983 के विक्रय विलेख के निष्पादन के लिए विक्रय प्रतिफल के माध्यम से प्रतिवादी सं. 6 द्वारा प्रतिवादी सं. 1 से 5 को संदत्त सुनिश्चित रकम के संबंध में प्रतिवादी सं. 1 से 5 और प्रतिवादी सं. 6 के बीच कोई विवाद उद्भूत होता है तो निष्पादन न्यायालय इस प्रश्न की सीमित जांच कराएगा और इस तथ्य को साबित करने के लिए पक्षकारों को अवसर देने के पश्चात् अपना निष्कर्ष अभिलिखित करेगा और उसके बाद, तदनुसार पक्षकारों को विनिश्चित रकम का संदाय करना होगा। न्यायालय के नोटिस में यह भी लाया गया है कि इस मुकदमे के लंबित रहने के दौरान वाद गृह के संबंध में कुछ और संव्यवहार हुए हैं। इस संबंध में यह कहना पर्याप्त होगा कि ऐसे संव्यवहार “विचाराधीन वाद के सिद्धांत” का प्रत्यक्ष तौर पर अतिक्रमण करते हैं, जैसा कि संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 की धारा 52 के अधीन अनुध्यात है और इसलिए, इसका कोई परिणाम नहीं होगा जहां तक कि इस मुकदमेबाजी का संबंध है। दूसरे शब्दों में, ये संव्यवहार मुकदमे के पक्षकारों पर कम से कम वादी पर आबद्धकर नहीं है। इसलिए, ऐसे पक्षकारों को इस निर्णय के परिणामस्वरूप विधि के अनुसरण में, अपने-अपने अधिकारों को प्राप्त करने की स्वतंत्रता होगी। (पैरा 30, 31, 32 और 33)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[1954] ए. आई. आर. 1954 एस. सी. 74 :

दुर्गा प्रसाद और एक अन्य बनाम

दीप चंद और अन्य ।

28, 30

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2007 की सिविल अपील सं. 5517.

संविधान, 1950 के अनुच्छेद 133 के अधीन अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सुश्री मंजित कृपाल और श्री टी. वी. रमन, अधिवक्ता

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री हर्ष पिचारा और आशीष तिवारी, (सुश्री डी. भारती रेड्डी के लिए) अधिवक्ता

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति अभय मनोहर सापरे ने दिया ।

न्या. सापरे — यह अपील मूल प्रतिवादी सं. 6 द्वारा आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय, हैदराबाद द्वारा 1998 की लेटर्स पेटेंट अपील सं. 121 में पारित तारीख 11 जुलाई, 2003 के अंतिम निर्णय और आदेश के विरुद्ध फाइल की गई है जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने 1989 की अपील सं. 2061 में तारीख 2 फरवरी, 1996 को पारित निर्णय और आदेश को अपास्त कर दिया था और अधीनस्थ न्यायाधीश, अमलापुरम द्वारा 1983 की मूल वाद सं. 50 में पारित तारीख 13 सितम्बर, 1989 के निर्णय और डिक्री को कायम रखा था जिसके द्वारा उन्होंने प्रतिवादी सं. 6 (इसमें का मूल अपीलार्थी) के विरुद्ध वाद गृह के संबंध में करार के विनिर्दिष्ट पालन के लिए वादी (इसमें का प्रत्यर्थी सं. 1) के वाद को डिक्री कर दिया था ।

2. अपील में उद्भूत संविवाद की विवेचना करने के अनुक्रम में इसके सुसंगत तथ्यों का नीचे उल्लेख किया जाना आवश्यक है ।

3. नादिमिती सूर्यनारायण मूर्ति — इसमें का मूल अपीलार्थी (अब मृत और अब उसके विधिक प्रतिनिधियों के रूप में वर्तमान अपीलार्थियों द्वारा प्रतिनिधित्व करना) प्रतिवादी सं. 6 थी जबकि इसमें का प्रत्यर्थी सं. 1 वादी और मूल प्रत्यर्थी सं. 2 (प्रतिवादी सं. 1) है, अब मृत और विधिक उत्तराधिकारियों (प्रतिवादी सं. 2 और 3) के मार्फत प्रतिनिधित्व जबकि प्रत्यर्थी सं. 3 और 4 वाद में प्रतिवादी सं. 4 और 5 हैं जिससे यह अपील उद्भूत हुई है ।

4. सूर्यनारायण, ग्राम अमलापुरम, आंध्र प्रदेश में स्थित गृह (वाद पत्र में संलग्न अनुसूची में सविस्तार वर्णित — जिसे इसमें इसके पश्चात् “वाद गृह” कहा गया है, का स्वामी था । उसकी मृत्यु वर्ष 1980 में हुई और अपने पीछे अपनी पत्नी (प्रतिवादी सं. 1) और पुत्रियों (प्रतिवादी सं. 2 और 3)

और प्रपौत्र (प्रतिवादी सं. 4 और 5) को छोड़ गया। उसने अपनी पत्नी के पक्ष में उसका जीवन हित देते हुए एक विल निष्पादित किया था। इसलिए, उसने वाद गृह प्राप्त किया था। इन प्रतिवादियों ने वाद गृह का सहस्वामी होने का दावा करते हुए रु. 150/- के माहवार किराए पर 1981 में प्रतिवादी सं. 6 को वाद गृह को किराए पर दे दिया था।

5. तारीख 18 जनवरी, 1983 को प्रतिवादी सं. 1 से 5 ने रु. 46,000/- के एवज में वादी के पक्ष में वाद गृह का विक्रय करने के लिए वादी (प्रत्यर्थी सं. 1) के साथ एक करार किया। तदनुसार, वादी ने प्रतिवादी सं. 1 से 5 को अग्रिम धन के रूप में रु. 1,000/- संदत्त किया और अतिशेष रकम का संदाय वादी द्वारा प्रतिवादी सं. 1 से 5 को विक्रय विलेख की रजिस्ट्रीकरण के समय संदत्त किया जाना था जिसे छह माह के भीतर निष्पादित किया जाना था। तदनुसार, वादी ने अतिशेष रकम की व्यवस्था की थी। तथापि, दूसरी ओर, प्रतिवादी सं. 1 से 5 ने वादी के पक्ष में विक्रय विलेख निष्पादित करने का वचन दिया जैसा कि तारीख 18 जनवरी, 1983 के करार के अनुसार, उनके बीच में करार हुआ और दूसरी ओर, प्रतिवादी सं. 1 से 5 ने वादी के पक्ष में विक्रय विलेख निष्पादित करने के बजाय रु. 45,000/- में प्रतिवादी सं. 6 के पक्ष में तारीख 9 फरवरी, 1983 को एक विक्रय विलेख निष्पादित किया।

6. इस कारण से वादी (प्रत्यर्थी सं. 1) ने सभी 6 प्रतिवादियों के विरुद्ध तारीख 14 जुलाई, 1983 को अधीनस्थ न्यायाधीश, अमलापुरम के न्यायालय में वाद फाइल किया था जिससे यह अपील उद्भूत हुई है। वाद, तारीख 18 जनवरी, 1983 के करार के विनिर्दिष्ट पालन के लिए और वैकल्पिक रूप में वादी द्वारा संदत्त प्रतिफल की वापसी के लिए और वादी द्वारा पारित क्षतिपूर्ति के लिए भी फाइल किया गया था।

7. वादी ने अन्य बातों के साथ यह प्रकथन किया कि वह हमेशा से ही करार के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामंद रहा है और वस्तुतः उसने करार के निबंधनों में अग्रिम धन के रूप में रु. 1,000/- प्रतिवादी सं. 1 और 5 को संदत्त करते हुए अपने भाग का पालन किया है और अब भी वह विक्रय विलेख की रजिस्ट्रीकरण के समय पर अतिशेष प्रतिफल का संदाय करने के लिए हमेशा से ही तैयार और रजामंद था/है। यह प्रकथन किया कि छह माह की अवधि व्यतीत होने के पूर्व ही जो जुलाई, 1983 में बीत गया था, प्रतिवादी सं. 1 से 5 ने स्वयं तारीख 9 फरवरी, 1983 को प्रतिवादी सं. 6 को वाद गृह का विक्रय कर दिया और

इस प्रकार, उन्होंने वादी के पक्ष में विक्रय विलेख निष्पादित करते हुए करार के अपने भाग का पालन नहीं किया और अतएव, वाद गृह के संबंध में विक्रय विलेख का निष्पादन करने के लिए तारीख 18 जनवरी, 1983 के करार के विनिर्दिष्ट पालन की ईप्सा करते हुए, वाद फाइल की गई और वैकल्पिक रूप में प्रतिवादी सं. 1 से 5 को संदत्त धन की वापसी और ग्रसित हानि के लिए प्रतिकर की मांग की गई ।

8. प्रतिवादी सं. 1 से 5 ने अपना सामान्य लिखित कथन फाइल किया जबकि प्रतिवादी सं. 6 ने अपना लिखित कथन फाइल किया । जहां तक प्रतिवादी सं. 1 से 5 का संबंध है उन्होंने यह पक्षकथन किया कि उन्होंने सर्वप्रथम प्रतिवादी सं. 6 के साथ तारीख 4 जनवरी, 1983 को रु. 45,000/- में वाद गृह का विक्रय करने के लिए एक करार किया था । तथापि, वादी को संव्यवहार की जानकारी होने पर उसने प्रतिवादी सं. 1 से 5 से संपर्क किया और उनसे यह निवेदन किया कि वे उसे वाद गृह का विक्रय कर दे और यह कथन किया कि वह प्रतिवादी सं. 6 को संव्यवहार वापस करने के लिए राजी कर लेगा और इसके बजाय वाद गृह का विक्रय उसे करना मंजूर कर ले । यह प्रकथन किया कि वादी प्रतिवादी सं. 1 से 5 को यह भी सुनिश्चित करेगा कि यदि किसी कारण से वह प्रतिवादी सं. 6 को संव्यवहार को वापस लेने के लिए राजी करने में असफल रहता है तो वह वापस आएगा जिसके लिए प्रतिवादी सं. 1 से 5 सहमत होंगे और तदनुसार, तारीख 18 जनवरी, 1983 को वादी के साथ एक करार किया । उसके बाद, प्रतिवादियों (1 से 5) ने इस पृष्ठभूमि में यह प्रकथन किया कि किस प्रकार वे प्रतिवादी सं. 6 को वाद गृह का विक्रय करने के लिए सहमत करेगा । उनके अनुसार, स्व. सूर्यनारायण ने अपने जीवन काल के दौरान एक लेनदार (श्रीमती एम. वेंकटलक्ष्मी) से कुछ धन (रु. 1,400/- और रु. 1,200/-) उधार लिया था, किन्तु उक्त ऋण का संदाय करने के पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई । इसलिए, लेनदार ने इसका प्रतिसंदाय करने के लिए प्रतिवादी सं. 1 से 5 पर दबाव बनाया और इस पृष्ठभूमि में भी प्रतिवादी सं. 1 से 5 ने प्रतिवादी सं. 6 के साथ तारीख 4 जनवरी, 1983 को प्रतिवादी सं. 6 के वाद गृह का विक्रय करने के लिए एक विक्रय करार किया । प्रतिवादियों ने प्रतिवादी सं. 6 के साथ पूर्व करार को न्यायोचित ठहराने के लिए कुछ सविस्तार कारण दिया है ।

9. जहां तक प्रतिवादी सं. 6 का संबंध है, वादी के दावों को इनकार करते समय अधिक या कम रूप से प्रतिवादी सं. 1 से 5 द्वारा लिए गए

आधारों को ही दोहराया है। उसने सद्भाविक आशय के साथ विधिमान्य प्रतिफल के एवज में अपने पक्ष में विक्रय का बचाव किया। उसने यह भी अभिकथन किया कि उसका करार वादी की सहमति के पूर्व होने के नाते विधिक और विधिमान्य है।

10. पक्षकारों ने साक्ष्य प्रस्तुत किया। विचारण न्यायालय ने तारीख 13 सितम्बर, 1989 के निर्णय द्वारा वादी का वाद डिक्री कर दिया। विचारण न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि वाद गृह का विक्रय करने के लिए प्रतिवादी सं. 6 के साथ तारीख 4 जनवरी, 1983 का करार असली और सद्भाविक करार नहीं था। यह भी अभिनिर्धारित किया कि ऐसे करार के अनुसरण में, निष्पादित तारीख 9 फरवरी, 1983 का विक्रय करार असली विक्रय करार नहीं था और प्रतिवादी सं. 1 से 5 तथा प्रतिवादी सं. 6 के बीच वाद गृह का विक्रय और क्रय करने के लिए किसी प्रकार के प्रतिफल का लेन-देन नहीं हुआ था। यह भी अभिनिर्धारित किया कि वादी और प्रतिवादी सं. 1 से 5 के बीच तारीख 18 जनवरी, 1983 का करार एक असली करार था जो उस अनुसरण में भी किया गया था जिसमें प्रतिवादी सं. 1 से 5 ने वादी से भागतः संदाय प्राप्त किया था। उसके बाद यह अभिनिर्धारित किया कि वादी करार के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार था किन्तु प्रतिवादी सं. 1 से 5 ही थे जिन्होंने करार का भंग किया है। विचारण न्यायालय ने इन निष्कर्षों के साथ प्रतिवादियों के विरुद्ध वाद डिक्री कर दिया और वाद गृह के संबंध में विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री पारित किया, यह निर्देश देते हुए कि प्रतिवादी वादी से रु. 45,000/- प्राप्त करने पर वादी के पक्ष में विक्रय विलेख निष्पादित करें।

11. इससे व्यथित होकर, प्रतिवादी सं. 6 ने उच्च न्यायालय के समक्ष प्रथम अपील फाइल की। विद्वान् एकल न्यायाधीश ने प्रतिवादी सं. 6 की अपील को मंजूर कर लिया और विचारण न्यायालय द्वारा पारित निर्णय/डिक्री को अपास्त कर दिया और परिणामस्वरूप, वादी का वाद खारिज कर दिया। इससे व्यथित होकर वादी ने उच्च न्यायालय के खंड न्यायपीठ के समक्ष लेटर्स पेटेंट अपील फाइल की। आक्षेपित आदेश द्वारा खंड न्यायपीठ ने वादी की अपील को मंजूर कर लिया और एकल न्यायाधीश के निर्णय को अपास्त करते हुए, विचारण न्यायालय के निर्णय को प्रतिस्थापित कर दिया। परिणामस्वरूप, वादी का वाद, प्रतिवादियों के विरुद्ध वाद गृह के संबंध में डिक्री हो गया जिसमें वादी के पक्ष में तारीख 18 जनवरी, 1983 के करार का पालन करने का निर्देश दिया गया। इससे

व्यथित होकर, प्रतिवादी सं. 6 ने इस न्यायालय के समक्ष विशेष इजाजत के माध्यम से वर्तमान अपील फाइल की है ।

12. अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल सुश्री मंजित कृपाल और प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेल श्री हर्ष पिचारा को सुना ।

13. पक्षकारों के विद्वान् काउंसेल को सुनने और मामले के अभिलेखों का परिशीलन करने के पश्चात्, हम इस अपील में कोई गुणागुण नहीं पाते हैं ।

14. इस वाद में अंतर्वलित मुख्य प्रश्न यह है कि कौन सा करार सद्भाविक और असली है – प्रथमतः प्रतिवादी सं. 1 से 5 और प्रतिवादी सं. 6 के बीच तारीख 4 जनवरी, 1983 का करार या द्वितीयतः प्रतिवादी सं. 1 से 5 और वादी के बीच तारीख 18 जनवरी, 1983 का करार ? अन्य प्रश्न यह है कि क्या वादी तारीख 18 जनवरी, 1983 के करार के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामंद था और द्वितीयतः, क्या वह यह साबित करने में समर्थ हुआ कि प्रतिवादी सं. 1 से 5 ने करार के अपने भाग का पालन नहीं करते हुए भंग कारित किया है ? यह प्रश्न मात्र तभी उद्भूत होगा यदि तारीख 18 जनवरी, 1983 के करार को सद्भाविक और असली अभिनिर्धारित कर दिया जाता है और अन्य तारीख 4 जनवरी, 1983 के करार को मिथ्या अभिनिर्धारित कर दिया जाता है ।

15. हमारी राय में, विचारण न्यायालय और खंड न्यायपीठ, यह अभिनिर्धारित करने में सही थे कि तारीख 18 जनवरी, 1983 का करार, प्रतिवादी सं. 1 से 5 के साथ असली और सद्भाविक था जबकि प्रतिवादी सं. 1 से 6 द्वारा प्रस्तुत तारीख 4 जनवरी, 1983 का करार जिसे वादी के करार के पूर्व समय का होने का दावा करते हुए किया गया है, मिथ्या करार है जिसे वादी के तारीख 18 जनवरी, 1983 के करार के निष्पादन को किसी तरह से शून्य करने के लिए अस्तित्व में लाया गया है ।

16. हमारे मत में, खंड न्यायपीठ द्वारा दिया गया कारण और निकाला गया निष्कर्ष समुचित तथा युक्तियुक्त है । यह साक्ष्यों के समुचित मूल्यांकन पर आधारित है और अतएव, हमारी अपीलीय अधिकारिता के अधीन इसमें हस्तक्षेप करने की कोई आवश्यकता नहीं है । हमारा यह मत निम्नलिखित कारणों से है ।

17. अभिवचनों और साक्ष्यों का परिशीलन करने के पश्चात्, हमें यह भी सुस्पष्ट होता है कि प्रतिवादी सं. 1 से 5 ने स्पष्ट निबंधनों में वादी के

साथ करार के निष्पादन को स्वीकार किया था जिसे उन्होंने तारीख 18 जनवरी, 1983 को निष्पादित किया था। उन्होंने अपने भागतः पालन को भी स्वीकार किया है जब उन्होंने वादी से अग्रिम धन स्वीकार किया था। इन तात्त्विक तथ्यों के प्रकाश में यदि वे प्रतिवादी सं. 1 के साथ तारीख 4 जनवरी, 1983 को पहले ही करार कर चुके थे तो उसके बाद वादी की उसी संपत्ति का विक्रय करने के लिए तारीख 18 जनवरी, 1983 से पूर्व एक अन्य करार करने के लिए उनके पास कोई अवसर नहीं बचा था। वस्तुतः, ऐसी परिस्थितियों में उन्हें प्रतिवादी सं. 6 के साथ अपने पूर्व करार के बारे में उनसे कथन करते हुए वादी के वाद गृह का विक्रय करने में अपनी असमर्थता साधारणतः अभिव्यक्त कर देना चाहिए था। दूसरे शब्दों में, ऐसी परिस्थिति में, वे वादी को साधारणतः यह सूचित कर सकते थे कि वह उनसे संपर्क करने में विलंब कर दिया है और उनके लिए उसे वाद गृह का विक्रय करना संभव नहीं है। तथापि, वे ऐसा नहीं कर सकते हैं।

18. हमारी राय में, प्रतिवादी सं. 1 से 5 और 6 का आचरण स्पष्ट था। वे किसी तरह से वादी के करार के निष्पादन को शून्य करना चाहते थे और प्रतिवादी सं. 6 के वाद गृह का विक्रय स्वयं को कराना चाहते थे। वे ऐसा करार सृजित करके ही कर सकते थे जो वादी के करार के पूर्व का हो।

19. इसलिए दोनों न्यायालयों ने साक्ष्यों का मूल्यांकन करने के पश्चात्, यह सही ही निष्कर्ष निकाला है कि प्रतिवादी सं. 1 से 5 और प्रतिवादी सं. 6 के बीच तारीख 4 जनवरी, 1983 का करार एक मिथ्या करार था और तारीख 18 जनवरी, 1983 के वादी के करार के निष्पादन को विफल करने के लिए सृजित किया गया था। यह सही ही अभिनिर्धारित किया है कि उन्होंने तारीख 18 जनवरी, 1983 के वादी के करार के पालन से बचने के लिए छह माह की अवधि बीतने के पूर्व ही तारीख 9 फरवरी, 1983 को निष्पादित विक्रय विलेख प्राप्त किया था।

20. जब एक बार हमने निचले न्यायालयों (विचारण न्यायालय और खंड न्यायपीठ) के इन निष्कर्षों की पुष्टि कर दी है कि तारीख 18 जनवरी, 1983 का करार एक सद्भाविक करार था जबकि तारीख 4 जनवरी, 1983 का करार एक मिथ्या करार था तो विचार के लिए अगला प्रश्न यह उद्भूत होता है कि क्या वादी ने विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम 1963 की धारा 16(ग) के आवश्यक अवयवों को साबित कर दिया है जिससे कि वह अपने करार का विनिर्दिष्ट पालन कराने में समर्थ हो गया

है। दूसरे शब्दों में, अगला प्रश्न यह है कि क्या वादी यह साबित करने में समर्थ हो गया है कि वह करार के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामंद था और यह कि वह हमेशा ही करार के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामंद रहा है और वस्तुतः उसने अपने भाग का पालन कर दिया है और द्वितीयतः यह कि प्रतिवादी सं. 1 से 5 ने अपने भाग का पालन नहीं करते हुए करार का भंग कारित किया है और यदि ऐसा है तो इसका प्रभाव ?

21. अभिलेखों का परिशीलन करने के पश्चात्, हम इन विवादकों पर दोनों न्यायालयों (विचारण न्यायालय और खंड न्यायपीठ) के निष्कर्षों से सहमत हैं, हमारी राय में, दोनों निचले न्यायालय, निम्नलिखित कारणों से वादी के पक्ष में निष्कर्ष अभिलिखित करने में सही थे।

22. यह विवादित नहीं है कि वादी ने अपने भाग का पालन किया है जब उसने तारीख 18 जनवरी, 1983 के करार के निबंधनों में प्रतिवादी सं. 1 से 5 को रु. 1,000/- का अग्रिम धन संदत्त किया था। यह भी विवादित नहीं है कि विक्रय विलेख को छह माह के भीतर अर्थात् जुलाई, 1983 तक निष्पादित करा लिया गया था। यह भी विवादित नहीं है कि प्रतिवादी सं. 1 से 5 ने प्रतिवादी सं. 6 के पक्ष में तारीख 9 फरवरी, 1983 को विक्रय विलेख निष्पादित किया था। इस प्रकार प्रतिवादी सं. 1 से 5 की ओर से भंग किया जाना प्रकट है, इसलिए, जब एक बार एक तथ्य अविवादित हो गए हैं तो वादी द्वारा कुछ और साबित करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। इसके बावजूद, वादी ने अपने पक्ष में विक्रय विलेख निष्पादित करने के लिए प्रतिवादी सं. 1 से 5 को एक नोटिस (प्रदर्श ए-2) भेजा था, किन्तु प्रतिवादियों ने इस पर ध्यान नहीं दिया था।

23. हमारे सुविचारित राय में, प्रतिवादियों द्वारा क्रमशः अपने लिखित कथनों में बताई गई यह कहानी कि किन परिस्थितियों में, तारीख 4 जनवरी, 1983 का करार प्रतिवादी सं. 1 से 5 और प्रतिवादी सं. 6 के बीच निष्पादित किया गया था, पूर्णतया काल्पनिक असंगत और बनावटी है। इसलिए, दोनों निचले न्यायालयों (विचारण न्यायालय और खंड न्यायपीठ), ने सही ही इस पर अविश्वास किया और हम उनके कारणों पर पूर्ण रूप से सहमत हैं।

24. वस्तुतः, यदि प्रतिवादी सं. 1 से 5 का मुख्य आशय वाद गृह का विक्रय करने और कुटुम्ब के ऋण को समाप्त करने का था और यदि हम

उनकी इस कहानी को इस सीमा तक स्वीकार भी कर ले तो भी हमारे मत में, वादी द्वारा वाद गृह का प्रतिवादी को विक्रय करके भी उस प्रयोजन को पूरा नहीं कर सकते थे। वादी के साथ सहमत विक्रय प्रतिफल प्रतिवादी सं. 6 के विरुद्ध जिसने रु. 45,000/- में क्रय किया था, से अधिक 46,000/- रुपए है। दूसरे शब्दों में, यदि प्रतिवादी सं. 1 से 5 का आशय वाद गृह का विक्रय करके ऋण को समाप्त करना था तो ऐसा प्रयोजन वादी को वाद गृह का विक्रय करते हुए भी अच्छी तरह से प्राप्त किया जा सकता था और मात्र प्रतिवादी सं. 6 को ही इसका विक्रय करने का कोई विशेष कारण नहीं था। इसके बजाय यह स्पष्ट होता है कि वह वाद गृह का किराएदार होने के नाते किसी भी कीमत पर वाद गृह क्रय करने के लिए उत्सुक था, क्योंकि वह इसके व्यवसाय में था।

25. जहां तक इस अन्य कहानी का संबंध है कि किस प्रकार और क्यों स्व. सूर्यनारायण ने ऋण लिया था और उन्होंने किससे लिया था, इत्यादि का पक्षकारों के बीच विनिर्दिष्ट पालन को विनिश्चित करने के लिए कोई सुसंगतता नहीं है, इस साधारण कारण से कि यह प्रतिवादी सं. 1 से 5, सूर्यनारायण और उसके लेनदार के बीच का आंतरिक मामला था। इसलिए, दोनों निचले न्यायालय (विचारण न्यायालय और खंड न्यायापीठ), प्रतिवादियों द्वारा अभिवाचित कहानी के इस भाग को पूर्णतया असंगत होने के नाते नामंजूर करने में सही थे।

26. पूर्ववर्ती चर्चा के प्रकाश में, हमारी यह सुविचारित राय है कि दोनों निचले न्यायालय प्रतिवादियों के विरुद्ध तारीख 18 जनवरी, 1983 के कशर का विनिर्दिष्ट पालन कराने के लिए वादी के वाद को डिक्री करने में सही थे और हम इस निष्कर्ष को कायम रखते हैं।

27. अब, हम एक अन्य प्रश्न पर विचार करते हैं, यद्यपि पक्षकारों द्वारा इस पर ध्यान नहीं दिया गया है, किन्तु हमारे मत में, यह मामले में उद्भूत हुआ है जिसके परिणामस्वरूप वादी का वाद विचारण न्यायालय द्वारा प्रतिवादियों के विरुद्ध डिक्री किया गया है और उसकी पुष्टि उच्च न्यायालय के खंड न्यायापीठ द्वारा की गई है और अंततः इस न्यायालय द्वारा भी उसकी पुष्टि की गई है।

28. दुर्गा प्रसाद और एक अन्य बनाम दीप चंद और अन्य¹ वाले मामले में इस न्यायालय के समक्ष यह प्रश्न उद्भूत हुआ कि संविदा के

¹ ए. आई. आर. 1954 एस. सी. 74.

विनिर्दिष्ट पालन के मामले में, किस प्ररूप में डिक्री पारित की जानी चाहिए, जहां वाद संपत्ति प्रतिवादी अर्थात् वाद संपत्ति के स्वामी द्वारा एक अन्य व्यक्ति को विक्रय कर दी जाती है और बाद में वह संविदा के निबंधनों में वादी को वाद संपत्ति का अंतरण उसे कराने का निर्देश देते हुए संविदा के विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री प्राप्त करनी पड़ती है ।

29. विद्वान् न्यायाधीश – विवियन बोस ने इस विवादक की परीक्षा की और लिखित में अपनी शैली में न्यायपीठ का सकारण निर्णय दिया, जो इस प्रकार है :-

“जहां पूर्व और पश्चात्पूर्वी अंतरिती के पक्ष में उसी संपत्ति का विक्रय किया जाता है और पश्चात्पूर्वी अंतरिती अपने पक्ष में बकाया का हस्तांतरण करने के अधीन क्रय धन का संदाय विक्रेता को करता है तो पूर्व अंतरिती द्वारा लाया गया विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद की दशा में वह सफल होता है तो प्रश्न यह उद्भूत होता है कि ऐसे मामले में डिक्री का समुचित प्ररूप क्या होगा । भारतीय न्यायालयों के कार्यशैली में एकरूपता नहीं है और इनमें सुभिन्नता प्रकट होती है । एक मत के अनुसार, डिक्री का समुचित प्ररूप पूर्वपूर्वी अंतरिती के विरुद्ध पश्चात्पूर्वी क्रेता को शून्य घोषित करने में है और एकमात्र विक्रेता को प्रत्यक्ष हस्तांतरण करने के पक्ष में है । द्वितीय विचार यह है कि दोनों विक्रेता और क्रेता को संयुक्त होना चाहिए जब एकमात्र पश्चात्पूर्वी क्रेता को हस्तांतरण के निष्पादन को तृतीय पक्षकार के लिए सीमित करता है । माननीय उच्चतम न्यायालय के अनुसार डिक्री का समुचित प्ररूप विक्रेता और पूर्वपूर्वी अंतरिती के बीच संविदा के प्रत्यक्ष विनिर्दिष्ट पालन के लिए होना चाहिए और पश्चात्पूर्वी अंतरिती को हस्तांतरण में सम्मिलित होने का निर्देश देना चाहिए ताकि हक हस्तांतरित हो सके जो पूर्वपूर्वी अंतरिती से उसके पास आया है । उसे पूर्वपूर्वी अंतरिती और उसके विक्रेता के बीच किए गए किसी विशेष हस्तांतरण में सम्मिलित नहीं होना चाहिए, सभी प्रकार से, उसके पक्ष में पूर्वपूर्वी अंतरिती से उसका हक पारित किया जाना चाहिए ।”

30. इस मामले में, प्रश्न इस प्रकार उद्भूत हुआ है । अब, डिक्री का प्रभाव यह है कि वादी को तारीख 18 जनवरी, 1983 के कसूर के निबंधनों में प्रतिवादी सं. 1 से 5 को अतिशेष विक्रय प्रतिफल का संदाय करने की आवश्यकता है और बदले में, प्रतिवादी सं. 1 से 5 को वादी के पक्ष में वाद

गृह का विक्रय विलेख निष्पादित किया जाना है और वादी को वाद गृह का कब्जा दिया जाना है। चूंकि, इसी बीच में, प्रतिवादी सं. 1 से 5 ने वाद गृह को रु. 45,000/- के प्रतिफल में तारीख 9 फरवरी, 1983 के विक्रय विलेख द्वारा प्रतिवादी सं. 1 को विक्रय कर दिया है, इसलिए, ऐसा विक्रय वादी पर आबद्धकर नहीं होगा। वास्तव में, अब तारीख 9 फरवरी, 1983 का विक्रय विलेख विधि में दूषित हो गया है और प्रतिवादी सं. 1 से 5 तथा प्रतिवादी सं. 6 के बीच विक्रय संव्यवहार असफल हो गया है। ऐसी परिस्थितियों में, विक्रेता अर्थात् (प्रतिवादी सं. 1 से 5) को रु. 45,000/- या उसके किसी भाग के विक्रय प्रतिफल को रोके रखने का कोई अधिकार नहीं है जिसे उसने प्रतिवादी सं. 6 से प्राप्त किया है, जैसी भी दशा हो, और इसलिए, उसे क्रेता (प्रतिवादी सं. 6) को वापस करना होगा। दूसरे शब्दों में, जो भी रकम जिसे प्रतिवादी सं. 1 से 5 द्वारा प्रतिवादी सं. 6 से (चाहे रु. 45,000/- या उसका कोई भाग) प्राप्त किया गया है उसे प्रतिवादी सं. 1 से 5 द्वारा प्रतिवादी सं. 6 को वापस करना होगा (देखें : संविदा अधिनियम, 1872 की धारा 65)। फिर भी, प्रतिवादी सं. 6 को प्रतिवादी सं. 1 से 5 के साथ वादी के पक्ष में विक्रय विलेख के निष्पादन में सम्मिलित होना चाहिए जैसा कि इस न्यायालय द्वारा **दुर्गा प्रसाद** (उपर्युक्त) वाले मामले में, वादी के वाद गृह के विधिमान्य हक के हस्तांतरण के लिए अभिनिर्धारित किया गया है।

31. इसलिए, हम यह ठीक और समुचित समझते हैं और पक्षकारों के बीच इस मुकदमेबाजी जो पिछले लगभग 3 दशकों से अधिक अवधि से लंबित है, का अंत करने और वाद/अपील के पक्षकारों के बीच साम्या के संतुलन को ध्यान में रखते हुए, यह निर्देश देते हैं कि प्रतिवादी सं. 1 से 5 द्वारा प्रतिवादी सं. 6 को रु. 45,000/- या जो भी रकम हो, को वापस करना होगा जिसे उन्होंने (प्रतिवादी सं. 1 से 5) प्रतिवादी सं. 6 से विक्रय प्रतिफल के रूप में प्राप्त किया है। यह निर्देश हमारे द्वारा संविधान, 1950 के अनुच्छेद 142 के अधीन शक्तियों का अवलंब लेते हुए प्रतिवादियों को संपूर्ण न्याय के लिए दिया जाता है, क्योंकि हम भविष्य में, इस रकम की वसूली के लिए प्रतिवादियों के बीच फिर से मुकदमेबाजी की शुरुआत नहीं होना देना चाहते हैं।

32. हम यहां यह भी स्पष्ट करते हैं कि यदि तारीख 9 फरवरी, 1983 के विक्रय विलेख के निष्पादन के लिए विक्रय प्रतिफल के माध्यम से प्रतिवादी सं. 6 द्वारा प्रतिवादी सं. 1 से 5 को संदत्त सुनिश्चित रकम के

संबंध में प्रतिवादी सं. 1 से 5 और प्रतिवादी सं. 6 के बीच कोई विवाद उद्भूत होता है तो निष्पादन न्यायालय इस प्रश्न की सीमित जांच कराएगा और इस तथ्य को साबित करने के लिए पक्षकारों को अवसर देने के पश्चात् अपना निष्कर्ष अभिलिखित करेगा और उसके बाद, तदनुसार पक्षकारों को विनिश्चित रकम का संदाय करना होगा ।

33. हमारे नोटिस में यह भी लाया गया है कि इस मुकदमे के लंबित रहने के दौरान वाद गृह के संबंध में कुछ और संव्यवहार हुए हैं । इस संबंध में यह कहना पर्याप्त होगा कि ऐसे संव्यवहार “विचाराधीन वाद के सिद्धांत” का प्रत्यक्ष तौर पर अतिक्रमण करते हैं, जैसा कि संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 की धारा 52 के अधीन अनुध्यात है और इसलिए, इसका कोई परिणाम नहीं होगा जहां तक कि इस मुकदमेबाजी का संबंध है । दूसरे शब्दों में, ये संव्यवहार मुकदमे के पक्षकारों कम से कम वादी पर आबद्धकर नहीं है । इसलिए, ऐसे पक्षकारों को इस निर्णय के परिणामस्वरूप विधि के अनुसरण में, अपने-अपने अधिकारों को प्राप्त करने की स्वतंत्रता होगी ।

34. पूर्ववर्ती चर्चा और उपांतरण के अध्यधीन, जैसा कि उपर्युक्त निर्देशित है, को ध्यान में रखते हुए, तदनुसार, यह अपील अंतिम तौर पर निपटाई जाती है ।

35. इस निर्णय की प्राप्ति की तारीख से तीन माह की अवधि के भीतर, इस निर्णय जिसमें पक्षकारों के लिए विचारण न्यायालय की निष्पादन डिक्री सम्मिलित है, का अनुपालन किया जाए ।

अपील भागतः मंजूर की गई ।

क.

इंटरनेशनल एसेट रिकंस्ट्रक्शन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड

बनाम

शासकीय परिसमापक, आल्डरिच फार्मास्युटिकल्स लिमिटेड और
अन्य

तथा

इरिडियम इंडिया टेलीकाम लिमिटेड

बनाम

दोहा बैंक क्यूएससी और एक अन्य

24 अक्टूबर, 2017

न्यायमूर्ति रंजन गोगोई, न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे, न्यायमूर्ति नवीन सिन्हा

बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋण वसूली अधिनियम, 1993 (1993 का 51) – धारा 28 और 30(1) [सपठित परिसीमा अधिनियम, 1963 की धारा 5] – वसूली अधिकारी के आदेश के विरुद्ध अपील – अपील फाइल करने में हुए विलंब को माफ करने के लिए परिसीमा अधिनियम की धारा 5 का लागू होना – 1993 के अधिनियम के अधीन अधिकरण को धारा 20(3) के अधीन 45 दिन से परे के विलंब को माफ करने की शक्ति प्रदत्त – चूंकि वसूली अधिकारी के समक्ष की जाने वाली कार्यवाहियां अधिकरण के समक्ष की जाने वाली कार्यवाहियां नहीं होती हैं इसलिए वसूली अधिकारी के आदेश के विरुद्ध अपील फाइल करने के लिए धारा 30(1) के अधीन 30 दिनों की विहित अवधि को 1963 के अधिनियम की धारा 5 लागू करके माफ नहीं किया जा सकता है ।

प्रस्तुत दोनों अपीलों में विचारार्थ उद्भूत होने वाला विधि संबंधी सामान्य प्रश्न यह है कि क्या वसूली अधिकारी के आदेश के विरुद्ध अधिकरण के समक्ष अपील फाइल करने के लिए बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋण वसूली अधिनियम, 1993 की धारा 30(1) के अधीन 30 दिन की विहित अवधि माफ करने के लिए परिसीमा अधिनियम, 1963 की धारा 5 का अवलंब लिया जा सकता है । इस मामले में

अंतर्वलित विधि संबंधी शुद्ध प्रश्न को ध्यान में रखते हुए, मामले के तथ्यों पर प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है। यह मत व्यक्त करना पर्याप्त है कि वसूली अधिकारी ने आर. डी. बी. अधिनियम की धारा 19(22) के अधीन अधिकरण द्वारा जारी किए गए वसूली प्रमाणपत्र के अनुसरण में अधिनियम की धारा 28 के अधीन आवश्यक आदेश पारित किए। व्यथित व्यक्ति द्वारा इसके विरुद्ध 30 दिन की विहित अवधि के बाद अधिकरण के समक्ष अपील फाइल की गई थी। यह अभिनिर्धारित किया गया था कि चूंकि अधिनियम की धारा 30 के अधीन की जाने वाली कार्यवाहियों को परिसीमा अधिनियम की धारा 5 लागू नहीं होती है इसलिए विहित अवधि के परे विलंब को माफ नहीं किया जा सकता था। उच्चतम न्यायालय द्वारा अपीलें खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित — बैंको और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋण वसूली अधिनियम, 1993 बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋणों की वसूली को किसी कानूनी अधिकरण के समक्ष संक्षिप्त कार्यवाहियों द्वारा सुकर और द्रुत बनाने के लिए अधिनियमित किया गया था। धारा 18 में ऐसे मामलों में किसी न्यायालय या अन्य प्राधिकारी की (संविधान के अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन उच्चतम न्यायालय/उच्च न्यायालय के सिवाय) अधिकारिता को वर्जित किया गया है। धारा 31 में लंबित मामलों को किसी न्यायालय से अधिकरण को अंतरित करने का उपबंध किया गया है। अधिनियम में वसूली कार्यवाहियां संस्थित करने के लिए पूर्ण प्रक्रिया का, उसके प्रवर्तन की पद्धति का, जिसमें अपील करने का अधिकार भी है, उपबंध किया गया है। निस्संदेह, आर. डी. बी. अधिनियम बैंकों और वित्तीय संस्थाओं के शोध्यों की शीघ्र वसूली के संबंध में एक विशेष विधि और स्वयं एक पूर्ण संहिता है। इस तथ्य से कि अधिकरण में सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन साक्षियों को समन करने और उनकी उपस्थिति को प्रवर्तित कराने, दस्तावेजों की खोज करने और उन्हें प्रस्तुत करने, शपथपत्रों पर साक्ष्य प्राप्त करने, साक्षियों या दस्तावेजों की परीक्षा के लिए कमीशन जारी करने, अपने विनिश्चयों का पुनर्विलोकन करने आदि के संबंध में एक सिविल न्यायालय के रूप में शक्तियां निहित हो सकती हैं, उसमें एक न्यायालय की हैसियत निहित नहीं होती। वास्तव में, धारा 22(1) में यह उपबंध किया गया है कि अधिकरण सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन आने वाली प्रक्रियाओं से आबद्ध नहीं होगा और वह नैसर्गिक न्याय के अनुसार स्वयं

अपनी प्रक्रियाएं विनियमित कर सकता है। (पैरा 9 और 10)

परिसीमा अधिनियम की धारा 5 में यह उपबंध किया गया है कि कोई अपील या आवेदन, सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21 के अपवादस्वरूप विहित अवधि के पश्चात् ग्रहण किया जा सकेगा, यदि आवेदक न्यायालय का यह समाधान कर देता है कि उसके पास समय के भीतर आवेदन फाइल न करने का पर्याप्त हेतुक है। अतः, पूर्वापेक्षा किसी न्यायालय के समक्ष किसी कार्यवाही का लंबित रहना है। चूंकि अधिनियम के अधीन की जाने वाली कार्यवाहियां एक कानूनी अधिकरण के समक्ष की जाने वाली कार्यवाहियां हैं इसलिए उन्हें किसी न्यायालय के समक्ष की जाने वाली कार्यवाहियों के समतुल्य नहीं रखा जा सकता है। अतः, अधिकरण को विलंब को माफ करने की तब तक कोई शक्ति नहीं है जब तक उसका सृजन करने वाले कानून द्वारा उसे वह शक्ति अभिव्यक्त रूप से प्रदत्त नहीं की जाती। (पैरा 11)

आर. डी. बी. अधिनियम एक विशेष विधि है। इसमें की कार्यवाहियां एक कानूनी अधिकरण के समक्ष होती हैं। अधिनियम की स्कीम में सुस्पष्ट रूप से यह उपबंध किया गया है कि विधान-मंडल ने परिसीमा अधिनियम को केवल धारा 19 के अधीन अधिकरण के समक्ष की जाने वाली मूल कार्यवाहियों को लागू करने का उपबंध किया है। अपील अधिकरण को अधिनियम की धारा 20(3) के अधीन 45 दिनों के परे विलंब को माफ करने की शक्ति प्रदान की गई है। वसूली अधिकारी के समक्ष की जाने वाली कार्यवाहियां अधिकरण के समक्ष की जाने वाली कार्यवाहियां नहीं हैं। धारा 24 का लागू होना अधिकरण के समक्ष केवल धारा 19 के अधीन आरंभ की गई कार्यवाहियों तक सीमित है। अधिकरण द्वारा अधिनियम की धारा 30 के अधीन अपील फाइल करने में समय में विस्तार करने संबंधी किसी उपबंध के अपवर्जन से यह सुस्पष्ट है कि अपवर्जन के लिए विधायी आशय अभिव्यक्त था। अतः, परिसीमा अधिनियम, 1963 की धारा 29(2) का अवलंब लेकर परिसीमा अधिनियम की धारा 5 को लागू करने का प्रश्न उद्भूत नहीं होता। अतः, आर. डी. बी. अधिनियम की धारा 30(1) के अधीन वसूली अधिकारी के आदेश के विरुद्ध अपील फाइल करने के लिए 30 दिन की विहित अवधि को परिसीमा अधिनियम की धारा 5 को लागू करके माफ नहीं किया जा सकता है। (पैरा 14)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

- [2015] 2015 की सिविल अपील सं. 4926 जिसका विनिश्चय 1 जुलाई, 2015 को किया गया :
ए. आर. वेणुगोपाल उर्फ आर. वेणुगोपाल बनाम जोथीस्वर्ण और अन्य ; 8, 15
- [1985] [1985] 4 उम. नि. प. 99 =
(1985) 3 एस. सी. सी. 590 :
सकुरु बनाम तणजी । 11

सिविल अपीली अधिकारिता : 2017 की सिविल अपील सं. 16962 और 16963.

2013 की रिट याचिका सं. 1416 में मुम्बई उच्च न्यायालय के तारीख 10 जुलाई, 2013 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

- अपीलार्थी की ओर से सुश्री माधवी दीवान, ज्येष्ठ अधिवक्ता, सर्वश्री महेश अग्रवाल, अंकुर सहगल, हिमांशु सतीजा, ई. सी. अग्रवाल, किशोर जैन, महेश अग्रवाल और अभिनव अग्रवाल
- प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री अरविन्द पी. दतार, ज्येष्ठ अधिवक्ता, अर्धेन्दुमौली कुमार प्रसाद, (सुश्री) सुषमा नागराज, (सुश्री) तरुणा अर्धेन्दुमौली प्रसाद, नमित सक्सेना, प्रताप वेणुगोपाल, (सुश्री) सुरेखा रमण, अनुज शर्मा, (सुश्री) निहारिका, (सुश्री) कनिका कलैयारसन (मैसर्स के. जे. जान एंड कंपनी की ओर से), रजीव पांडे, राबिन मजूमदार, संजय भट्ट और अभिषेक अग्रवाल

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति नवीन सिन्हा ने दिया ।

न्या. सिन्हा — इजाजत दी जाती है ।

2. दोनों अपीलों में विचारार्थ उद्भूत होने वाला विधि संबंधी सामान्य

प्रश्न यह है कि क्या वसूली अधिकारी के आदेश के विरुद्ध अधिकरण के समक्ष अपील फाइल करने के लिए बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्द ऋण वसूली अधिनियम, 1993 (जिसे इसमें इसके पश्चात् “आर. डी. बी. अधिनियम” कहा गया है) की धारा 30(1) के अधीन 30 दिन की विहित अवधि माफ करने के लिए परिसीमा अधिनियम, 1963 (जिसे इसमें इसके पश्चात् “परिसीमा अधिनियम” कहा गया है) की धारा 5 का अवलंब लिया जा सकता है।

3. इस मामले में अंतर्वलित विधि संबंधी शुद्ध प्रश्न को ध्यान में रखते हुए, मामले के तथ्यों पर प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है। यह मत व्यक्त करना पर्याप्त है कि वसूली अधिकारी ने आर. डी. बी. अधिनियम की धारा 19(22) के अधीन अधिकरण द्वारा जारी किए गए वसूली प्रमाणपत्र के अनुसरण में अधिनियम की धारा 28 के अधीन आवश्यक आदेश पारित किए। व्यथित व्यक्ति द्वारा इसके विरुद्ध 30 दिन की विहित अवधि के बाद अधिकरण के समक्ष अपील फाइल की गई थी। यह अभिनिर्धारित किया गया था कि चूंकि अधिनियम की धारा 30 के अधीन की जाने वाली कार्यवाहियों को परिसीमा अधिनियम की धारा 5 लागू नहीं होती है इसलिए विहित अवधि के परे विलंब को माफ नहीं किया जा सकता था।

4. अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल सुश्री माधवी दीवान ने यह दलील दी कि आर. डी. बी. अधिनियम अपने आप में पूर्ण संहिता नहीं है। वसूली के लिए द्रुत प्रक्रिया मात्र परिसीमा अधिनियम के अभिव्यक्त या विवक्षित अपवर्जन के लिए निश्चायक नहीं थी। परिसीमा अधिनियम में धारा 30 के अभिव्यक्त अपवर्जन के अभाव में, अंतर्वलित उधार लेने वालों के अधिकारों और हितों की प्रकृति पर विचार करते हुए प्रक्रिया की ऋजुता के संबंध में मुद्दे उठाकर विवक्षित अपवर्जन का निष्कर्ष आसानी से नहीं निकाला जा सकता है। परिसीमा अधिनियम की धारा 29(2) के आधार पर कोई विवक्षित अपवर्जन नियमविरुद्ध है और परिसीमा अधिनियम की धारा 5 के उपबंध आर.डी.बी. अधिनियम की धारा 30(1) के अधीन आने वाली कार्यवाहियों को लागू होंगे।

5. आर. डी. बी. अधिनियम की धारा 22(1) के अधीन अधिकरण सिविल प्रक्रिया संहिता की प्रक्रियाओं से आबद्ध नहीं था और वह नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों द्वारा मार्गदर्शित था, जिसके अंतर्गत अधिनियम की धारा 30(1) के अधीन 30 दिन की विहित अवधि के परे विलंब को माफ करने की शक्ति भी शामिल है। धारा 19(25) में न्याय की प्राप्ति को सुनिश्चित

करने के लिए आवश्यक आदेश पारित करने के लिए उपबंध किया गया है जिसके अंतर्गत पुनः विहित अवधि में विस्तार करने की शक्ति शामिल होगी। आर. डी. बी. अधिनियम की स्कीम में उसके अधीन आने वाली कार्यवाहियों को परिसीमा अधिनियम लागू होने से अपवर्जित नहीं किया गया है। अधिनियम की धारा 2(ख) के प्रतिनिर्देश करते हुए और उसका ऋण वसूली अधिकरण (प्रक्रिया) नियम, 1993 (जिन्हें इसमें इसके पश्चात् “नियम” कहा गया है) के नियम 2(ग) के साथ पठन करते हुए यह दलील दी गई थी कि अधिनियम की धारा 30(1) के अधीन फाइल किया गया आवेदन आर. डी. बी. अधिनियम की धारा 24 के अधीन भी माफी के अध्यक्षीन है। इसी प्रकार, धारा 20(3) में अपील अधिकरण के समक्ष अपील फाइल करने में 45 दिनों के परे विलंब की माफी के लिए उपबंध किया गया है।

6. प्रत्यर्थियों की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री अरविन्द पी. दतार ने यह दलील दी कि आर. डी. बी. अधिनियम बैंकों और वित्तीय संस्थाओं के शोध्यों की वसूली के संबंध में स्वयं एक पूर्ण संहिता थी। आर. डी. बी. अधिनियम की धारा 24 किसी बैंक या वित्तीय संस्था द्वारा किसी ऋण की वसूली के लिए धारा 19 के अधीन अधिकरण को किए गए किसी आवेदन को ही लागू होती थी। धारा 20(3) अभिव्यक्त रूप से केवल अपील अधिकरण के समक्ष की गई कार्यवाहियों को लागू होती थी। अधिनियम की स्कीम में यह सुस्पष्ट है कि विधान-मंडल का अभिव्यक्त आशय यह था कि धारा 30(1) के अधीन 30 दिन की विहित अवधि के किसी विस्तार को अपवर्जित किया जाए, जो कि वर्ष 2000 में उसमें किए गए संशोधन से और भी स्पष्ट हो जाता है जिसके द्वारा इस उपबंध के प्रयोजनों के लिए वसूली अधिकारी की अधिकरण के रूप में मानित हैसियत से इनकार किया गया था।

7. अधिनियम की धारा 2(ख) के अधीन “आवेदन” की परिभाषा को आर. डी. बी. अधिनियम की केवल धारा 19 तक सीमित किया गया था। इसके अर्थान्वयन को, नियम 2(ग) का अवलंब लेकर, जिसे नियम 4 के साथ पढ़ा जाना था, जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ आर. डी. बी. अधिनियम की धारा 30 के अधीन विहित प्रारूप III में आवेदन करने की प्रक्रिया का उपबंध किया गया है, उससे परे विस्तारित नहीं किया जा सकता था, जो कुछ अधिनियम के अधीन विहित है।

8. श्री दतार ने ऋजुतापूर्वक हमारा ध्यान 2015 की सिविल अपील

सं. 4926 में ए. आर. वेणुगोपाल उर्फ आर. वेणुगोपाल बनाम जोशीस्वर्ण और अन्य¹ वाले मामले में दो न्यायाधीशों की न्यायपीठ के तारीख 1 जुलाई, 2015 के विनिश्चय की ओर आकृष्ट किया जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि धारा 30(1) के अधीन कोई अपील फाइल करने में 30 दिन की विहित अवधि के परे हुए विलंब को आर. डी. बी. अधिनियम की धारा 24 के साथ पठित धारा 20 के आधार पर माफ किया जा सकता था।

9. हमने इन दलीलों पर विचार किया है। आर. डी. बी. अधिनियम बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋणों की वसूली को किसी कानूनी अधिकरण के समक्ष संक्षिप्त कार्यवाहियों द्वारा सुकर और द्रुत बनाने के लिए अधिनियमित किया गया था। धारा 18 में ऐसे मामलों में किसी न्यायालय या अन्य प्राधिकारी की (संविधान के अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन उच्चतम न्यायालय/उच्च न्यायालय के सिवाय) अधिकारिता को वर्जित किया गया है। धारा 31 में लंबित मामलों को किसी न्यायालय से अधिकरण को अंतरित करने का उपबंध किया गया है। अधिनियम में वसूली कार्यवाहियां संस्थित करने के लिए पूर्ण प्रक्रिया का, उसके प्रवर्तन की पद्धति का, जिसमें अपील करने का अधिकार भी है, उपबंध किया गया है। निस्संदेह, आर. डी. बी. अधिनियम बैंकों और वित्तीय संस्थाओं के शोध्यों की शीघ्र वसूली के संबंध में एक विशेष विधि और स्वयं एक पूर्ण संहिता है।

10. इस तथ्य से कि अधिकरण में सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन साक्षियों को समन करने और उनकी उपस्थिति को प्रवर्तित कराने, दस्तावेजों की खोज करने और उन्हें प्रस्तुत करने, शपथपत्रों पर साक्ष्य प्राप्त करने, साक्षियों या दस्तावेजों की परीक्षा के लिए कमीशन जारी करने, अपने विनिश्चयों का पुनर्विलोकन करने आदि के संबंध में एक सिविल न्यायालय के रूप में शक्तियां निहित हो सकती हैं, उसमें एक न्यायालय की हैसियत निहित नहीं होती। वास्तव में, धारा 22(1) में यह उपबंध किया गया है कि अधिकरण सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन आने वाली प्रक्रियाओं से आबद्ध नहीं होगा और वह नैसर्गिक न्याय के अनुसार स्वयं अपनी प्रक्रियाएं विनियमित कर सकता है।

¹ 2015 की सिविल अपील सं. 4926 जिसका विनिश्चय 1 जुलाई, 2015 को किया गया।

11. परिसीमा अधिनियम की धारा 5 में यह उपबंध किया गया है कि कोई अपील या आवेदन, सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21 के अपवादस्वरूप विहित अवधि के पश्चात् ग्रहण किया जा सकेगा, यदि आवेदक न्यायालय का यह समाधान कर देता है कि उसके पास समय के भीतर आवेदन फाइल न करने का पर्याप्त हेतुक है। अतः, पूर्वापेक्षा किसी न्यायालय के समक्ष किसी कार्यवाही का लंबित रहना है। चूंकि अधिनियम के अधीन की जाने वाली कार्यवाहियां एक कानूनी अधिकरण के समक्ष की जाने वाली कार्यवाहियां हैं इसलिए उन्हें किसी न्यायालय के समक्ष की जाने वाली कार्यवाहियों के समतुल्य नहीं रखा जा सकता है। अतः, अधिकरण को विलंब को माफ करने की तब तक कोई शक्ति नहीं है जब तक उसका सृजन करने वाले कानून द्वारा उसे वह शक्ति अभिव्यक्त रूप से प्रदत्त नहीं की जाती। **सकुरु बनाम तणजी¹** वाले मामले में यह मत व्यक्त किया गया था कि :-

“3..... कि परिसीमा अधिनियम, 1963 के उपबंध केवल न्यायालयों की कार्यवाहियां पर लागू होते हैं न कि न्यायालयों से भिन्न निकायों के समक्ष की गई अपीलों और आवेदनों पर, जैसे न्यायिककल्प अधिकरण या कार्यपालक प्राधिकरण, भले ही ऐसे निकाय या प्राधिकरणों में ऐसी विनिर्दिष्ट कुछ शक्तियां निहित की गई हों, जो दंड प्रक्रिया संहिता या सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन न्यायालयों को प्रदत्त की गई हैं। चूंकि वह कलक्टर, जिसके समक्ष अधिनियम की धारा 90 के अधीन इसमें के अपीलार्थी ने अपील फाइल की थी, न्यायालय नहीं है, इसलिए यह परिसीमा अधिनियम उनके समक्ष वाली कार्यवाहियों में लागू नहीं होता था। किन्तु ऐसी स्थिति में भी सुसंगत विशेष कानून में ऐसा अभिव्यक्त उपबंध हो सकता है, जो अपील प्राधिकरण जैसे कलक्टर को पर्याप्त हेतुक दर्शित किए जाने पर विहित परिसीमा काल को बढ़ाने की शक्ति प्रदत्त करता हो और यह अभिकथित किया जाए कि परिसीमा अधिनियम की धारा 5 के उपबंध ऐसी कार्यवाहियों पर लागू होंगे। इसलिए यह परीक्षा करना आवश्यक हो जाता है कि क्या अधिनियम में ऐसा कोई उपबंध है, जो कलक्टर को अपील फाइल करने में हुए विलंब को माफ करने में परिसीमा अधिनियम की धारा 5 के उपबंधों का सहारा लेने के लिए हकदार बनाता हो।.....”

¹ [1985] 4 उम. नि. प. 99 = (1985) 3 एस. सी. सी. 590.

12. आर. डी. बी. अधिनियम की धारा 2(ख) के अधीन “आवेदन” की परिभाषा अधिनियम की धारा 19 के अधीन किए गए आवेदन के रूप में की गई है। अध्याय 4 में पश्चात्पूर्ति उपबंध अधिकरण के समक्ष मूल वसूली कार्यवाहियां संस्थित करने के संबंध में है। धारा 20 के अधीन अधिकरण के आदेश के विरुद्ध 45 दिन के भीतर अपील अधिकरण के समक्ष अपील की जा सकती है, जिसे अधिनियम की धारा 20(3) के परन्तुक के अधीन पर्याप्त हेतुक से माफ किया जा सकता है। अधिकरण धारा 19(22) के अधीन वसूली अधिकारी को वसूली प्रमाणपत्र जारी करता है, जो कि बाद में अध्याय 5 के अधीन विहित रीति में प्रमाणपत्र की रकम की वसूली के लिए कार्यवाही करता है। वसूली अधिकारी के आदेश से व्यथित कोई व्यक्ति नियम 4 के अधीन विहित प्ररूप III में आवेदन द्वारा अपील फाइल कर सकता है। नियम 2(ग) में “आवेदन” की परिभाषा इस प्रकार की गई है कि उसमें धारा 30(1) के अधीन अपील ज्ञापन भी है। अपील, अपील अधिकरण से सुभिन्न अधिकरण के समक्ष 30 दिन के भीतर फाइल की जानी है। अतः, आर. डी. बी. अधिनियम की धारा 24 में परिसीमा अधिनियम के उपबंधों को केवल धारा 19 के अधीन किए गए मूल “आवेदन” को ही लागू किया गया है। नियम 2(ग) के अधीन “आवेदन” की परिभाषा को इतना विस्तारित नहीं किया जा सकता कि उसे अधिनियम की धारा 2(ख) के संयोजन में पढ़ा जाए जिससे कि उसके अर्थान्वयन को उससे परे विस्तारित किया जा सके जो कुछ अधिनियम में उपबंधित है और उसके बाद आर. डी. बी. अधिनियम की धारा 24 को अधिनियम की धारा 30(1) के अधीन की जाने वाली अपील को लागू किया जा सके। ऐसा कोई भी निर्वचन करना जिसमें नियमों को उससे परे विस्तारित करना होगा जो कुछ अधिनियम में उपबंधित और सीमित है, विधायी आशय के पूर्णतः प्रतिकूल होगा। यदि आशय अन्यथा होता तो विधान-मंडल को विनिर्दिष्ट रूप से ऐसा उपबंध करने के लिए निवारित नहीं किया गया था।

13. वर्ष 2000 से पूर्व और संशोधन के पश्चात् धारा 30 के तुलनात्मक अध्ययन से यह प्रकट होता है कि वसूली अधिकारी के समक्ष की जाने वाली कार्यवाहियों की अधिकरण के रूप में मानित हैसियत से इनकार किया जाता है। यदि वसूली अधिकारी के समक्ष की जाने वाली कार्यवाहियां किसी अधिकरण के समक्ष की जाने वाली कार्यवाहियां समझी जातीं तो पूर्णतः भिन्न विचारणा उद्भूत हो सकती थी।

2000 के संशोधन से पूर्व पुरानी धारा 30	2000 के संशोधन के पश्चात् धारा 30
“धारा 30. वसूली अधिकारी के आदेशों को अधिकरण के आदेश समझा जाना – धारा 29 में किसी बात के होते हुए भी वसूली अधिकारी द्वारा धारा 25 से धारा 28 (जिसके अंतर्गत ये दोनों धाराएं हैं) के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए किया गया आदेश अधिकरण द्वारा किया गया आदेश समझा जाएगा और ऐसे आदेश के विरुद्ध अपील अधिकरण को अपील की जाएगी।	“धारा 30. वसूली अधिकारी के आदेश के विरुद्ध अपील (1) धारा 29 में किसी बात के होते हुए भी इस अधिनियम के अधीन वसूली अधिकारी द्वारा किए गए किसी आदेश से व्यथित कोई व्यक्ति उस तारीख से, जिसको आदेश की प्रति उसे जारी की गई है, तीस दिन के भीतर अधिकरण को अपील कर सकेगा। (2) उपधारा (1) के अधीन किसी अपील की प्राप्ति पर, अधिकरण अपीलार्थी को सुनवाई का अवसर देने के पश्चात् और ऐसी जांच करने के पश्चात्, जो वह ठीक समझे, धारा 25 से धारा 28 (जिसके अंतर्गत ये दोनों धाराएं हैं) के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए वसूली अधिकारी द्वारा किए गए आदेश की पुष्टि, उसे उपांतरित या अपास्त कर सकेगा।

14. आर. डी. बी. अधिनियम एक विशेष विधि है। इसमें की कार्यवाहियां एक कानूनी अधिकरण के समक्ष होती हैं। अधिनियम की स्कीम में सुस्पष्ट रूप से यह उपबंध किया गया है कि विधान-मंडल ने परिसीमा अधिनियम को केवल धारा 19 के अधीन अधिकरण के समक्ष की जाने वाली मूल कार्यवाहियों को लागू करने का उपबंध किया है। अपील

अधिकरण को अधिनियम की धारा 20(3) के अधीन 45 दिनों के परे विलंब को माफ करने की शक्ति प्रदान की गई है। वसूली अधिकारी के समक्ष की जाने वाली कार्यवाहियां अधिकरण के समक्ष की जाने वाली कार्यवाहियां नहीं हैं। धारा 24 का लागू होना अधिकरण के समक्ष केवल धारा 19 के अधीन आरंभ की गई कार्यवाहियों तक सीमित है। अधिकरण द्वारा अधिनियम की धारा 30 के अधीन अपील फाइल करने में समय में विस्तार करने संबंधी किसी उपबंध के अपवर्जन से यह सुस्पष्ट है कि अपवर्जन के लिए विधायी आशय अभिव्यक्त था। अतः, परिसीमा अधिनियम, 1963 की धारा 29(2) का अवलंब लेकर परिसीमा अधिनियम की धारा 5 को लागू करने का प्रश्न उद्भूत नहीं होता। अतः, आर. डी. बी. अधिनियम की धारा 30(1) के अधीन वसूली अधिकारी के आदेश के विरुद्ध अपील फाइल करने के लिए 30 दिन की विहित अवधि को परिसीमा अधिनियम की धारा 5 को लागू करके माफ नहीं किया जा सकता है।

15. जहां तक ए. आर. वेणुगोपाल उर्फ आर. वेणुगोपाल (उपरोक्त) वाले मामले का संबंध है, यह अवेक्षा और मताभिव्यक्ति करना आवश्यक होगा कि उस मामले में संपूर्ण कानूनी स्कीम न्यायालय के विचारार्थ उद्भूत नहीं हुई थी।

16. अपीलों में गुणागुण नहीं हैं और वे खारिज की जाती हैं।

अपीलें खारिज की गईं।

प्रो.

भारतीय जीवन बीमा निगम

बनाम

संजीव बिल्डर्स प्राइवेट लिमिटेड और अन्य

24 अक्टूबर, 2017

न्यायमूर्ति कुरियन जोसेफ और न्यायमूर्ति (श्रीमती) आर. भानुमती

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 5) – आदेश 22, नियम 10 [सपटित लेटर्स पेटेंट का खंड 15] – वाद फाइल किए जाने के 27 वर्ष पश्चात् उसमें संशोधन करने के लिए आवेदन – यद्यपि वाद में किसी संशोधन को नामंजूर करने के लिए मात्र विलंब कोई आधार नहीं होता है तथापि, चूंकि संशोधन द्वारा प्रत्यर्थी सं. 3 को समनुदेशिती के रूप में पक्षकार बनाए जाने से अपीलार्थी के प्रतिरक्षा संबंधी सारवान् अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा इसलिए ऐसे संशोधन को कायम नहीं रखा जा सकता है ।

प्रस्तुत मामले में प्रत्यर्थी सं. 1 ने वर्ष 1986 में अपीलार्थी के विरुद्ध उस विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद फाइल किया था, जिसके द्वारा अपीलार्थी ने कथित रूप से वादगत संपत्ति का प्रत्यर्थी सं. 1 को विक्रय करने का करार किया था । प्रत्यर्थी सं. 1 ने अपना हित प्रत्यर्थी सं. 2 को, जो उनकी सहायक कंपनी थी, समनुदेशित किया था । वर्ष 2014 में प्रत्यर्थी सं. 3 कंपनी ने यह कथन करते हुए चैम्बर समन फाइल किया कि वाद फाइल किए जाने के पश्चात्, वादी सं. 1/प्रत्यर्थी सं. 1 ने प्रत्यर्थी सं. 2 की सहमति से तारीख 24 अगस्त, 1987 के विक्रय करार द्वारा प्रतिफलस्वरूप अपना हित प्रत्यर्थी सं. 3 को समनुदेशित किया था । प्रत्यर्थी सं. 3 को वादी सं. 3 के रूप में पक्षकार बनाए जाने के लिए और उसके पक्ष में किए गए विक्रय करार के अनुसरण में वाद में संशोधन करने की प्रार्थना करते हुए चैम्बर समन फाइल किया गया था । एकल न्यायाधीश ने चैम्बर समन मंजूर कर लिया था । इसके विरुद्ध अपीलार्थी ने लेटर्स पेटेंट अपील फाइल की जो कि यह अभिनिर्धारित करते हुए खारिज कर दी गई थी कि प्रस्तावित संशोधन से अपीलार्थी के मामले पर गुणागुण के आधार पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है और अपीलार्थी प्रत्यर्थी सं. 3 के पक्ष में किए जाने वाले समनुदेशन को अंतिम डिक्री के पश्चात् चुनौती दे सकेगा । अपीलार्थी ने लेटर्स पेटेंट अपील के खारिज किए जाने से

व्यथित होकर प्रस्तुत अपील फाइल की है। उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित — लेटर्स पेटेंट के खंड 15 में उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश के निर्णय के विरुद्ध अंतर-न्यायालयीय अपीलों के लिए उपबंध है। उच्च न्यायालय में लेटर्स पेटेंट अपील करने का अधिकार इस बात पर निर्भर करता है कि एकल न्यायाधीश के जिस विनिश्चय के विरुद्ध अपील की गई है, उससे पक्षकारों के बीच प्रश्न और उनके मूल्यवान अधिकारों के गुणागुण पर कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है अथवा नहीं। यह प्रश्न कि क्या कोई आदेश “निर्णय” है या “अंतर्वर्ती आदेश”, इस बात पर निर्भर करता है कि उसमें पक्षकारों के अधिकारों को अंतिम रूप से विनिश्चित किया गया है अथवा नहीं और उसका प्रभाव पक्षकारों के अधिकारों को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करना है अथवा नहीं। किसी आदेश को “निर्णय” होने के लिए यह सदैव आवश्यक नहीं होता है कि उससे संविवाद का अंत होना चाहिए या वाद का पर्यवसान होना चाहिए। ऐसा “अंतर्वर्ती आदेश” भी, जिसके द्वारा पक्षकारों के अधिकारों का किसी एक पक्षकार के पक्ष में अवधारण किया जाता है, “निर्णय” होता है। वाद फाइल करने के 27 वर्ष पश्चात् प्रत्यर्थी सं. 3 को समनुदेशिती के रूप में पक्षकार बनाने वाले आवेदन (सिविल प्रक्रिया संहिता का आदेश 22, नियम 10) को मंजूर करने वाले आदेश से अपीलार्थी के मूल्यवान अधिकारों पर महत्वपूर्ण रूप से प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। उस आदेश में, जिसके द्वारा तारीख 24 अगस्त, 1987 के करार के अभिकथित समनुदेशन के आधार पर प्रत्यर्थी सं. 3 को वादी सं. 3 के रूप में पक्षकार बनाकर वादपत्र में संशोधन अनुज्ञात किया गया है, ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न को विनिश्चित किया गया है जिसका संबंध पक्षकारों के अधिकारों से है और इसलिए वह लेटर्स पेटेंट अपील को संधार्य बनाने के लिए एक “निर्णय” है। विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद फाइल करने के 27 वर्ष पश्चात् ऐसे आवेदन को मंजूर करने से अपीलार्थी-प्रतिवादी पर गंभीर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा जिससे अपीलार्थी को उपलब्ध प्रतिरक्षा के मूल्यवान अधिकार से वंचित किया गया है और इसलिए चैम्बर समन को मंजूर करने वाला एकल न्यायाधीश का आदेश लेटर्स पेटेंट अपील के खंड 15 के अर्थान्तर्गत एक “निर्णय” है। (पैरा 9 और 11)

सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 10 के अधीन जब किसी वाद के लंबित रहने के दौरान हित का समनुदेशन या न्यागमन होता है तब वाद न्यायालय की इजाजत से उस व्यक्ति द्वारा या उसके विरुद्ध

चालू रखा जा सकेगा, जिसके विरुद्ध ऐसा हित समनुदेशित या न्यागत हुआ है और इससे वह व्यक्ति, जिसने वाद के लंबित रहने के दौरान मुकदमेबाजी की विषयवस्तु में हित के किसी समनुदेशन या सृजन या न्यागमन द्वारा कोई हित अर्जित किया है या वादकर्ता या कोई अन्य हितबद्ध व्यक्ति, वाद चालू रखने के लिए न्यायालय की इजाजत लेने के लिए आवेदन करने का हकदार होता है। जब वादी वाद के लंबित रहने के दौरान वाद को समनुदेशित/अंतरित कर देता है तब समनुदेशिनी अभिलेख पर लाए जाने और वाद को चालू रखने का हकदार है। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 10 में केवल न्यायालय की इजाजत से ही वाद को चालू रखना समर्थ बनाया गया है। यह विनिश्चित करना न्यायालय का कर्तव्य है कि उस व्यक्ति या समनुदेशिनी को वाद चालू रखने की इजाजत दी जाए अथवा नहीं। ऐसे पक्षकारों को, जो वाद को चालू रखने के लिए आवेदन करते हैं, पक्षकार बनाने या पक्षकार न बनाने के विवेकाधिकार का प्रयोग न्यायसम्मत रूप न कि मनमाने रूप से किया जाना चाहिए। (पैरा 12)

उच्च न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित करना सही नहीं था कि करार का अभिकथित अंतरण/समनुदेशन मात्र प्रत्यर्थी सं. 3 को वाद चालू रखने की इजाजत अनुदत्त करने के लिए पर्याप्त होगा। वर्ष 1986 में वाद फाइल किए जाने से कई वर्षों तक अपीलार्थी को प्रतिरक्षा के मूल्यवान अधिकार प्रोद्भूत हुए हैं; वाद फाइल करने के 27 वर्ष पश्चात् सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 10 के अधीन फाइल किए गए आवेदन में तीसरे पक्षकार को वाद को चालू रखने की इजाजत प्रदान करके प्रतिरक्षा के ऐसे मूल्यवान अधिकार को छीना नहीं जा सकता है। एकल न्यायाधीश का यह कहना सही नहीं था कि प्रत्यर्थी सं. 3 को वादी सं. 3 के रूप में पक्षकार बनाने से अपीलार्थी पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा और यह कि इन विवाद्यकों को विचारण के समय नहीं उठाया जा सकता है। (पैरा 13)

यह उल्लेखनीय है कि वास्तव में समनुदेशिनी/तीसरे प्रत्यर्थी द्वारा वाद को चालू रखने के लिए न्यायालय की इजाजत की ईप्सा करते हुए सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 10 के अधीन आवेदन फाइल नहीं किया गया था। 2014 का चैम्बर समन सं. 187 सीधे ही फाइल किया गया था जिसके द्वारा वाद में ऐसा संशोधन करने की प्रार्थना की गई थी जो कि तब पारिणामिक संशोधन होता, यदि न्यायालय द्वारा वाद को चालू रखने की इजाजत प्रदान की जाती। निस्संदेह, वाद में संशोधन अनुज्ञात

करने की शक्ति व्यापक है और न्यायालय को अति-तकनीकी दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहिए। न्यायालय को संशोधन आवेदनों पर विचार करते समय उदार दृष्टिकोण अपनाना चाहिए और मुकदमेबाजी की बहुलता से बचने के लिए संशोधन अनुज्ञात किए जाने चाहिए। हमें इस बात का भान है कि केवल विलंब ही संशोधन को नामंजूर करने का आधार नहीं है। किन्तु वर्तमान मामले में, पक्षकार सीधे-सादे मुकदमेबाज नहीं हैं; सभी प्रत्यर्थी कंपनियां हैं और पक्षकारों के बीच विवाद एक वाणिज्यिक मुकदमा है। इन तथ्यों और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 10 के अधीन फाइल किए गए चैम्बर समन में प्रार्थित संशोधन अनुज्ञात नहीं किया जाना चाहिए था क्योंकि इससे अपीलार्थी पर गंभीर रूप से प्रभाव पड़ेगा। हमारी राय में, आक्षेपित आदेश से, जिसके द्वारा 27 वर्षों के पश्चात् फाइल किया गया 2014 का चैम्बर समन सं. 187 मंजूर किया गया था, अपीलार्थी को प्रोद्भूत होने वाले प्रतिरक्षा के सारवान् अधिकार छीन लिए जाएंगे और उसे कायम नहीं रखा जा सकता है। (पैरा 15 और 16)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

- | | | |
|--------|--|----|
| [2012] | (2012) 8 एस. सी. सी. 384 :
विदुर इम्पेक्स एंड ट्रेडर्स प्राइवेट लिमिटेड और अन्य
बनाम तोष अपार्टमेंट्स प्राइवेट लिमिटेड और अन्य ; | 14 |
| [1987] | ए. आई. आर. 1987 मुम्बई 276 :
जवाहरलाल बनाम श्रीमती सरस्वतीबाई
बाबूलाल जोशी और अन्य ; | 5 |
| [1982] | [1982] 2 उम. नि. प. 787 =
(1981) 4 एस. सी. सी. 8 :
शाह बाबूलाल खीमजी बनाम जयाबेन डी. कानिया
और एक अन्य ; | 10 |
| [1947] | (1947) 2 एम. एल. जे. 374 :
श्रीमती शारदम्बल अम्माल बनाम ई. आर. कंडास्वामी
गौंडर और अन्य । | 5 |

सिविल अपीली अधिकारिता : 2017 की सिविल अपील सं. 16964.

1986 के बाद सं. 894 में 2014 के चैम्बर समन सं. 187 में 2014

की अपील सं. 285 में मुम्बई उच्च न्यायालय के तारीख 22 अगस्त, 2014 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से	श्री गोवर्धन और सुश्री पल्लवी चोपड़ा
प्रत्यर्थियों की ओर से	सर्वश्री शेखर नफादे, ज्येष्ठ अधिवक्ता, महेश अग्रवाल, एन. जनार्दन, अंकुर सहगल, मुंजाल भट्टा, नवजोत सिंह, ई.सी. अग्रवाल और सुश्री शैली भसीन

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति (श्रीमती) आर. भानुमती ने दिया ।

न्या. (श्रीमती) भानुमती – इजाजत दी जाती है ।

2. यह अपील मुम्बई उच्च न्यायालय के तारीख 22 अगस्त, 2014 के उस निर्णय से उद्भूत हुई है जिसमें और जिसके द्वारा खंड न्यायपीठ ने अपीलार्थी द्वारा फाइल की गई अपील को खारिज कर दिया था और तद्वारा 2014 के चैम्बर समन सं. 187 में एकल न्यायाधीश के उस आदेश को अभिपुष्ट कर दिया था जिसके द्वारा प्रत्यर्थी सं. 3 को 1986 के वाद सं. 984 में वादी सं. 3 के रूप में पक्षकार बनाया गया था ।

3. प्रत्यर्थी सं. 1 ने तारीख 8 जून, 1979 के उस विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन के लिए, जिसके द्वारा अपीलार्थी ने कथित रूप से वादगत संपत्ति का प्रत्यर्थी सं. 1 को विक्रय करने के लिए करार किया है और अनुकल्पतः अपीलार्थी को 10,75,021.05 रुपए की राशि का और 4,52,778/- रुपए की राशि पर वाद की तारीख से संदाय या वसूली तक 18 प्रतिशत वार्षिक दर से अतिरिक्त ब्याज का संदाय करने का निदेश देने के लिए अपीलार्थी के विरुद्ध 1986 का वाद सं. 894 फाइल किया । अपीलार्थी के अनुसार, उक्त करार का तारीख 28 नवम्बर, 1984 को विखंडन कर दिया गया है । प्रत्यर्थी सं. 1 ने कथित रूप से प्रत्यर्थी सं. 2, उसके सहयोगी समुत्थान को हित समनुदेशित किया है ।

4. प्रत्यर्थी सं. 3 - केडिया कंस्ट्रक्शन कंपनी लिमिटेड ने वर्ष 2014 में यह कथन करते हुए 2014 का चैम्बर समन सं. 187 फाइल किया था कि वाद के फाइल किए जाने के पश्चात्, वादी सं. 1/प्रत्यर्थी सं. 1 ने प्रत्यर्थी सं. 2 की सहमति से, तारीख 24 अगस्त, 1987 के विक्रय करार द्वारा अपने हित को 23,31,000/- रुपए के प्रतिफल के लिए प्रत्यर्थी सं. 3 को समनुदेशित कर दिया था । चैम्बर समन प्रत्यर्थी सं. 3 को वादी सं. 3 के रूप में पक्षकार बनाने और उसके पक्ष में किए गए विक्रय करार के

अनुसरण में वाद में संशोधन करने की प्रार्थना करते हुए फाइल किया गया था। अपीलार्थी ने इस आधार पर चैम्बर समन का विरोध किया कि प्रत्यर्थी सं. 3 को कोई सद्भाविक समनुदेशिती या आवश्यकता नहीं थी और यह कि वाद में के विवाद्यक तारीख 31 जनवरी, 2014 को विरचित किए गए थे और यह कि आवेदन फाइल करने में 27 वर्षों का असाधारण विलंब हुआ है जिसे स्पष्ट नहीं किया गया है। यह भी दलील दी गई थी कि प्रत्यर्थी सं. 1 के पक्ष में किए गए तारीख 8 जून, 1979 के करार का ही तारीख 28 नवम्बर, 1984 को पर्यवसान हो गया था और प्रत्यर्थी सं. 1/वादी सं. 1 कोई अधिकार प्रत्यर्थियों को अंतरित नहीं कर सकता था।

5. एकल न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि इस विवाद्यक का विचारण, वाद में न कि उस प्रक्रम पर किया जाना था कि प्रत्यर्थी सं. 1 और 2 के हित प्रत्यर्थी सं. 3 को अंतरित किया जा सकता था अथवा नहीं और आवेदन फाइल करने में हुआ विलंब प्रत्यर्थी सं. 3 को पक्षकार न बनाने के लिए आधार नहीं हो सकता था। चैम्बर न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि तारीख 8 जून, 1979 के करार में अधिकारों के समनुदेशन की अनुज्ञा दी गई है और उसमें अपीलार्थी से अनुज्ञा लेने की कोई अपेक्षा नहीं है। न्यायालय ने **श्रीमती शारदम्बल अम्माल बनाम ई. आर. कंडास्वामी गौंडर और अन्य¹** वाले मामले में मद्रास उच्च न्यायालय के निर्णय का अवलंब लिया जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि संविदागत अधिकारों का ऐसा समनुदेशन सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 10 के अधीन अनुज्ञेय था। एकल न्यायाधीश ने **जवाहरलाल बनाम श्रीमती सरस्वतीबाई बाबूलाल जोशी और अन्य²** वाले मामले में मुम्बई उच्च न्यायालय के निर्णय का भी अवलंब लिया, जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 10 के अधीन विस्तृत जांच आवश्यक नहीं थी और उसमें केवल प्रथमदृष्ट्या यह समाधान करने की आवश्यकता है कि हित समनुदेशित किया गया है और गुणागुण के आधारों पर विचार करना आवश्यक नहीं है। न्यायालय ने यह उल्लेख किया कि यद्यपि वाद वर्ष 1986 में फाइल किया गया था तथापि, उसे प्रथम बार वर्ष 2000 में और उसके बाद 2007, 2008 और बाद में 2014 में सूचीबद्ध किया गया था। यह मत व्यक्त करते हुए कि अपीलार्थी पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा, चैम्बर

¹ (1947) 2 एम. एल. जे. 374.

² ए. आई. आर. 1987 मुम्बई 276.

समन तारीख 16 अप्रैल, 2014 के आदेश द्वारा मंजूर किया गया था और अपीलार्थी को 10,000/- रुपए के खर्च का संदाय करने का निदेश दिया गया था। अपीलार्थी ने इससे व्यथित होकर लेटर्स पेटेंट अपील फाइल की जो यह अभिनिर्धारित करते हुए खारिज कर दी गई थी कि प्रस्तावित संशोधन से अपीलार्थी के मामले में गुणागुण के आधार पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा था और यह कि अपीलार्थी अंतिम डिक्री के पश्चात् भी प्रत्यर्थी सं. 3 के पक्ष में किए गए समनुदेशन को चुनौती दे सकता था। अपीलार्थी ने, लेटर्स पेटेंट अपील खारिज किए जाने से व्यथित होकर यह अपील फाइल की है।

6. अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल श्री गोवर्धन ने यह दलील दी कि जब विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद 1986 से लंबित था और प्रत्यर्थियों को इस बात की पूरी जानकारी थी तब प्रत्यर्थी सं. 3 को सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 10 के अधीन किए गए आवेदन के बहाने से वादी सं. 3 के रूप में पक्षकार बनाते हुए वर्ष 2014 में किया गया संशोधन विधि का पूर्णतया दुरुपयोग है। काउंसेल ने आगे यह दलील दी कि पक्षकार बनाने संबंधी आवेदन फाइल करने में 27 वर्ष का घोर विलंब हुआ था और उच्च न्यायालय ने विधि और तथ्यों को अनदेखा किया और आवेदन फाइल करने में हुए 27 वर्ष के असाधारण विलंब को ध्यान में रखे बिना आवेदन को मंजूर करने में गलती की।

7. इसके विपरीत, प्रत्यर्थियों के विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री शेखर नफादे ने यह दलील दी कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 10 के अधीन किए गए आवेदन को मंजूर करने वाला आदेश अंतरिम आदेश की प्रकृति का है और उसमें पक्षकारों के अधिकारों को अंतिम रूप से अवधारित नहीं किया गया है और इसलिए कोई लेटर्स पेटेंट अपील उद्भूत नहीं होगी। विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने आगे यह दलील दी कि प्रत्यर्थी सं. 3 ने प्रत्यर्थी सं. 1 और 2 के अधिकारों का समनुदेशिती होने का दावा किया है और उसे वाद चालू रखने का अधिकार है तथा पक्षकार बनाने संबंधी आवेदन को मंजूर करने वाले आदेश से पक्षकारों के अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है। इसके अतिरिक्त, यह दलील दी गई थी कि विक्रय करार के अधीन प्रत्यर्थी सं. 1 का अधिकार, वाद चलाने का अंतरणीय अधिकार है और समनुदेशिती ने यह अधिकार विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद के लंबित रहने के दौरान अर्जित किया था। यह दलील दी गई थी कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 10 में समनुदेशिती

को ऐसे वाद को चालू रखने के लिए, जिसके लिए परिसीमा अधिनियम के उपबंध लागू होते हैं, पक्षकार के रूप में अभियोजित करने के लिए न्यायालय में आवेदन करने के लिए समर्थ बनाया गया है। सकारण आदेश द्वारा यह दलील दी गई थी कि विद्वान् एकल न्यायाधीश ने चैम्बर समन को मंजूर कर लिया और खंड न्यायपीठ ने अपील को खारिज करके ठीक ही किया है तथा आक्षेपित आदेश में विधि संबंधी ऐसी कोई त्रुटि नहीं है जिसके कारण हस्तक्षेप करना आवश्यक हो।

8. हमने परस्पर-विरोधी दलीलों पर सावधानीपूर्वक विचार किया है और आक्षेपित निर्णय तथा अभिलेख पर की सामग्री का परिशीलन कर लिया है।

9. प्रथम दलील यह है कि एकल न्यायाधीश का आदेश ऐसा “निर्णय” नहीं था जिसके द्वारा पक्षकारों के अधिकारों पर अंतिम रूप से प्रतिकूल प्रभाव पड़ा हो और लेटर्स पेटेंट अपील संधार्य न हो। लेटर्स पेटेंट के खंड 15 में उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश के निर्णय के विरुद्ध अंतर-न्यायालयीय अपीलों के लिए उपबंध है। उच्च न्यायालय में लेटर्स पेटेंट अपील करने का अधिकार इस बात पर निर्भर करता है कि एकल न्यायाधीश के जिस विनिश्चय के विरुद्ध अपील की गई है, उससे पक्षकारों के बीच प्रश्न और उनके मूल्यवान अधिकारों के गुणागुण पर कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है अथवा नहीं। यह प्रश्न कि क्या कोई आदेश “निर्णय” है या “अंतर्वर्ती आदेश”, इस बात पर निर्भर करता है कि उसमें पक्षकारों के अधिकारों को अंतिम रूप से विनिश्चित किया गया है अथवा नहीं और उसका प्रभाव पक्षकारों के अधिकारों को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करना है अथवा नहीं। किसी आदेश को “निर्णय” होने के लिए यह सदैव आवश्यक नहीं होता है कि उससे संविवाद का अंत होना चाहिए या वाद का पर्यवसान होना चाहिए। ऐसा “अंतर्वर्ती आदेश” भी, जिसके द्वारा पक्षकारों के अधिकारों का किसी एक पक्षकार के पक्ष में अवधारण किया जाता है, “निर्णय” होता है।

10. शाह बाबूलाल खीमजी बनाम जयाबेन डी. कानिया और एक अन्य¹ वाले मामले में “अंतर्वर्ती आदेश” या “निर्णय” की प्रकृति पर विस्तार से चर्चा करते हुए और यह मत व्यक्त करते हुए कि लेटर्स पेटेंट अपील ऐसे निर्णय से उद्भूत होगी जिससे पक्षकारों के मार्मिक और मूल्यवान

¹ [1982] 2 उम. नि. प. 787 = (1981) 4 एस. सी. सी. 8.

अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा और जिससे संबंधित पक्षकारों के प्रति गंभीर अन्याय होगा, निम्नलिखित रूप में अभिनिर्धारित किया गया था :-

“106. इस प्रकार जो एकमात्र प्रश्न इस विनिश्चय से उद्भूत होता है वह यह है कि जब कभी कोई विचारण न्यायाधीश किसी ऐसे संविवाद का विनिश्चय करता है जो पक्षकारों में से किसी एक पक्षकार के मूल्यवान अधिकार को प्रभावित करता है तो निश्चित रूप से उसके बारे में लेटर्स पेटेंट के अर्थान्तर्गत यह समझा जाना चाहिए कि वह निर्णय है ।

.....

114. विचारण के अनुक्रम में विचारण न्यायाधीश अनेक आदेशों को पारित कर सकता है जिनके द्वारा वाद के अभियोजन में पक्षकारों द्वारा अपनाए गए विभिन्न कदम साधारण प्रकृति के हो सकते हैं जब कि अन्य आदेशों से पक्षकारों में से किसी एक को किंचित असुविधा हो सकता ही जैसे कि स्थगन को नामंजूर करने वाला आदेश, अतिरिक्त साक्ष्य अथवा दस्तावेजों को समन करने के लिए नामंजूर करने वाला आदेश, दस्तावेज फाइल करने में विलंब की माफी हेतु इनकार करने वाला आदेश । पक्षकारों में से किसी एक पक्षकार को उसके व्यतिक्रम के लिए खर्चे संबंधी आदेश जो सुनवाई की प्रथम तारीख के पश्चात् दिया गया हो अथवा कोई ऐसा आदेश जो किसी एक या अन्य पक्षकारों के विरुद्ध प्रक्रियागत मामले की बाबत विवेकाधिकार का प्रयोग करता है । ऐसे आदेश स्पष्ट रूप से अंतर्वर्ती आदेश होते हैं और वे निर्णय गठित नहीं कर सकते क्योंकि व्यथित पक्षकार को सदैव इस बात की स्वतंत्रता होगी कि वह विचारण न्यायाधीश द्वारा पारित अंतिम आदेश के विरुद्ध अपील में संबद्ध पक्षकार के विरुद्ध पारित आदेश के संबंध में व्यथा प्रस्तुत करे ।

115. इस प्रकार, दूसरे शब्दों में, प्रत्येक अंतर्वर्ती आदेश के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह निर्णय है किन्तु केवल ऐसे आदेश निर्णय होंगे जो महत्वपूर्ण विषयों संबंधी विनिश्चय करते हैं अथवा पक्षकारों के मार्मिक तथा मूल्यवान अधिकारों पर प्रभाव डालते हैं और जो गंभीर रूप से संबद्ध पक्षकार के प्रति अन्याय करते हैं । इसी प्रकार, विचारण न्यायाधीश द्वारा पारित आदेश जो किसी दस्तावेज की ग्राह्यता अथवा सुसंगति के प्रश्न का विनिश्चय करते हैं, उनके बारे में यह नहीं माना जा सकता कि वे निर्णय हैं क्योंकि इस

आधार पर व्यथा अपील न्यायालय द्वारा अंतिम निर्णय के विरुद्ध अपील में समुचित बनाई जा सकती है।

116. हम अंतर्वर्ती आदेश के बारे में एक अन्य उदाहरण दे सकते हैं जोकि विवेकाधिकार के प्रयोग की कोटि में आता है और फिर भी वह लेटर्स पेटेंट के अर्थान्तर्गत निर्णय की कोटि में आ जाता है। मान लीजिए कि विचारण न्यायाधीश वादी को यह अनुज्ञा प्रदान करता है कि अपने वादपत्र को संशोधित कर ले अथवा उसमें वाद हेतुक या अनुतोष अंतर्विष्ट कर ले, जिसके परिणामस्वरूप प्रतिवादी को परिसीमा संबंधी निहित अधिकार उपगत होता है किन्तु उसे छीन लिया जाता है और नकारात्मक बना दिया जाता है। यह सुव्यक्त है कि ऐसे मामलों में हालांकि विचारण न्यायाधीश द्वारा पारित आदेश सर्वथा विवेकात्मक तथा अंतर्वर्ती आदेश होता है, प्रतिवादी को इससे घोर अन्याय पहुंचता है क्योंकि वह वाद के संबंध में प्रतिरक्षा के बारे में एक मूल्यवान अधिकार से वंचित हो जाता है। अतः ऐसा आदेश भले ही वह अंतर्वर्ती प्रकृति का हो, उसमें अंतिमता के तत्व तथा लक्षण अंतर्विष्ट रहते हैं और उसके विषय में यह माना जाना चाहिए कि वह लेटर्स पेटेंट के अर्थान्तर्गत निर्णय की कोटि में आता है। शांति कुमार [(1974) 2 एस. सी. सी. 387] वाले मामले में, जैसा कि ऊपर विचार-विमर्श किया गया है, इस न्यायालय द्वारा यही अभिनिर्धारित किया गया था।

117. एक समरूप आदेश के विषय में अब हम एक अन्य उदाहरण लेंगे जो निर्णय की कोटि में नहीं आता है। मान लीजिए कि विचारण न्यायाधीश वादी को इस बात के लिए अनुज्ञात करता है कि वह किसी विशिष्ट अनुतोष को छोड़कर अथवा कोई अतिरिक्त आधार लेकर जोकि उसके द्वारा अपनाए गए अभिवचनों से विसंगत हो, वाद को संशोधित कर ले किन्तु वह परिसीमा द्वारा वर्जित नहीं होता है और इससे प्रतिवादी को गंभीर अन्याय नहीं पहुंचता जिसे विचारण के दौरान वादी द्वारा अपनाए गए संशोधित अभिवाक् को अननुमोदित करने हेतु प्रचुर अवसर प्राप्त होगा। ऐसे मामलों में विचारण न्यायाधीश का आदेश केवल अंतर्वर्ती आदेश होगा और उसमें अंतिमता का कोई पुट अंतर्विष्ट नहीं होगा और इसलिए वह लेटर्स पेटेंट के खंड 15 के अर्थान्तर्गत निर्णय की कोटि में नहीं आएगा।¹⁷

(जोर देने के लिए रेखांकित)

11. वर्तमान मामले को उपर्युक्त सिद्धांत लागू करने पर हमारा यह निष्कर्ष है कि वाद फाइल करने के 27 वर्ष पश्चात् प्रत्यर्थी सं. 3 को समनुदेशिती के रूप में पक्षकार बनाने वाले आवेदन (सिविल प्रक्रिया संहिता का आदेश 22, नियम 10) को मंजूर करने वाले आदेश से अपीलार्थी के मूल्यवान अधिकारों पर महत्वपूर्ण रूप से प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। उस आदेश में, जिसके द्वारा तारीख 24 अगस्त, 1987 के करार के अभिकथित समनुदेशन के आधार पर प्रत्यर्थी सं. 3 को वादी सं. 3 के रूप में पक्षकार बनाकर वादपत्र में संशोधन अनुज्ञात किया गया है, ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न को विनिश्चित किया गया है जिसका संबंध पक्षकारों के अधिकारों से है और इसलिए वह लेटर्स पेटेंट अपील को संघार्य बनाने के लिए एक “निर्णय” है। हमारे मतानुसार, विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद फाइल करने के 27 वर्ष पश्चात् ऐसे आवेदन को मंजूर करने से अपीलार्थी-प्रतिवादी पर गंभीर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा जिससे अपीलार्थी को उपलब्ध प्रतिरक्षा के मूल्यवान अधिकार से वंचित किया गया है और इसलिए चैम्बर समन को मंजूर करने वाला एकल न्यायाधीश का आदेश लेटर्स पेटेंट अपील के खंड 15 के अर्थान्तर्गत एक “निर्णय” है।

12. प्रत्यर्थी सं. 3 का पक्षकथन यह है कि वह प्रत्यर्थी सं. 1 और 2 के अधिकारों के समनुदेशिती के रूप में दावा करता है और उसे सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 10 के अधीन वाद चालू रखने का अधिकार प्राप्त है और ऐसे किसी आवेदन को परिसीमा के उपबंध लागू नहीं होते हैं। इस दलील के गुणागुण का मूल्यांकन करने के लिए, हम सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 10 के प्रति उपयोगी रूप से निर्देश कर सकते हैं, जो निम्नलिखित रूप में है :—

“आदेश 22 : पक्षकारों की मृत्यु, उनका विवाह और दिवाला

.....

10. वाद में अंतिम आदेश होने के पूर्व समनुदेशन की दशा में प्रक्रिया — (1) वाद के लंबित रहने के दौरान किसी हित के समनुदेशन, सृजन या न्यागमन की अन्य दशा में, वाद न्यायालय की इजाजत से उस व्यक्ति द्वारा या उसके विरुद्ध चालू रखा जा सकेगा जिसको ऐसा हित प्राप्त या न्यागत हुआ है।

(2) किसी डिक्री की अपील के लंबित रहने के दौरान उस डिक्री की कुर्की के बारे में यह समझा जाएगा कि वह ऐसा हित है

जिससे वह व्यक्ति जिसने ऐसी कुर्की कराई थी, उपनियम (1) का फायदा उठाने का हकदार हो गया है।”

सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 10 के अधीन जब किसी वाद के लंबित रहने के दौरान हित का समनुदेशन या न्यागमन होता है तब वाद न्यायालय की इजाजत से उस व्यक्ति द्वारा या उसके विरुद्ध चालू रखा जा सकेगा, जिसके विरुद्ध ऐसा हित समनुदेशित या न्यागत हुआ है और इससे वह व्यक्ति, जिसने वाद के लंबित रहने के दौरान मुकदमेबाजी की विषयवस्तु में हित के किसी समनुदेशन या सृजन या न्यागमन द्वारा कोई हित अर्जित किया है या वादकर्ता या कोई अन्य हितबद्ध व्यक्ति, वाद चालू रखने के लिए न्यायालय की इजाजत लेने के लिए आवेदन करने का हकदार होता है। जब वादी वाद के लंबित रहने के दौरान वाद को समनुदेशित/अंतरित कर देता है तब समनुदेशिती अभिलेख पर लाए जाने और वाद को चालू रखने का हकदार है। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 10 में केवल न्यायालय की इजाजत से ही वाद को चालू रखना समर्थ बनाया गया है। यह विनिश्चित करना न्यायालय का कर्तव्य है कि उस व्यक्ति या समनुदेशिती को वाद चालू रखने की इजाजत दी जाए अथवा नहीं। ऐसे पक्षकारों को, जो वाद को चालू रखने के लिए आवेदन करते हैं, पक्षकार बनाने या पक्षकार न बनाने के विवेकाधिकार का प्रयोग न्यायसम्मत रूप न कि मनमाने रूप से किया जाना चाहिए।

13. उच्च न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित करना सही नहीं था कि करार का अभिकथित अंतरण/समनुदेशन मात्र प्रत्यर्थी सं. 3 को वाद चालू रखने की इजाजत अनुदत्त करने के लिए पर्याप्त होगा। वर्ष 1986 में वाद फाइल किए जाने से कई वर्षों तक अपीलार्थी को प्रतिरक्षा के मूल्यवान अधिकार प्रोद्भूत हुए हैं; वाद फाइल करने के 27 वर्ष पश्चात् सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 10 के अधीन फाइल किए गए आवेदन में तीसरे पक्षकार को वाद को चालू रखने की इजाजत प्रदान करके प्रतिरक्षा के ऐसे मूल्यवान अधिकार को छीना नहीं जा सकता है। विद्वान् एकल न्यायाधीश का यह कहना सही नहीं था कि प्रत्यर्थी सं. 3 को वादी सं. 3 के रूप में पक्षकार बनाने से अपीलार्थी पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा और यह कि इन विवादों को विचारण के समय नहीं उठाया जा सकता है।

14. विनिर्दिष्ट पालन वाले वाद में, पक्षकार बनाने के लिए आवेदन एक युक्तियुक्त समय के भीतर अवश्य फाइल किया जाना चाहिए। विदुर

इम्पेक्स एंड ट्रेडर्स प्राइवेट लिमिटेड और अन्य बनाम तोष अपार्टमेंट्स प्राइवेट लिमिटेड और अन्य¹ वाले मामले में विनिर्दिष्ट पालन वाले किसी वाद में पक्षकार को अभियोजित करने के प्रश्न पर विचार करते हुए और विभिन्न निर्णयों के प्रति निर्देश करने के पश्चात् सिद्धांतों को निम्नलिखित रूप में संक्षिप्त किया गया :-

“41. यद्यपि ऊपर उल्लिखित कुछ निर्णयों में की गई मताभिव्यक्तियों में प्रत्यक्ष विरोधाभास है तथापि, ऐसे व्यापक सिद्धांत, जो अभियोजित करने संबंधी किसी आवेदन के निपटान को शासित होने चाहिए, निम्नलिखित हैं -

41.1 न्यायालय, कार्यवाहियों के किसी प्रक्रम पर, पक्षकारों द्वारा किए गए किसी आवेदन पर या अन्यथा, किसी व्यक्ति को ऐसे पक्षकार के रूप में अभियोजित करने का निदेश दे सकता है, जिसे वादी या प्रतिवादी के रूप में शामिल किया जाना चाहिए या जिसकी वाद में अंतर्वलित विवादकों के प्रभावी और पूर्ण न्यायनिर्णयन के लिए न्यायालय के समक्ष उपस्थिति आवश्यक है।

41.2 आवश्यक पक्षकार वह व्यक्ति होता है जिसे वाद में पक्षकार के रूप में शामिल किया जाना चाहिए और जिसकी अनुपस्थिति में न्यायालय द्वारा प्रभावी डिक्री पारित नहीं की जा सकती है।

41.3 समुचित पक्षकार वह व्यक्ति होता है जिसकी उपस्थिति से न्यायालय समस्त विषयों और विवादकों का पूर्णतः, प्रभावी और समुचित रूप से न्यायनिर्णयन करने में समर्थ होगा हालांकि वह ऐसा व्यक्ति नहीं हो सकेगा जिसके पक्ष में या विरोध में डिक्री की जाती है।

41.4 यदि कोई व्यक्ति समुचित या आवश्यक पक्षकार नहीं पाया जाता है तो न्यायालय को वादी की इच्छा के विरुद्ध उसे अभियोजित करने का आदेश करने की अधिकारिता नहीं है।

41.5 विनिर्दिष्ट पालन के वाद में, न्यायालय किसी ऐसे क्रेता को पक्षकार बनाने का आदेश कर सकता है जिसका आचरण निष्कपट है और जो लंबित मुकदमेबाजी के बारे में जानकारी अर्जित करने के युक्तियुक्त समय के भीतर पक्षकार के रूप में शामिल किए जाने के लिए आवेदन फाइल करता है।

¹ (2012) 8 एस. सी. सी. 384.

41.6 तथापि, यदि आवेदक दुराग्रही आचरण का दोषी है या किसी प्रच्छन्न संब्यवहार या न्यायालय द्वारा पारित अवरोध आदेश के अतिक्रमण में वादगत संपत्ति के स्वामी द्वारा किए गए किसी संब्यवहार का फायदाग्राही है या आवेदन में असम्यक् विलंब किया गया है तो न्यायालय का पक्षकार बनाने की प्रार्थना को इनकार करना न्यायोचित होगा ।”

उपर्युक्त सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए, वर्तमान मामले पर विचार करते हुए, हमारे मतानुसार, प्रत्यर्थी सं. 3 को वादी सं. 3 के रूप में पक्षकार बनाने के लिए फाइल किया गया आवेदन युक्तियुक्त समय के भीतर फाइल नहीं किया गया था । 27 वर्षों के ऐसे असाधारण विलंब के लिए कोई स्पष्टीकरण पेश नहीं किया गया है, जिसे उच्च न्यायालय द्वारा विचार में लिया गया था ।

15. यह उल्लेखनीय है कि वास्तव में समनुदेशिनी/तीसरे प्रत्यर्थी द्वारा वाद को चालू रखने के लिए न्यायालय की इजाजत की ईप्सा करते हुए सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 10 के अधीन आवेदन फाइल नहीं किया गया था । 2014 का चैम्बर समन सं. 187 सीधे ही फाइल किया गया था जिसके द्वारा वाद में ऐसा संशोधन करने की प्रार्थना की गई थी जो कि तब पारिणामिक संशोधन होता, यदि न्यायालय द्वारा वाद को चालू रखने की इजाजत प्रदान की जाती ।

16. जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है, यह आवेदन वाद फाइल किए जाने के 27 वर्ष पश्चात् फाइल किया गया था । निरसंदेह, वाद में संशोधन अनुज्ञात करने की शक्ति व्यापक है और न्यायालय को अति-तकनीकी दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहिए । न्यायालय को संशोधन आवेदनों पर विचार करते समय उदार दृष्टिकोण अपनाना चाहिए और मुकदमेबाजी की बहुलता से बचने के लिए संशोधन अनुज्ञात किए जाने चाहिए । हमें इस बात का भान है कि केवल विलंब ही संशोधन को नामंजूर करने का आधार नहीं है । किन्तु वर्तमान मामले में, पक्षकार सीधे-सादे मुकदमेबाज नहीं हैं; सभी प्रत्यर्थी कंपनियां हैं और पक्षकारों के बीच विवाद एक वाणिज्यिक मुकदमा है । इन तथ्यों और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 10 के अधीन फाइल किए गए चैम्बर समन में प्रार्थित संशोधन अनुज्ञात नहीं किया जाना चाहिए था क्योंकि इससे अपीलार्थी पर गंभीर रूप से प्रभाव पड़ेगा । हमारी राय में, आक्षेपित आदेश से, जिसके द्वारा 27 वर्षों के पश्चात् फाइल किया गया

2014 का चैम्बर समन सं. 187 मंजूर किया गया था, अपीलार्थी को प्रोद्भूत होने वाले प्रतिरक्षा के सारवान् अधिकार छीन लिए जाएंगे और उसे कायम नहीं रखा जा सकता है ।

17. परिणामस्वरूप, आक्षेपित निर्णय अपास्त किया जाता है और अपील मंजूर की जाती है । 1986 के वाद सं. 894 में 2014 का चैम्बर समन सं. 187 खारिज किया जाता है । खर्च के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता है ।

अपील मंजूर की गई ।

गो.

संसद् के अधिनियम
शासकीय न्यासी अधिनियम, 1913¹
(1913 का अधिनियम संख्यांक 2)

[27 फरवरी, 1913]

शासकीय न्यासी के पद से संबंधित
विधि के समेकन और
संशोधन के लिए
अधिनियम

²*** इसके द्वारा निम्नलिखित रूप में यह अधिनियमित किया जाता है :-

भाग 1

प्रारंभिक

1. संक्षिप्त नाम, विस्तार और प्रारंभ - (1) इस अधिनियम का संक्षिप्त नाम शासकीय न्यासी अधिनियम, 1913 है ।

³[(2) इसका विस्तार ⁴*** संपूर्ण भारत पर है]]

¹ उद्देश्यों और कारणों के कथन के लिए देखिए भारत का राजपत्र, 1912, भाग 5, पृष्ठ 202, प्रवर समिति की रिपोर्ट के लिए देखिए भारत का राजपत्र, 1913, भाग 5, पृष्ठ 19 और काउन्सिल में कार्यवाहियों के लिए देखिए भारत का राजपत्र, 1912, भाग 6, पृष्ठ 699 और भारत का राजपत्र, 1813, भाग 6, पृष्ठ 15 और 28 ।

इस अधिनियम में कुछ भी न्यास संपत्तियों के प्रबंध और वितरण को, या बाम्बे बेरोनेटी ऐक्ट, 1959 (1960 का 9) के अधीन शासकीय न्यासी के कर्तव्यों को लागू नहीं होगा ।

इस अधिनियम को, भूतपूर्व बंगाल प्रांत में उसे लागू करने के लिए, आफिशियल ट्रस्टीज (बंगाल अमेंडमेंट) ऐक्ट, 1940 (1940 का बंगाल अधिनियम 12) तथा आफिशियल ट्रस्टीज (बंगाल अमेंडमेंट) ऐक्ट, 1941 (1941 का बंगाल अधिनियम 1) और 1960 के मुम्बई अधिनियम 9 द्वारा बरार द्वारा संशोधित किया गया है ।

इसका विस्तार बरार विधि अधिनियम, 1941 (1941 का 4) द्वारा बरार पर तथा 1963 के विनियम 6 की धारा 2 और अनुसूची 1 द्वारा दादरा और नागर हवेली पर किया गया है ।

² 1964 के अधिनियम सं. 48 की धारा 2 द्वारा उद्देशिका का लोप किया गया ।

³ विधि अनुकूलन आदेश, 1950 द्वारा पूर्ववर्ती उपधारा के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

⁴ 1968 के अधिनियम सं. 25 की धारा 2 और अनुसूची द्वारा "जम्मू-कश्मीर राज्य के सिवाय" शब्दों का (15-8-1968 से) लोप किया गया ।

(3) यह उस तारीख¹ को प्रवृत्त होगा जिसे ²[केन्द्रीय सरकार]
³[राजपत्र] में अधिसूचना द्वारा, निर्दिष्ट करे।

⁴[2. निर्वचन खंड – इस अधिनियम में, जब तक कि विषय या संदर्भ में कोई बात विरुद्ध न हो, –

(1) “सरकार” से, किसी राज्य के संबंध में, राज्य सरकार, तथा किसी संघ राज्यक्षेत्र के संबंध में, केन्द्रीय सरकार, अभिप्रेत है।

⁵*

*

*

(3) “विहित” से इस अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों द्वारा विहित अभिप्रेत है।]

⁶[3. उच्च न्यायालय की अधिकारिता का विस्तार – उच्च न्यायालय, इस अधिनियम या भारतीय न्यास अधिनियम, 1882 के अधीन शासकीय न्यासी द्वारा, या उसके विरुद्ध, संस्थित कार्यवाहियों के बारे में, उन राज्यक्षेत्रों में सर्वत्र सक्षम न्यायालय होगा जिनके संबंध में वह न्यायालय सिविल अपीली अधिकारिता का प्रयोग करता है :

परन्तु इस धारा की किसी बात का यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि वह किसी जिला न्यायालय की अधिकारिता को प्रभावित करती है।]

भाग 2

शासकीय न्यासी का पद

4. शासकीय न्यासी – ⁷[(1) ⁸[सरकार प्रत्येक राज्य के लिए एक शासकीय न्यासी नियुक्त करेगी] :

¹ 1 अप्रैल, 1914, देखिए अधिसूचना सं. 1801-सी, तारीख 13 मार्च, 1914 भारत का राजपत्र (अंग्रेजी), 1914, भाग 1, पृष्ठ 365।

² भारत शासन (भारतीय विधि अनुकूलन) आदेश, 1937 द्वारा “सपरीषद् गवर्नर जनरल” के स्थान पर प्रतिस्थापित।

³ विधि अनुकूलन आदेश, 1937 द्वारा “भारत का राजपत्र” के स्थान पर प्रतिस्थापित।

⁴ विधि अनुकूलन (सं. 2) आदेश, 1956 द्वारा पूर्ववर्ती धारा के स्थान पर प्रतिस्थापित।

⁵ 1964 के अधिनियम सं. 48 की धारा 3 द्वारा खंड (2) का लोप किया गया।

⁶ 1964 के अधिनियम सं. 48 की धारा 4 द्वारा अंतःस्थापित, विधि अनुकूलन (सं. 2) आदेश, 1956 द्वारा पूर्ववर्ती धारा 3 निरसित की गई।

⁷ भारत शासन (भारतीय विधि अनुकूलन) आदेश, 1937 द्वारा मूल उपधारा के स्थान पर प्रतिस्थापित।

⁸ विधि अनुकूलन (सं. 2) आदेश, 1956 द्वारा प्रथम पैरा के स्थान पर प्रतिस्थापित।

परन्तु इसमें अंतर्विष्ट कोई भी बात, दो या अधिक ¹[राज्यों] के लिए शासकीय न्यासी के रूप में एक ही व्यक्ति की नियुक्ति का वर्जन करने वाली नहीं समझी जाएगी ।]

²[(2) कोई व्यक्ति शासकीय न्यासी के पद पर नियुक्त नहीं किया जाएगा, जब तक कि वह कम से कम -

(क) सात वर्ष तक, अधिवक्ता ; अथवा

(ख) सात वर्ष तक, किसी उच्च न्यायालय का अटर्नी ; अथवा

(ग) दस वर्ष तक, किसी राज्य की न्यायिक सेवा का सदस्य ; अथवा

(घ) पांच वर्ष तक, कोई उप शासकीय न्यासी,

न रहा हो ।]

³*

*

*

5. उप शासकीय न्यासी की नियुक्ति और शक्तियां - ⁴[(1)] सरकार शासकीय न्यासी की सहायता के लिए किसी उप शासकीय न्यासी या न्यासियों की नियुक्ति कर सकेगी; तथा इस प्रकार नियुक्त उप शासकीय न्यासी ; सरकार के नियंत्रण और शासकीय न्यासी के साधारण या विशेष आदेशों की नियुक्ति के अधीन रहते हुए, शासकीय न्यासी के किन्हीं कर्तव्यों के निर्वहन और किन्हीं शक्तियों के प्रयोग के लिए सक्षम होगा, और ऐसे कर्तव्यों का निर्वहन या ऐसी शक्तियों का प्रयोग करते समय उसे वही विशेषाधिकार होंगे और वह उन्हीं दायित्वों के अधीन होगा जो विशेषाधिकार शासकीय न्यासी के होते हैं या जिन दायित्वों के अधीन शासकीय न्यासी रहता है ।

⁵[(2) कोई व्यक्ति उप शासकीय न्यासी तब तक नियुक्त नहीं किया जाएगा, जब तक कि वह कम से कम तीन वर्ष तक -

(क) अधिवक्ता ; अथवा

¹ विधि अनुकूलन आदेश, 1950 द्वारा “डिवीजनों” के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

² 1964 के अधिनियम सं. 48 की धारा 5 द्वारा उपधारा (2) के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

³ भारत शासन (भारतीय विधि अनुकूलन) आदेश, 1937 द्वारा उपधारा (3) का लोप किया गया ।

⁴ 1964 के अधिनियम सं. 48 की धारा 6 द्वारा धारा 5 उस धारा की उपधारा (1) के रूप में पुनःसंख्यांकित की गई ।

⁵ 1964 के अधिनियम सं. 48 की धारा 6 द्वारा अंतःस्थापित ।

(ख) किसी उच्च न्यायालय का अटर्नी ; अथवा

(ग) किसी राज्य सरकार की न्यायिक सेवा का सदस्य, न रहा हो ।]

6. शासकीय न्यासी का एकल निगम होना, उसका शाश्वत उत्तराधिकार और उसकी शासकीय मुद्रा का होना, तथा उसका अपने निगमित नाम से वाद लाना और उसके विरुद्ध वाद लाया जाना – शासकीय न्यासी उस ¹[राज्य] के, जिसके लिए उसे नियुक्त किया गया है, शासकीय न्यासी के नाम से एक एकल निगम होगा और ऐसे शासकीय न्यासी के रूप में उसे शाश्वत उत्तराधिकार होगा और उसकी शासकीय मुद्रा होगी और वह अपने निगमित नाम से वाद ला सकेगा और उसके विरुद्ध वाद लाया जा सकेगा ।

भाग 3

शासकीय न्यासी के अधिकार, शक्तियां, कर्तव्य और दायित्व

7. शासकीय न्यासी की साधारण शक्तियां और कर्तव्य – (1) इस अधिनियम तथा उसके अधीन बनाए गए नियमों के अधीन रहते हुए, और उनके अनुसार, शासकीय न्यासी, यदि वह ठीक समझे तो, –

(क) साधारण न्यासी के रूप में कार्य कर सकेगा ;

(ख) सक्षम अधिकारिता वाले न्यायालय द्वारा न्यासी नियुक्त किया जा सकेगा ।

(2) जैसा इसमें इसके पश्चात् अभिव्यक्त रूप से उपबंधित है उसके सिवाय, शासकीय न्यासी की शक्तियां, कर्तव्य और दायित्व वही होंगे और वह उन्हीं अधिकारों और विशेषाधिकारों का हकदार होगा तथा न्यायालय के वैसे ही नियंत्रण और आदेशों के अधीन होगा जैसे कि उसी हैसियत में कार्य करने वाला कोई अन्य न्यासी होता है ।

(3) शासकीय न्यासी किसी न्यास को या तो बिल्कुल ही या ऐसी शर्तों के बिना स्वीकार करने से इनकार कर सकेगा जिन्हें वह अधिरोपित करे ।

(4) शासकीय न्यासी न तो लेनदारों के फायदे के लिए किसी समझौते या ठहराव की स्कीम के अधीन किसी न्यास को स्वीकार करेगा

¹ विधि अनुकूलन आदेश, 1950 द्वारा “डिवीजन” के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

और न किसी ऐसी सम्पदा का न्यास स्वीकार करेगा, जिसका दिवालिया होना वह जानता है या जिसके दिवालिया होने का उसे विश्वास है ।

(5) शासकीय न्यासी, इस अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों में जैसा उपबंधित है उसके सिवाय, किसी धार्मिक प्रयोजन के लिए किसी न्यास को या किसी ऐसे न्यास को स्वीकार नहीं करेगा जिसमें किसी कारबार का प्रबंध या चलाया जाना अंतर्वलित है ।

(6) शासकीय न्यासी किसी मृत व्यक्ति की संपदा का प्रबंध तब तक नहीं करेगा, जब तक कि वह अभिव्यक्त रूप से उस व्यक्ति के विल का एकमात्र निष्पादक और उस विल के अधीन एकमात्र न्यासी नियुक्त न किया गया हो ।

(7) शासकीय न्यासी सदैव एकमात्र न्यासी होगा तथा शासकीय न्यासी को किसी अन्य व्यक्ति के साथ न्यासी नियुक्त करना विधिपूर्ण नहीं होगा ।

8. शासकीय न्यासी को, सहमति से, अनुदानकर्ता द्वारा व्यवस्थापन का न्यासी नियुक्त किया जा सकेगा – (1) कोई व्यक्ति, जो किसी ऐसे न्यास से, भिन्न कोई न्यास सृजित करने का आशय रखता है, जिसे शासकीय न्यासी इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन स्वीकार करने से प्रतिषिद्ध है, न्यास सृजन करने वाली लिखत द्वारा और शासकीय न्यासी की सहमति से, उसे उस नाम से या किसी अन्य पर्याप्त वर्णन से उस सम्पत्ति का न्यासी नियुक्त कर सकेगा, जो ऐसे न्यास के अधीन आती हो :

परन्तु उस लिखत में शासकीय न्यासी की सहमति का उल्लेख किया जाएगा और वह लिखत शासकीय न्यासी द्वारा सम्यक् रूप से निष्पादित की जाएगी ।

(2) ऐसी नियुक्ति हो जाने पर, न्यास के अंतर्गत आने वाली सम्पत्ति ऐसे शासकीय न्यासी में निहित होगी और वह न्यासी उस सम्पत्ति को ऐसी लिखत में घोषित न्यासों के आधार पर धारण करेगा ।

9. शासकीय न्यासी की विल द्वारा न्यासी के रूप में नियुक्ति – जब शासकीय न्यासी को, उस नाम से या किसी अन्य पर्याप्त वर्णन से, किसी

विल के अधीन न्यासी नियुक्त किया गया है तब ¹[वसीयतकर्ता] के विल का निष्पादक या उसकी सम्पत्ति का प्रशासक, प्रोबेट या प्रशासनपत्र प्राप्त करने के पश्चात् ऐसे विल की विषयवस्तु ऐसे शासकीय न्यासी को विहित रूप में अधिसूचित करेगा ; और, यदि ऐसा शासकीय न्यासी न्यास को स्वीकार करने की सहमति दे देता है तो, न्यास के अधीन सम्पत्ति शासकीय न्यासी को अंतरित करने वाली लिखत, ऐसे निष्पादक या प्रशासक द्वारा लिखित रूप में निष्पादित कर देने पर, वह सम्पत्ति उस शासकीय न्यासी में निहित हो जाएगी, और वह न्यासी उक्त विल में अभिव्यक्त न्यासों के आधार पर उसे धारण करेगा :

परन्तु उस लिखत में शासकीय न्यासी की सहमति का उल्लेख किया जाएगा और वह लिखत शासकीय न्यासी द्वारा सम्यक् रूप से निष्पादित की जाएगी ।

10. शासकीय न्यासी को सम्पत्ति का न्यासी नियुक्त करने की उच्च न्यायालय की शक्ति – (1) यदि कोई सम्पत्ति, ऐसे न्यास से भिन्न न्यास के अधीन आती है, जिसे शासकीय न्यासी इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन स्वीकार करने से प्रतिषिद्ध है, और उच्च न्यायालय की मामूली या गैर मामूली आरम्भिक सिविल अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के अन्दर कोई न्यासी, न्यास में कार्य करने का इच्छुक नहीं है या उसके लिए समर्थ नहीं है तो उच्च न्यायालय, आवेदन किए जाने पर, शासकीय न्यासी की, उस नाम से और उसकी सहमति से, सम्पत्ति के न्यासी के रूप में नियुक्ति का आदेश कर सकेगा ।

(2) ऐसे आदेश पर वह सम्पत्ति शासकीय न्यासी में निहित हो जाएगी, और वह उन्हीं न्यासों के आधार पर उसे धारण करेगा जिन पर वह उस आदेश के पहले धृत थी, तथा पूर्ववर्ती न्यासी या न्यासियों (यदि कोई हो) को ऐसी सम्पत्ति को न्यासियों के रूप में उसके या उनके दायित्व से, सिवाय उन कार्यों की बाबत उनके दायित्व जो उस आदेश की तारीख से पहले लिए गए थे, छूट प्राप्त होगी ।

(3) इस धारा की किसी भी बात से यह नहीं समझा जाएगा कि वह

¹ 1919 के अधिनियम सं. 18 की धारा 2 और अनुसूची 1 द्वारा “ऐसे वसीयतकर्ता” के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

^{1***} भारतीय न्यास अधिनियम, 1882 (1882 का 2) के उपबंधों पर प्रभाव डालती है ।

11. शासकीय न्यासियों को सम्पत्ति का न्यासी नियुक्त करने की प्राइवेट न्यासियों की शक्ति – (1) यदि कोई सम्पत्ति, ऐसे न्यास से भिन्न किसी न्यास के अधीन आती है, जिसे शासकीय न्यासी इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन स्वीकार करने से प्रतिषिद्ध है, और सभी न्यासी, अथवा उत्तरजीवी, या बने रहे न्यासी, तथा वे सभी व्यक्ति, जो फायदा प्राप्त करने के लिए न्यास में हितबद्ध हैं, यह चाहते हैं कि शासकीय न्यासी को ऐसे न्यासी या न्यासियों के स्थान पर नियुक्त किया जाए तो ऐसे न्यासी या न्यासियों के लिए शासकीय न्यासी को, उस नाम से या किसी अन्य पर्याप्त वर्णन से, उसकी सहमति से, लिखत द्वारा उस सम्पत्ति का न्यासी नियुक्त करना विधिपूर्ण होगा :

परन्तु उस लिखत में शासकीय न्यासी की सहमति का उल्लेख किया जाएगा और वह लिखत शासकीय न्यासी द्वारा सम्यक् रूप से निष्पादित की जाएगी ।

(2) ऐसी नियुक्ति पर वह सम्पत्ति शासकीय न्यासी में निहित हो जाएगी और वह उसे उन्हीं न्यासों के आधार पर धारण करेगा जिन पर वह उस आदेश के पहले धृत थी, तथा पूर्ववर्ती न्यासी या न्यासियों को उस सम्पत्ति के न्यासियों के रूप में उसके या उनके दायित्व से, सिवाय उन कार्यों की बाबत उनके दायित्व से जो उस आदेश की तारीख से पहले किए गए थे, छूट प्राप्त होगी ।

12. निष्पादक या प्रशासक, शासकीय न्यासी को अवयस्क या पागल की वसीयत-संपदा, अंश, आदि का संदाय कर सकेगा – (1) यदि कोई ²[अवयस्क] या पागल किसी मृत व्यक्ति की आस्तियों के किसी दान, वसीयत-संपदा, या अंश का हकदार है तो उस व्यक्ति के लिए, जिसके द्वारा ऐसा दान किया गया है, अथवा निष्पादक या प्रशासक के लिए, जिसके द्वारा ऐसी वसीयत संपदा, या अंश संदेय या अंतरणीय है, या ऐसे दान, वसीयत-संपदा, या अंश के किसी न्यासी के लिए, उसे लिखत द्वारा

¹ 1964 के अधिनियम सं. 48 की धारा 7 द्वारा “दि ट्रस्टीज एण्ड मार्टगेजीज़ पावर्स ऐक्ट, 1866 या” शब्दों का लोप किया गया ।

² 1964 के अधिनियम सं. 48 की धारा 8 द्वारा “शिशु” के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

शासकीय न्यासी को, उस नाम से या किसी अन्य पर्याप्त वर्णन से, उसकी सहमति से, अंतरित करना विधिपूर्ण होगा :

परन्तु उस लिखत में शासकीय न्यासी की सहमति का उल्लेख किया जाएगा और वह लिखत शासकीय न्यासी द्वारा सम्यक् रूप से निष्पादित की जाएगी ।

(2) इस धारा के अधीन शासकीय न्यासी को अन्तरित कोई धन या सम्पत्ति उसमें निहित होगी और उन्हीं उपबन्धों के अधीन होगी जो ऐसे शासकीय न्यासी में निहित अन्य सम्पत्ति के बारे में इस अधिनियम में अन्तर्विष्ट है ।

13. शासकीय न्यासी से बन्धपत्र या प्रतिभूति देने की अपेक्षा नहीं की जाएगी – (1) किसी शासकीय न्यासी से, किसी न्यायालय द्वारा यह अपेक्षा नहीं की जाएगी कि वह अपनी नियुक्ति पर इस अधिनियम के अधीन किसी भी हैसियत में कोई बन्धपत्र या कोई प्रतिभूति दे ।

(2) किसी शासकीय न्यासी ¹*** से इस अधिनियम के उपबन्धों के अधीन उसके द्वारा प्रस्तुत किसी याचिका को, अपने हस्ताक्षर के अतिरिक्त किसी अन्य रूप में सत्यापित करने की अपेक्षा नहीं की जाएगी, और यदि उसे ऐसी याचिका में दिए गए तथ्यों की ²[निजी जानकारी] नहीं है तो याचिका किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा सत्यापित और हस्ताक्षरित की जा सकेगी जो सत्यापन करने के लिए सक्षम है ।

14. शासकीय न्यासी की प्रविष्टि का न्यास की सूचना न समझा जाना – किसी कम्पनी की पुस्तकों में शासकीय न्यासी की उस नाम से प्रविष्टि, न्यास की सूचना नहीं समझी जाएगी ; तथा कोई कम्पनी अपने रजिस्टर में शासकीय न्यासी का नाम दर्ज करने के संबंध में आक्षेप करने के लिए केवल इसी कारण हकदार नहीं होगी कि शासकीय न्यासी एक निगम है ; तथा सम्पत्ति के सम्बन्ध में कार्यवाही करने में, यह तथ्य, कि जिस व्यक्ति के सम्बन्ध में कार्यवाही की गई है वह शासकीय न्यासी है, अपने आप में न्यास की सूचना नहीं समझी जाएगी ।

¹ 1964 के अधिनियम सं. 48 की धारा 9 द्वारा “अथवा उप शासकीय न्यासी” शब्दों का लोप किया गया ।

² 1964 के अधिनियम सं. 48 की धारा 9 द्वारा “शासकीय न्यासी को वैयक्तिक ज्ञान” के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

15. सरकार का दायित्व – (1) ^{1***} सरकार ^{2***} उन सभी धनराशियों को पूरा करने के लिए दायी होगी जो किसी ऐसे दायित्व का उन्मोचन करने के लिए अपेक्षित है, जिन्हें शासकीय न्यासी यदि वह प्राइवेट न्यासी होता तो, उन्मोचित करने के लिए व्यक्तिगत रूप से दायी होता। किन्तु जब दायित्व ऐसा है जिसके लिए न तो शासकीय न्यासी ने और न उसके अधिकारियों में से किसी ने, किसी प्रकार योगदान किया है, या जिसे न तो वह और न उसके अधिकारियों में से ही कोई व्यक्ति युक्तित्व तत्परता का प्रयोग करके बचा सकता था, तब न तो शासकीय न्यासी और न ³[सरकार] किसी दायित्व के अधीन होगी।

(2) उपधारा (1) की कोई बात ³[सरकार] या इस अधिनियम के अधीन नियुक्त किए गए किसी शासकीय न्यासी को, किसी ऐसी बात के लिए दायित्वाधीन करने वाली नहीं समझी जाएगी जो इस अधिनियम के प्रारम्भ से पूर्व, किसी शासकीय न्यासी के प्राधिकार से या उसके अधीन की गई है।

16. कुछ दशाओं में वाद की सूचना का अपेक्षित न होना – सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 5) की धारा 80 की कोई बात, शासकीय न्यासी के विरुद्ध किसी ऐसे वाद को लागू न होगी जिसमें उसके विरुद्ध वैयक्तिक रूप से किसी अनुतोष का दावा नहीं किया गया है।

भाग 4

फीस

17. फीस – (1) शासकीय न्यासी के कर्तव्यों की बाबत, प्रतिशत के रूप में या अन्यथा, ऐसी फीस प्रभारित की जाएगी जो सरकार विहित करे।

⁴*

*

*

*

(2) इस धारा के अधीन विभिन्न सम्पत्तियों या विभिन्न वर्गों की सम्पत्तियों के लिए, या विभिन्न कर्तव्यों के लिए फीस भिन्न-भिन्न दरों के

¹ 1922 के अधिनियम सं. 21 की धारा 3 द्वारा “भारत” शब्दों का लोप किया गया।

² 1964 के अधिनियम सं. 48 की धारा 10 द्वारा “के राजस्व” शब्दों का लोप किया गया।

³ “भारत सरकार के राजस्व” शब्द 1922 के अधिनियम सं. 21 की धारा 3 और तत्पश्चात् भारत शासन (भारतीय विधि अनुकूलन) आदेश, 1937 और 1964 के अधिनियम सं. 48 की धारा 10 द्वारा प्रतिस्थापित होकर उपरोक्त रूप में आए।

⁴ 1964 के अधिनियम सं. 48 की धारा 11 द्वारा परन्तुक का लोप किया गया।

अनुसार हो सकेगी, तथा यथाशक्य उसकी व्यवस्था इस प्रकार की जाएगी कि उससे वेतन और इस अधिनियम के कार्यकरण से आनुषंगिक अन्य सभी व्यय करने के लिए पर्याप्त रकम आ जाए (इस व्यय के अन्तर्गत ऐसी धनराशि भी है जिसे सरकार इस अधिनियम के अधीन हानि के लिए ¹*** सरकार ²*** का बीमा कराने के लिए अवधारित करे) ।

18. फीस का व्ययन – (1) यदि शासकीय न्यासी प्राइवेट न्यासी है तो, वे सभी व्यय, जो न्यास विधि में से रोक रखे या संदाय किए जा सकते हैं, इस प्रकार रोकें रखे जाएंगे या संदाय किए जाएंगे, और इस अधिनियम के अधीन उद्ग्रहणीय कोई भी फीस, ऐसे व्ययों के रूप में और ऐसे व्ययों के अतिरिक्त उसी प्रकार से रोकें रखी जाएगी या संदाय की जाएगी ।

(2) शासकीय न्यासी वह समस्त फीस, जो उसे इस अधिनियम के अधीन प्राप्त हुई है, ऐसे प्राधिकारी को, ऐसी रीति से तथा ऐसे समय पर, जो सरकार विहित करे, अन्तरित करेगा और संदाय करेगा और वह फीस ² *** सरकार के लेखे तथा जमा खाते डाली जाएगी ।

भाग 5

लेखापरीक्षा

19. शासकीय न्यासी के लेखाओं आदि की परीक्षा करने और सरकार को रिपोर्ट देने के लिए लेखापरीक्षकों का नियुक्त किया जाना –

(1) शासकीय न्यासी के लेखाओं की परीक्षा प्रतिवर्ष कम से कम एक बार तथा किसी अन्य समय पर, यदि सरकार वैसा निर्देश दे तो, विहित व्यक्ति द्वारा और विहित रीति से की जाएगी ।

(2) लेखापरीक्षक ऐसे लेखाओं की परीक्षा करेगा, और उसका विहित प्ररूप में विवरण, उसके बारे में रिपोर्ट और अपने द्वारा हस्ताक्षरित एक ऐसा प्रमाणपत्र सरकार को भेजेगा, जिसमें यह उल्लिखित होगा कि, –

³[(क) क्या लेखाओं की परीक्षा विहित रीति से की गई है और क्या, जहां तक ऐसी लेखापरीक्षा से अभिनिश्चित किया जा सकता है, लेखाओं में ऐसी प्रत्येक बात का, जो उसमें होनी चाहिए, पूरा और सही वृत्तांत है ;]

¹ 1922 के अधिनियम सं. 21 की धारा 4 द्वारा “भारत की” शब्दों का लोप किया गया ।

² 1964 के अधिनियम सं. 48 की धारा 11 द्वारा “राजस्व की आय” शब्दों का लोप किया गया ।

³ 1964 के अधिनियम सं. 48 की धारा 12 द्वारा खंड (क) के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

(ख) क्या वे बहियां, जिनके बारे में इस अधिनियम के अधीन बनाए गए किन्हीं नियमों में यह निदेश है कि वे शासकीय न्यासी द्वारा रखी जाएं, सम्यक् रूप से और नियमित रूप से रखी गई है ; तथा

(ग) क्या इस अधिनियम या तद्धीन बनाए गए किन्हीं नियमों द्वारा विहित रीति से न्यास-निधियां और प्रतिभूतियां सम्यक् रूप से रखी गई हैं और विनिहित और जमा की गई हैं,

या उन बातों के सम्बन्ध में, जो उस प्रमाणपत्र में विनिर्दिष्ट की जाएं (यथास्थिति), उन लेखाओं में कोई कमी है, या शासकीय न्यासी इस अधिनियम या तद्धीन बनाए गए नियमों का अनुपालन करने में असफल रहा है ।

20. साक्षियों को समन करने और दस्तावेजों को मंगवाने की लेखापरीक्षक की शक्ति - (1) प्रत्येक लेखापरीक्षक की, -

(क) किसी ऐसे व्यक्ति को समन करने की, जिसकी उपस्थिति वह समय-समय पर अपने समक्ष उपस्थित होने के लिए आवश्यक समझे, तथा

(ख) अपने द्वारा दिलाई गई शपथ पर किसी व्यक्ति की परीक्षा करने की, तथा

(ग) किसी व्यक्ति की परिप्रश्नों पर या अन्यथा, परीक्षा करने के लिए कमीशन निकालने की, तथा

(घ) किसी व्यक्ति को कोई ऐसी दस्तावेज या वस्तु पेश करने के लिए समन करने की, जिसका पेश किया जाना ऐसी लेखापरीक्षा या परीक्षा के प्रयोजनों के लिए आवश्यक प्रतीत होता है,

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 5) के अधीन की सिविल न्यायालय की शक्तियां होंगी ।

(2) कोई व्यक्ति, जो समन किए जाने पर, हाजिर होने से या कोई दस्तावेज या वस्तु पेश करने से इनकार करता है या उचित कारण के बिना उसकी उपेक्षा करता है, अथवा उपस्थित तो होता है किन्तु शपथ लेने से, अथवा परीक्षा कराने से इनकार करता है, भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) की धारा 188 के अर्थ में, और उसके अधीन दंडनीय अपराध करने वाला समझा जाएगा और लेखापरीक्षक ऐसे इनकार या उपेक्षा के प्रत्येक मामले की रिपोर्ट सरकार को देगा ।

21. लेखापरीक्षक के खर्चों, आदि का संदाय कैसे किया जाएगा – प्रत्येक ऐसी लेखापरीक्षा और परीक्षा का, और उससे आनुषंगिक, खर्च सरकार द्वारा बनाए गए नियमों के अनुसार, अवधारित किया जाएगा और उसे विहित रीति से चुकाया जाएगा ।

22. लेखाओं का निरीक्षण करने और उनकी प्रतियां प्राप्त करने का हिताधिकारी का अधिकार – ऐसे न्यास के अधीन, जो शासकीय न्यासी द्वारा प्रशासित किया जा रहा है, प्रत्येक हिताधिकारी, ऐसी शर्तों और निर्बन्धनों के अधीन रहते हुए, जो विहित की जाएं, सभी उचित समयों पर, ऐसे न्यास के लेखाओं का और लेखापरीक्षक की रिपोर्ट तथा प्रमाणपत्र का निरीक्षण करने, तथा विहित फीस देने पर उनकी प्रतियां या उनमें से उद्धरण प्राप्त करने का हकदार होगा, तथा भारतीय न्यास अधिनियम, 1882 (1882 का 2) की कोई बात इस धारा के उपबंधों को प्रभावित नहीं करेगी ।

भाग 6

प्रकीर्ण

23. शासकीय न्यासी के पास एकत्र धन का सरकार को अन्तरण – जब किसी न्यास के अधीन किसी हिताधिकारी को संदेय कोई धन, इस अधिनियम के प्रारम्भ के पहले की या बाद की बारह वर्ष या उससे अधिक की अवधि तक शासकीय न्यासी के पास इस कारण चला आ रहा हो कि शासकीय न्यासी उस धन को प्राप्त करने के हकदार व्यक्ति का पता लगाने में असमर्थ रहा है तथा वह धन ^{1***} सरकार के लेखे और जमा खाते में विहित रीति से अन्तरित कर दिया जाएगा :

परन्तु यदि किसी न्यायालय में ऐसे धन के बारे में कोई वाद या कार्यवाही लम्बित है तो वह धन इस प्रकार अन्तरित नहीं किया जाएगा ।

24. ऐसे अन्तरित धन को वसूल करने के लिए दावेदार द्वारा कार्यवाही करने का ढंग – (1) यदि इस प्रकार अन्तरित किसी धन की बाबत कोई दावा किया जाता है और ऐसा दावा विहित प्राधिकारी को समाधानप्रद रूप में सिद्ध कर दिया जाता है, तो ^{1***} सरकार दावेदार को उस रकम का संदाय करेगी जिसके बारे में दावा सिद्ध कर दिया गया है ।

¹ 1922 के अधिनियम सं. 21 की धारा 4 द्वारा “भारत” शब्द का लोप किया गया ।

(2) यदि ऐसा दावा विहित प्राधिकारी को समाधानप्रद रूप में सिद्ध नहीं किया गया है तो दावेदार ऐसे धन की वसूली के लिए कोई अन्य कार्यवाहियां करने के अपने अधिकार पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, उच्च न्यायालय से ¹[सरकार] के विरुद्ध, याचिका देकर आवेदन कर सकेगा तथा ऐसा साक्ष्य लेने के पश्चात् जिसे वह ठीक समझे, वह न्यायालय याचिका पर ऐसे धन के संदाय के बारे में ऐसे आदेश पारित करेगा, जो वह ठीक समझे और ऐसा आदेश कार्यवाहियों के सभी पक्षकारों पर आबद्धकर होगा।

2*

*

*

*

(3) न्यायालय यह निदेश भी दे सकेगा कि ऐसी कार्यवाहियों के सभी खर्च या उसके किसी भाग का संदाय कौन करेगा।

25. शासकीय न्यासी में निहित सम्पत्ति की बाबत आदेश देने की उच्च न्यायालय की शक्ति – उच्च न्यायालय शासकीय न्यासी में निहित किसी न्यास सम्पत्ति या ³[उसकी आय] या उपज के बारे में ऐसे आदेश दे सकेगा जो वह ठीक समझे।

26. अधिनियम के अधीन आदेश के लिए कौन आवेदन कर सकेगा – इस अधिनियम के अधीन कोई आदेश, किसी न्यास संपत्ति में हिताधिकारी के रूप में हितबद्ध किसी व्यक्ति अथवा उस सम्पत्ति के किसी न्यासी के आवेदन पर किया जा सकेगा।

27. न्यायालय के आदेश का डिक्री के रूप में प्रभावी होना – उच्च न्यायालय द्वारा इस अधिनियम के अधीन दिए गए किसी आदेश का वही प्रभाव होगा जो किसी डिक्री का होता है।

28. प्रशासन की साधारण शक्ति – शासकीय न्यासी, व्यय करने की अपने द्वारा विधिपूर्णतया प्रयोग की जा सकने वाली किन्हीं अन्य शक्तियों के अतिरिक्त, न कि उनके अल्पीकरण में –

(क) ऐसे कार्यों पर, जो उसके द्वारा प्रशासित किसी न्यास की किसी सम्पत्ति की उचित देख-रेख और प्रबंध के लिए आवश्यक हों,

¹ भारत शासन (भारतीय विधि अनुकूलन) आदेश, 1937 द्वारा “सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इंडिया इन कौंसिल” शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित।

² विधि अनुकूलन आदेश, 1950 द्वारा परन्तुक का लोप किया गया।

³ 1964 के अधिनियम सं. 48 की धारा 13 द्वारा “उसके हित” के स्थान पर प्रतिस्थापित।

और

(ख) ऐसे धार्मिक, पूर्व या अन्य उद्देश्यों और ऐसे सुधारों पर, जो ऐसी सम्पत्ति की दशा में युक्तियुक्त और उचित हों, उच्च न्यायालय की मंजूरी से,

व्यय उपगत कर सकेगा ।

29. शासकीय न्यासी द्वारा न्यास सम्पत्ति का, मूल न्यासी या किसी अन्य न्यासी को अंतरण – (1) इस अधिनियम की किसी बात से यह नहीं समझा जाएगा कि वह शासकीय न्यासी में निहित किसी सम्पत्ति का उसके द्वारा –

(क) मूल न्यासी को (यदि कोई हो) ; अथवा

(ख) वैध रूप से नियुक्त किसी अन्य न्यासी को ; अथवा

(ग) किसी अन्य व्यक्ति को, यदि न्यायालय वैसा निदेश करे तो,

अंतरण रोकती है ।

(2) ऐसे अंतरण पर, वह सम्पत्ति उस न्यासी में निहित होगी और उसके द्वारा उन्हीं न्यासों पर धारण की जाएगी जिन पर वह ऐसे अंतरण के पहले धारण की गई थी, और शासकीय न्यासी को, ऐसे अंतरण से पहले किए गए कार्यों के बारे में दायित्वों के सिवाय, उस सम्पत्ति के न्यासी के रूप में सभी दायित्वों से छूट प्राप्त होगी :

परन्तु इस धारा के अधीन किसी अन्तरण की दशा में, शासकीय न्यासी की उस सम्पत्ति में से इस अधिनियम के उपबन्धों के अनुसार उद्ग्रहणीय फीस रोक रखने का हक होगा ।

30. नियम – (1) सरकार, इस अधिनियम के उद्देश्यों को कार्यान्वित करने के लिए और शासकीय न्यासी के कर्तव्यों के निर्वहन में उसकी कार्यवाहियों को विनियमित करने के लिए नियम बनाएगी ।

(2) विशिष्टतया और पूर्वगामी शक्ति की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, ऐसे नियम निम्नलिखित के लिए उपबन्ध कर सकेंगे –

(क) शासकीय न्यासी द्वारा रखे जाने वाला लेखा और उसकी लेखापरीक्षा और निरीक्षण ;

(ख) जो निधियां और प्रतिभूतियां शासकीय न्यासी के हाथ में

आती हैं उनकी निरापद अभिरक्षा और उनका जमा किया जाना ;

(ग) जिन दशाओं में शासकीय न्यासी के पास की धनराशियों का प्रेषण अपेक्षित है उनमें उन धनराशियों का प्रेषण ;

(घ) शासकीय न्यासी द्वारा सरकार को या किसी अन्य प्राधिकारी को प्रस्तुत किए जाने वाले विवरण, अनुसूचियां तथा अन्य दस्तावेजों और ऐसे विवरणों, अनुसूचियों या अन्य दस्तावेजों का प्रकाशन ;

(ङ) ऐसे किन्हीं विवरणों, अनुसूचियों या दस्तावेजों के तैयार करने में हुए खर्च की वसूली ;

¹*

*

*

*

(च) इस अधिनियम के उपबन्धों के अधीन रहते हुए ऐसी फीस जो उसके अधीन दी जानी है, और ऐसे नियत की गई फीस का संग्रहण और लेखा देना ;

(छ) वह रीति, जिससे और वह व्यक्ति, जिसके द्वारा इस अधिनियम के उपबन्धों के अधीन किसी लेखापरीक्षा के, और उससे आनुषंगिक खर्च अवधारित किए और चुकाए जाने हैं ;

(ज) वह रीति, जिससे धारा 20 के उपबन्धों के अधीन जारी किए गए समनों की तामील की जानी है, और उन व्यक्तियों के, जिन्हें इस अधिनियम के उपबन्धों के अधीन समन किया गया है या जिनकी परीक्षा की गई है, व्ययों का और ऐसी परीक्षा से आनुषंगिक किसी व्यय का दिया जाना ;

(झ) धार्मिक प्रयोजनों के लिए न्यासों का और उन न्यासों का, जिनमें कारबार का प्रबन्ध चलाया जाना अन्तर्वलित है, शासकीय न्यासी द्वारा स्वीकार किया जाना ; तथा

(ञ) इस अधिनियम का कोई अन्य विषय जिसके विहित किए जाने का निदेश दिया गया है ।

(3) इस धारा के उपबन्धों के अधीन बनाए गए नियम, राजपत्र में

¹ 1917 के अधिनियम सं. 5 की धारा 6 और अनुसूची द्वारा खंड (ड्ड) का निरसन किया गया ।

प्रकाशित किए जाएंगे और तब ऐसे प्रभावी होंगे मानो वे इस अधिनियम में अधिनियमित हों ।

¹[(3क) इस धारा के अधीन राज्य सरकार द्वारा बनाया गया प्रत्येक नियम, बनाए जाने पर यथाशीघ्र, राज्य विधान-मंडल के समक्ष रखा जाएगा ।]

²[(4) इस धारा के अधीन केन्द्रीय सरकार द्वारा बनाया गया प्रत्येक नियम, बनाए जाने के पश्चात् यथाशीघ्र, संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष, जब वह सत्र में हो, कुल तीस दिन की अवधि के लिए रखा जाएगा । ³[यह अवधि एक सत्र में अथवा दो या अधिक आनुक्रमिक सत्रों में पूरी हो सकेगी । यदि उस सत्र के या पूर्वोक्त आनुक्रमिक सत्रों के ठीक बाद के सत्र के अवसान के पूर्व] दोनों सदन उस नियम में कोई परिवर्तन करने के लिए सहमत हो जाएं तो तत्पश्चात् वह ऐसे परिवर्तित रूप में ही प्रभावी होगा । यदि उक्त अवसान के पूर्व दोनों सदन सहमत हो जाएं कि वह नियम नहीं बनाया जाना चाहिए तो तत्पश्चात् वह निष्प्रभाव हो जाएगा । किन्तु नियम के ऐसे परिवर्तित या निष्प्रभाव होने से उसके अधीन पहले की गई किसी बात की विधिमान्यता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा ।]

31. [प्रेसीडेन्सी का प्रान्तों में विभाजन] – भारत शासन (भारतीय विधि अनुकूलन) आदेश, 1937 द्वारा निरसित ।

32. भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 के उपबन्धों की व्यावृत्ति – इस अधिनियम में अन्तर्विष्ट किसी बात से यह नहीं समझा जाएगा कि वह भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 (1908 का 16) के उपबन्धों को प्रभावित करती है ।

⁴[32क. व्यावृत्ति – ⁵[(1)] इस अधिनियम के वे संशोधन, जो ⁶[जनवरी,

¹ 1983 के अधिनियम सं. 20 की धारा 2 और अनुसूची द्वारा (15-3-1984 से) अंतःस्थापित ।

² 1964 के अधिनियम सं. 48 की धारा 14 द्वारा अंतःस्थापित ।

³ 1983 के अधिनियम सं. 20 की धारा 2 और अनुसूची द्वारा (15-3-1984 से) प्रतिस्थापित ।

⁴ भारत शासन (भारतीय विधि अनुकूलन) आदेश, 1937 द्वारा अंतःस्थापित ।

⁵ विधि अनुकूलन आदेश, 1950 द्वारा उपधारा (1) के रूप में पुनःसंख्यांकित ।

⁶ विधि अनुकूलन आदेश, 1950 द्वारा “गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट, 1935 के भाग 3 के प्रारम्भ पर” के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

1950 के छब्बीसवें दिन] प्रवृत्त हुए हैं, उस तारीख को किसी न्यायालय में लंबित किन्हीं विधिक कार्यवाहियों को प्रभावित नहीं करेंगे, और न ही उनका यह अर्थ लगाया जाएगा कि वे किसी सम्पत्ति को एक शासकीय न्यासी से किसी अन्य शासकीय न्यासी को स्वतः अन्तरित करते हैं, किन्तु इस धारा की किसी बात का यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि वह, इस अधिनियम के अन्य उपबन्धों में से किसी उपबन्ध के अनुसार, ऐसी किसी सम्पत्ति के अन्तरण को रोकती है ।]

¹[(2) इस अधिनियम के वे संशोधन, जो जनवरी, 1950 के छब्बीसवें दिन प्रवृत्त हुए हैं, ऐसी किसी विधिक कार्यवाही को लागू नहीं होंगे जो किसी भाग ख राज्य के किसी व्यक्ति को इस अधिनियम के लागू होने से उद्भूत होती हो तथा उक्त तारीख को किसी न्यायालय में लंबित हो और न ही वे ऐसे किसी व्यक्ति कि किसी ऐसी सम्पत्ति या सम्पदा के, जो उस तारीख के ठीक पहले इस अधिनियम के अधीन किसी शासकीय न्यासी में निहित हो गई थी, प्रशासन को प्रभावित करेंगे, तथा इस अधिनियम के उपबन्ध, उक्त संशोधनों के होते हुए भी, यथास्थिति, ऐसी कार्यवाहियों अथवा ऐसी सम्पत्ति या सम्पदा के सम्बन्ध में, आवश्यक उपान्तरों सहित, लागू बने रहेंगे ।]

²[32ख. राज्यों के पुनर्गठन से प्रभावित कुछ शासकीय न्यासियों के बारे में विशेष उपबन्ध – इस अधिनियम के वे संशोधन, जो 1 नवम्बर, 1956 को प्रवृत्त हुए हैं, उस तारीख को किसी न्यायालय में लम्बित किसी विधिक कार्यवाही को प्रभावित नहीं करेंगे, और जहां राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 (1956 का 37) अथवा बिहार और पश्चिमी बंगाल (राज्यक्षेत्रों का अन्तरण) अधिनियम, 1956 (1956 का 40) के अधीन राज्यों के पुनर्गठन के कारण कोई सम्पूर्ण राज्य या उसका कोई भाग किसी अन्य राज्य को अन्तरित किया गया है वहां उस राज्य के राज्यक्षेत्र के ऐसे अन्तरण से यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि कोई सम्पत्ति शासकीय न्यासी से किसी अन्य शासकीय न्यासी को स्वतः अन्तरित हो गई है, किन्तु यदि राज्यक्षेत्र के ऐसे अन्तरण के कारण केन्द्रीय सरकार को यह प्रतीत होता है कि सम्पत्ति का सम्पूर्ण भाग या कोई भाग, जो किसी

¹ विधि अनुकूलन आदेश, 1950 द्वारा अंतःस्थापित ।

² विधि अनुकूलन (सं. 2) आदेश, 1956 द्वारा अंतःस्थापित ।

शासकीय न्यासी में निहित है, किसी अन्य शासकीय न्यासी में निहित होना चाहिए तो वह सरकार निदेश दे सकेगी कि वह सम्पत्ति उस प्रकार निहित हो और तब वह उस अन्य शासकीय न्यासी और उसके उत्तरवर्तियों में इस अधिनियम के प्रयोजनों के लिए ऐसे पूर्ण और प्रभावकारी रूप में निहित हो जाएगी मानो वह इस अधिनियम के अधीन उसमें मूलतः निहित हो गई थी ॥

33. [निरसित] – निरसन अधिनियम, 1927 (1927 का 12) की धारा 2 और अनुसूची द्वारा निरसित ।

अनुसूची – [निरसित अधिनियमितियां] – निरसन अधिनियम, 1927 (1927 का 12) की धारा 2 और अनुसूची द्वारा निरसित ।

प्रिवी कौंसिल

प्रिवी काँसिल

निर्णय सूची

	पृष्ठ संख्या
अली बेग (श्रीमती) और अन्य बनाम बद्र-उल-इस्लाम अली खां और अन्य	94
अहमद अंगुलिया बनाम एस्टेट एण्ड ट्रस्ट एजेंसीज (1927) लि. और अन्य	66
आर. षण्मुग राजेश्वर सेतुपति बनाम चिदम्बरम चेट्टियर और अन्य	23
कनाडियन श्रेडेड व्हीट कंपनी लि. बनाम कैलाग कंपनी ऑफ कनाडा लि. तथा अन्य	38
गायकवाड़ बड़ोदा स्टेट रेलवे बनाम हाफिज हबीबुलहक और अन्य	87
टी. आर. प्रैट (बाम्बे) लि. बनाम एम. टी. लि.	70
ठाकुर गया बरखा सिंह (मृतक अब रानी कुंवर और एक अन्य द्वारा) तथा अन्य बनाम देव सिंह और अन्य	12
नत्थू लाल बनाम कलेक्टर, बदायूं	91
निपन यूसेन कैशग बनाम राम जीवन सरावगी	74
बाबू लाल चौखनी बनाम सम्राट	53
मारटिन केशीन और अन्य बनाम पीटर जे. केशीन	1
मोहम्मद हबीबुल हक तथा अन्य बनाम सेठ टीकम चंद	6
राजा बहादुर धनराजगेरजी बनाम राजा पनुगंटी पार्थसारथी रायनियम वारू और अन्य	44
लाला करम चन्द और एक अन्य बनाम फर्म मियां मीर अहमद, अजीज अहमद और एक अन्य	35

मारटिन केशीन और अन्य.....अपीलार्थी

बनाम

पीटर जे. केशीन.....प्रत्यर्थी

(न्यूफाउण्डलैंड के उच्चतम न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ.
अपील सं. 16 सन् 1937)

निर्णीत : 13.1.1937

उपस्थित : जस्टिस लार्ड एटकिन्, लार्ड थैंकरटन, किलोवेन के. लार्ड रसेल, लार्ड राइट और लार्ड माघम

कौटुम्बिक समझौता — समझौता करने-कराने में न कोई बात छिपाई गई, न कोई धोखा दिया गया और न कोई दबाव डाला गया तो वह विधिमान्य होगा — वह इस कारण अविधिमान्य नहीं होगा कि किसी पक्षकार ने स्वयं अपनी स्थिति को गलत समझा या कोई पक्षकार कुछ घाटे में रहा ।

विलेख — जब कोई पढ़ा-लिखा समझदार व्यक्ति किसी विलेख पर हस्ताक्षर बिना पढ़े कर देता है यद्यपि उसे पढ़ने का पूरा अवसर था तो भी वह विलेख उस पर आबद्धकर होगा, सिवाय उस दशा के जब कि दूसरी ओर से कोई छल-कपट आदि किया गया हो ।

दान-वसीयत — जब दान अपूर्ण हो किंतु आदाता को ही वसीयत में निष्पादक नियुक्त कर दिया जाए तो उससे दान पूर्ण माना जाएगा ।

निर्णय-संक्षेप (सार)

जस्टिस लार्ड माघम — यह अपील न्यूफाउण्डलैंड के उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) के 8.1.1937 के निर्णय के विरुद्ध है । उन्होंने 8.9.1927 के एक करार को अपास्त कराने का वाद खारिज करने की डिक्री की पुष्टि की है । यह करार सर माइकिल पी. केशीन की सम्पदा के संबंध में है । उनका देहावसान 30.8.1926 को हुआ । उन्होंने एक पत्नी गर्टूड सी. केशीन, तीन वयस्क पुत्र लारेन्स बी. केशीन व मार्टिन केशीन (अपीलार्थीगण) और पीटर जे. केशीन (प्रत्यर्थी) तथा एक पुत्री मेरी फाक्स छोड़ी । उन्होंने 15.11.1925 को एक वसीयत भी की थी जिसका निष्पादक श्रीमती केशीन और लारेन्स केशीन को नियुक्त किया । वसीयत में उन्होंने अपने तीनों पुत्रों को 40-40 हजार डालर दिए और कुछ राशियां

पूर्त तथा अन्य खातों में दीं और अवशिष्ट अपनी विधवा को जीवनपर्यंत के लिए तथा उनके बाद तीनों पुत्रों को दिया। किंतु उनकी कुल संपदा का मूल्य 99,496 डालर आंका गया जिसमें से मृत्यु शुल्क भी अदा करना था। इस प्रकार वह वसीयत में दी गई राशियों की अदायगी के लिए अपर्याप्त थी और तीनों पुत्रों को केवल 20-20 हजार डालर मिल सकते थे। दूसरी ओर सर माइकिल ने 1924 में अपनी पत्नी को उपहार-स्वरूप अनेक राशियां दीं। इनमें कनाडा डोमिनियन के 5 प्रतिशत के 1943 के धारक बन्धपत्र भी थे, जो तीन लाख डालर के थे। प्रश्न उठा कि ये वह अपनी पत्नी को किस प्रकार दे सकते हैं। उन्होंने अपने दामाद सीरिल जे. फाक्स से भी, जो वकील थे, परामर्श किया। बताया यह गया कि वे दान या तो वह विलेख लिखकर कर सकते हैं या सीधे-सीधे बन्धपत्र श्रीमती केशीन को देकर कर सकते हैं। दूसरा मार्ग अपनाते हुए 8.5.1924 को सर माइकिल रायल बैंक ऑफ कनाडा में गए जहां एक लाकर में उक्त बन्धपत्र रखे थे। श्रीमती केशीन की स्वीय उपस्थिति आवश्यक बताई जाने पर माइकिल उन्हें भी बैंक ले आए। वहां सर माइकिल ने बैंक में अपना लाकर छोड़ दिया और वह बैंक ने श्रीमती केशीन को दे दिया, जिसे श्रीमती केशीन ने स्वीकार किया। इस प्रकार बन्धपत्र श्रीमती केशीन के कब्जे में चले गए। उन्होंने एक छपा हुआ फार्म भी भरा जिसके द्वारा उन्होंने सर माइकिल केशीन और लारेन्स केशीन को अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया कि वे लाकर का परिचालन करें। उस समय लारेन्स केशीन अपने माता-पिता के साथ ही रहते थे। फिर हुआ यह कि इंग्लैंड से न्यूफाउण्डलैंड वापस आने पर 1926 में अपनी मृत्यु होने तक सर माइकिल ने अपनी उक्त शक्ति का प्रयोग करके बन्धपत्र से संलग्न कूपनों की राशि वसूल की। यही नहीं, वे उन बंधपत्रों पर आयकर भी देते रहे। इसके अतिरिक्त अपनी वसीयत में जो उन्होंने अपनी संपदा से अधिक राशि दी उससे भी एक विचार पैदा हुआ कि संभवतः वे उक्त बंधपत्रों को अपनी संपत्ति ही मानते थे, यद्यपि परिस्थिति पूर्व दान अमान्य करने के लिए बहुत कमजोर है, देखिए — **काम्प. डमर बनाम पिचर**¹ इसके अतिरिक्त वसीयत को समग्र रूप से लेने पर प्रकट होता है कि ये बंधपत्र सर माइकिल तब अपने नहीं मानते थे। हो सकता है कि उनको आशा रही हो कि वसीयत के क्रियान्वयन का समय आने, अर्थात् उनकी मृत्यु होने, तक वे और सम्पत्ति अर्जित कर लेंगे।

¹ [1833] 2 माचल फण्ड के 262 (276).

2. सर माइकिल की मृत्यु होने पर मृत्यु शुल्क बंधपत्रों को उनकी संपदा न मानकर दिया गया। किंतु कूपनों की राशि सर माइकिल द्वारा वसूल किए जाने के कारण विभाग ने बंधपत्र भी सर माइकिल की संपदा के भाग मानकर शुल्क की अदायगी का आग्रह किया। तत्प्रतिकूल सारे प्रयत्न व्यर्थ रहे। अंत में 24.8.1927 को उन बंधपत्रों पर भी मृत्यु शुल्क अदा कर दिया गया, जैसे कि वे सर माइकिल को संपदा के भाग थे, यद्यपि अदायगी के चेक के साथ जो पत्र भेजा गया उसमें स्पष्ट कर दिया गया कि अदायगीकर्ता बंधकों को श्रीमती केशीन की ही संपत्ति मानते हैं और तकनीकी कारणों से यह अदायगी की जा रही है।

3. कुछ दिन बाद पक्षकारों ने, अर्थात् श्रीमती केशीन तथा उनके तीनों पुत्रों ने मिलकर प्रश्नगत करार 8.9.1927 को निष्पादित किया। इसमें स्वीकार किया गया कि बंधपत्रों पर पूर्ण स्वामित्व श्रीमती केशीन का है किंतु उनके पति की वसीयत में दी गई राशियों को अदायगी के लिए उनकी संपदा में जो कमी होगी उसकी पूर्ति श्रीमती केशीन स्वयं कर देंगी। तदनुसार 1927 में ही तीनों पुत्रों को सवसीयत में उन्हें दी गई राशि की बकाया अदा कर दी गई।

4. कुछ समय तक शांति रही। फिर 1936 में लारेंस केशीन ने 8.9.1927 के उक्त करार को अपास्त कराने के लिए एक वाद किया। उनका कहना था कि श्रीमती केशीन की एक वैश्वासिक हैसियत थी और करार में जो बात लिखी गई वह सही नहीं थी। दूसरे, निष्पादकों का दायित्व था कि सर माइकिल की पूरी-पूरी संपदा बताएं, जो उन्होंने नहीं किया। वादी की मान्यता यह थी कि श्रीमती केशीन को बंधपत्रों का दान अपूर्ण था, अतः वे सर माइकिल की संपदा का भाग बने रहे और प्रश्नगत करार में तत्प्रतिकूल लेख गलत है, जो सर माइकिल के निष्पादकों को नहीं करना चाहिए था।

5. जहां तक इस विलेख का संबंध है, वह स्पष्टतः कौटुम्बिक समझौता है। उसके द्वारा तीनों पुत्रों ने अपनी माता के विरुद्ध बंधपत्र वाला संदिग्ध दावा छोड़ दिया और दूसरी ओर वे फायदाग्राहियों को अपने पास से राशियां देने को सहमत हुईं। जहां तक बंधपत्रों के दान की विधिमान्यता का प्रश्न है, श्रीमती केशीन की जानकारी वही थी जो उनके पुत्रों की थी। यह करार लिखाने में असम्यक् असर के प्रयोग का कहीं संकेत नहीं है और

न ऐसी कोई बात है जिसके कारण यह कहा जा सके कि श्रीमती केशीन ने अपनी वैश्वासिक हैसियत का दुरुपयोग किया, देखिए – **स्मिथ बनाम के¹** बहुत पहले **गार्डन बनाम गार्डन²** में यह निर्णय किया जा चुका है कि जहां कौटुम्बिक समझौता कोई बात छिपाए बिना, किसी अस्तर का प्रयोग किए बिना तथा कोई गलत बात कहे बिना उचित तौर पर कराया जाए वहां वह विधिमान्य होगा, भले ही विलेख के किसी पक्षकार ने अपनी स्थिति को गलत समझा हो। मामला ऐसा भी नहीं था कि श्री लारेंस केशीन को स्वतंत्र सलाह की आवश्यकता थी, जो उन्हें नहीं मिली। वे एक वयस्क और अनुभवी व्यापारी थे जो समानता के स्तर पर समझौता कर सकते थे। उनके अनुभव और योग्यता का इससे ही संकेत मिलेगा कि अगले वर्ष वे वित्त मंत्री के रूप में नियुक्त किए गए। इस प्रकार ऐसी कोई बात नहीं थी कि कहा जा सके कि वे श्रीमती केशीन से समझौता समानता के आधार पर नहीं कर सकते थे।

6. अब प्रश्न आता है दुराव, छिपाव और मिथ्या व्यपदेशन का। तात्त्विक बात को छिपाना उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि मिथ्या व्यपदेशन, देखिए – **गार्डन बनाम गार्डन²**। वादी के अनुसार विलेख उनके कार्यालय में लिखाया गया। उस पर उनकी माता के हस्ताक्षर पहले से थे और श्री लारेन्स केशीन ने कहा कि श्री बुड ने यह दस्तावेज तैयार की है और हमें एक विधिक अवसर मिल रहा है कि बंधपत्रों पर दिया गया मृत्यु शुल्क वापस ले लें, जिस पर प्रत्यर्थी ने कहा कि शुल्क तो वापस मिलना ही चाहिए और उन्होंने दस्तावेज पढ़े बिना उस पर हस्ताक्षर कर दिए। उक्त शुल्क वापस लेने की बात से ही यह संकेत होता था कि बंधपत्रों का श्रीमती केशीन को दान मान्य ठहराया जाए। इसके अतिरिक्त, विभाग से हुई तत्संबंधी अनेक चर्चाओं में वादी भाग ले चुके थे। कोई ऐसी परिस्थिति भी नहीं थी जिसके कारण वादी हस्ताक्षर करने के पूर्व विलेख पढ़ नहीं सकता था। यदि विलेख निष्पादित करने वाला व्यक्ति अंधा न हो और न निरक्षर और उसके प्रति कोई कपट या दुर्व्यपदेशन न किया जाए और उसे विलेख पढ़ने का पूरा अवसर हो तो यह महत्वहीन है कि विलेख का निष्पादन करने के पूर्व उसने वह पढ़ा या नहीं, वह विलेख से आबद्ध होगा,

¹ [1859] 7 फच. एल. सी. 750.

² [1816] 3 स्वांस 400 (470, 473 और 476).

इस कारण नहीं कि उसने पढ़ा, बल्कि इस कारण के उसने उसे निष्पादित किया ।

7. जहां तक विलेख के वादी के प्रति उचित होने का संबंध है, कौटुम्बिक समझौते में लेन-देन होता है और एक दूसरे का ख्याल करते हैं । अतः इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि अमुक पक्षकार आर्थिक दृष्टि से लाभ में रहा, देखिए – **सेवरी बनाम किंग¹** व **फेन बनाम फेन²** । यह भी उल्लेखनीय है कि ऐसे निर्णय हैं जिनसे प्रकट होता है कि अपूर्ण दान देने के बाद यदि दानदाता आदाता को ही अपना निष्पादक नियुक्त कर देता है तो उससे दान का आशय बना रहा प्रकट होता है, देखिए – **स्ट्रांग बनाम बर्ड³**, **स्टुअर्ट बनाम मेक लालीन⁴** व **पिक का मामला⁵** । इस पर निचले न्यायालयों में विचार न किए जाने के कारण हम भी कोई विचार व्यक्त नहीं करते । ऐसा कोई तात्त्विक तथ्य नहीं है जिसके लिए कहा जा सके कि वादी को उसकी जानकारी नहीं थी । ऐसी परिस्थितियों में वह करार को अपास्त नहीं करा सकते थे । हमारी राय है कि अपील मंजूर करके वाद खर्च सहित खारिज किया जाना चाहिए । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह तदनुसार है ।

अपील मंजूर की गई ।

¹ [1856] 5 एफ. एल. सी. 627.

² [1875] 20 ईकित 698.

³ [1874] 18 ईकित 315.

⁴ [1908] 2 चॉस्टरी 251.

⁵ [1912] 2 चॉस्टरी 528.

मोहम्मद हबीबुल हक तथा अन्य.....अपीलार्थी

बनाम

सेठ टीकम चंद.....प्रत्यर्थी

(इलाहाबाद उच्च न्यायालय के निर्णय के प्रि. कौ. अपील सं. 27 सन् 1934)

निर्णीत : 21.1.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड मेकमिलन, लार्ड रोश व सर जार्ज रैंकिन

भारतीय परिसीमा अधिनियम, 1908 (1908 का 9) – अनुच्छेद 145 व 49 – जब सरकारी वचनपत्र प्रतिभूति-स्वरूप या सुरक्षित अभिरक्षा के लिए देकर ऋण प्राप्त किया गया हो तो उन वचनपत्रों की पुनः प्राप्ति या उनके विक्रय से प्राप्त राशि की वसूली के लिए वाद को अनुच्छेद 49 लागू न होकर अनुच्छेद 145 लागू होगा ।

निर्णय

जस्टिस लार्ड रोश – यह अपील इलाहाबाद उच्च न्यायालय की 6.7.1932 की एक डिक्री के विरुद्ध है । उन्होंने आगरा के अधीनस्थ न्यायाधीश की 29.5.1928 की डिक्री अपास्त कर दी है । वाद के पक्षकारों या उनके कारबार-पूर्ववर्तियों के बीच संव्यवहार बहुत वर्षों तक चला और मुकदमेबाजी अथवा मुकदमेबाजी में परिणत होने वाले विवाद लगभग 20 वर्ष से चल रहे हैं । पक्षकारों के बीच विवादित विषयों में से केवल दो इस अपील की सुनवाई में विनिश्चयार्थ रहे । वे हैं :-

प्रथम : क्या 23.1.1918 की तारीख वाला विलेख, जो मूल वादी द्वारा मूल प्रतिवादी के पक्ष में निष्पादित किया गया था, तब भी प्रभावी रहा जब उन पक्षकारों के बीच 1921 में समझौता हो गया अथवा क्या वह उस समझौते से रद्द हो गया ?

द्वितीय : मूल वादी 13,000/- रु. अंकित मूल्य के उन सरकारी वचनपत्रों के फायदे का हकदार था या नहीं जो उसके द्वारा उक्त प्रतिवादी के पास प्रतिभूति-स्वरूप जमा किए गए थे और वह उक्त वचनपत्र अथवा उनके विक्रय से प्राप्त राशि पाने का हकदार है या नहीं ?

2. अधीनस्थ न्यायाधीश का निष्कर्ष दोनों ही प्रश्नों पर वादी के पक्ष में था । उच्च न्यायालय ने दोनों प्रश्नों पर उनका विनिश्चय उलट दिया ।

अतः यह अपील की गई । इन दो विवादित प्रश्नों को समझने के लिए सुसंगत तथ्य इस प्रकार हैं : मूल वादी (जिसे यहां आगे सुविधा की दृष्टि से “शेख” कहा गया है) एक ठेकेदार था और उसको कारबार के प्रयोजनार्थ धन अनेक वर्षों पर्यन्त मूल प्रतिवादी द्वारा (जिसे यहां आगे सुविधा की दृष्टि से “टीकम चन्द” कहा गया है) व टीकम चन्द के पिता और पितामह द्वारा दिया जाता रहा । 31.12.1917 को शेख और टीकम चन्द के बीच एक करार लिखा गया जिसका आशय यह था कि शेख द्वारा देय बताई गई राशि 5,05,186/- रु. है और इसकी अदायगी अंशतः शेख की कुछ संपत्ति के टीकम चन्द के हक में विक्रय विलेख द्वारा और अंशतः एक बंधपत्र द्वारा, जो ऋण की बकाया के लिए होगा, की जानी है । 25.1.1918 की तारीख का विक्रय विलेख 1,65,000/- रु. मूल्य की संपत्ति की बाबत वस्तुतः निष्पादित किया गया और उसी विलेख से 25,000/- रु. मूल्य की अन्य संपत्ति बंधक की गई । 26.1.1918 को शेख ने ऋण की बकाया के लिए एक बंधपत्र निष्पादित कर दिया । बंधपत्र की राशि तीन लाख रुपए से अधिक थी । इस वाद में इस पर विवाद रहा कि क्या ऋण वस्तुतः पांच लाख रुपए या उसके लगभग था, या वह राशि अनंतिम थी जो हिसाब करके बदली जा सकती थी । अधीनस्थ न्यायाधीश ने शेख के पक्ष में मत अपनाया कि यह राशि केवल अनंतिम थी जब कि उच्च न्यायालय ने तत्प्रतिकूल मत अपनाया । हम इस बात को महत्वहीन मानते हैं । किसी भी दशा में यह स्पष्ट है कि बंधपत्र के संबंध में स्थिति पक्षकारों के बीच 8.12.1919 के लिखित करार द्वारा बिल्कुल बदल गई थी । उक्त करार द्वारा इस बात पर सहमति हुई कि 26.1.1918 के बंधपत्र के अधीन देय राशि 1,39,000/- रु. है और इसी राशि की तुष्टि और प्रतिभूति के लिए व्यवस्था की गई । 8.12.1919 के करार में 25.1.1918 के विक्रय-विलेख का हवाला नहीं था ।

3. टीकम चन्द 8.12.1919 के प्रतिस्थापित करार से अधिक समय तक संतुष्ट नहीं रहा और उसने उसकी विधिमान्यता पर विवाद किया । 30.6.1920 को उसने शेख और उसके द्वारा नियोजित या उससे संबंधित कुल दावा करने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध एक वाद (सं. 219) दाखिल किया । उसमें दावा किया गया कि 8.12.1919 का करार उस वाद के प्रतिवादियों ने कपट द्वारा प्राप्त किया और वह शून्य है और उसे देय राशि 1,39,000/- रु. की कम राशि न होकर बंधपत्र वाली राशि थी जो 3,00,000/- रु. से अधिक थी । दूसरे शब्दों में, उसने चाहा कि बंधपत्र

वाली स्थिति पुनः लाई जाए। फिर भी विक्रय-विलेख का कोई हवाला नहीं दिया गया। वह विलेख अपनी तारीख से प्रभावी हो गया और जो संपत्ति उसके द्वारा टीकम चन्द को हस्तांतरित करना व्यक्त किया गया था वह वस्तुतः उसे अंतरित कर दी गई। 30.6.1920 के बाद सं. 1921 की एक समझौते की अर्जी न्यायालय में पेश की गई और 7.11.1921 को उस अर्जी के आधार पर डिक्री दे दी गई। डिक्री में समझौते वाले निबंधन दिए गए जिनमें महत्वपूर्ण निबंधन ये हैं :-

(1) प्रतिवादी सं. 1 द्वारा वादी के पक्ष में निष्पादित 26.1.1918 और 8.12.1919 की दस्तावेजों, 6.1.1920 का सकब्जा बंधकपत्र और 6.1.1920 का किरायानामा शून्य घोषित किए जाएंगे। भविष्य में कोई पक्षकार उन दस्तावेजों के अधीन किसी प्रकार का कोई उपचार दूसरे पक्षकार के विरुद्ध नहीं मांग सकेगा।

(2) दावे, खर्चे और आज तक के ब्याज की राशि आदि के बदले में प्रतिवादी सं. 1 अर्थात् शेख मोहम्मद हबीबुल्ला वादी को चालू सिक्कों में 1,65,000/- रु. की राशि, जिसके आधे 82,500/- रु. होते हैं, नीचे दिए गए विवरण के अनुसार तीन वर्ष छह मास में अदा कर देंगे।

4. तत्पश्चात् दी जाने वाली किस्तों का विवरण और ब्याज विषयक व्यवस्था तथा अदायगी की प्रतिभूति स्वरूप शेख की कुल विनिर्दिष्ट संपत्तियां गिरवी या आडमान करने का उल्लेख था। इस डिक्री के क्रियान्वयन के लिए टीकम चन्द ने निष्पादन की कार्यवाही की। किंतु उसकी पूर्ण तुष्टि के पूर्व शेख ने 13.4.1926 को यह वाद कर दिया। अब की बार उसने कपट का आक्षेप किया तथा 1921 के समझौते पर आपत्ति की और उसे कपट से प्राप्ति के आधार पर अपास्त कराना चाहा। उसका कहना था कि समझौता टीकम चन्द के इस नए वचन पर आधारित था कि वह बड़ी राशि के नए ऋण देकर उसके कारबार का वित्तपोषण करेगा और उसके कारबार को अन्य प्रकार से समर्थन देगा। दावे का यह भाग अधीनस्थ न्यायाधीश के समक्ष असफल हुआ और उस निर्णय के विरुद्ध कोई अपील नहीं की गई। किंतु एक दावा और था जो इस कथन पर आधारित था कि समझौते के अधीन या उसके होते हुए भी शेख इस निर्णय के प्रारंभ में उल्लिखित प्रथम और द्वितीय प्रश्नों के संबंध में सफलता का हकदार है। इन्हीं प्रश्नों पर निचले न्यायालयों में मतभेद हुआ और अब उनका विनिश्चय किया जाना है।

5. प्रथम प्रश्न पर हमें कोई संदेह नहीं है कि उच्च न्यायालय का शेख के विरुद्ध विनिश्चय सही था और अधीनस्थ न्यायाधीश ने उसके पक्ष में विनिश्चय करने में भूल की। अर्थान्वयन की दृष्टि से हमारी राय है कि समझौते से विक्रय विलेख न निर्देशित हुआ, न अधिकांत, न रद्द। समझौते पर डिक्री में उस दस्तावेज के प्रति कोई निर्देश नहीं है। वह भले ही 26.1.1918 को लिखा गया हो किंतु उस पर तारीख 25.1.1918 स्पष्टतः पड़ी थी। 7.11.1921 की डिक्री के खण्ड-1 की भाषा तथा विराम चिह्न प्रकट करते हैं कि केवल 26.1.1918 की एक दस्तावेज के प्रति निर्देश है और जहां एक ही तारीख की दो दस्तावेज प्रश्नगत हों, जैसा कि 6.1.1920 की दस्तावेजों के मामले में है, वहां दोनों का अभिव्यक्त रूप से उल्लेख है। इसके अतिरिक्त, उपबंधों के क्रियान्वयन के लिए डिक्री बिल्कुल विनिर्दिष्ट और विवरण सहित है और यह अकल्पनीय है कि यदि समझौते की तारीख को पहले से क्रियान्वित किया गया विक्रय-विलेख उस समझौते द्वारा अपास्त करने का आशय होता तो इस प्रश्नगत संपत्ति के पुनः अंतरण की व्यवस्था न होती और यह नहीं बताया गया होता कि अंतःकालीन लाभों तथा वैसे ही अन्य मामलों में क्या होगा? यदि परिस्थितियों और प्रश्नगत विलेखों की पहचान के विषय में साक्ष्य ग्राह्य था (यह ऐसा विषय है जिसका अवधारण करना हम उस विनिश्चय को देखते हुए अनावश्यक समझते हैं जो हमने दस्तावेज के सही अर्थान्वयन के विषय में किया है) तो साक्ष्य का प्रभाव निश्चय ही अपीलार्थियों के विरुद्ध है। जहां तक देखा जा सका, समझौते की डिक्री होने तक पक्षकारों के तर्कों में विक्रय-विलेख के प्रति कोई निर्देश नहीं है। उस विलेख के उपबंधों को क्रियान्वित करके उसे पूरा किया जा चुका था। विवाद ऋण के अवशेष, उसकी राशि और उसकी तुष्टि के ढंग के विषय में था, अर्थात् धन के बंधपत्र तथा उस बंधपत्र के स्थान पर किए गए इंतजाम के विषय में। समझौता तैयार करने वाले उत्तरदायी वकीलों के साक्ष्य पर यह कल्पना करना कठिन ही नहीं असंभव है कि उसने 26 जनवरी के दस्तावेज के नाम से ऐसी दस्तावेज का समावेश किया जो 25 जनवरी की थी और जिसका उल्लेख उसके समक्ष उस समझौते के संबंध में कभी नहीं किया गया जो वह तैयार कर रहा था और जिसे वह विधिस्वरूप दे रहा था। अतः इस प्रश्न पर अपील असफल होती है।

6. दूसरे प्रश्न का विनिश्चय अधिक कठिन नहीं प्रतीत होता; किंतु यहां हमारी स्पष्ट राय है कि अधीनस्थ न्यायाधीश सही थे और उच्च न्यायालय ने भूल की थी। वचनपत्र मूलतः शेख द्वारा उधार की

प्रतिभूतिस्वरूप जमा किए गए थे । 26.11.1918 के बंधपत्र में उपबंध है कि बंधपत्र वाले ऋण की तुष्टि के भागरूप उनकी वसूली की जाएगी । 8.12.1919 का प्रतिस्थापित करार उन्हें तब भी टीकम चन्द द्वारा प्रतिभूति के रूप में धारित मानता है तथा वह शेख की संपत्ति थी जिसे बकाया ऋण की आंशिक तुष्टि में मुजरा किया जाना था । अंत तक वे ऐसे ही रहे सिवाय उस दशा के जब कि टीकम चंद द्वारा बताया गया कथानक सिद्ध हो जाए । इसका भार पूर्णतः उसी पर रहता है । वह कथानक इस प्रकार है : विक्रय करार में व्यवस्था है कि बेची गई संपत्तियों में एक अपूर्ण बंगला है और शेख उसे पूरा कर देगा और यदि वह उसे पूरा न करे तो टीकम चन्द को शक्ति दी गई थी कि उसे शेख के खर्चे पर पूरा कर ले । कहा यह गया कि टीकम चन्द ने उसे इस प्रकार पूरा किया और उसकी अदायगी के अधिकार की तुष्टि शेख की संपत्ति से वचनपत्रों की राशि की वसूली द्वारा और शेख की इस विनिर्दिष्ट ऋण के आगमों के उपयोग द्वारा हो गई । इस कथानक के समर्थन में केवल अनुश्रुत साक्ष्य था, जिसके अग्राह्य होने के अतिरिक्त वह महत्व और मूल्य से रहित था । हमारी राय में अधीनस्थ न्यायाधीश का इस कथानक को असिद्ध मानकर अमान्य करना सही था तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों ने गलत पक्षकार पर सबूत का भार डाल दिया प्रतीत होता है और उनका विनिश्चय यह प्रतीत होता है कि उनका समाधान नहीं हुआ था कि शेख ने कथानक की सत्यता को नासाबित कर दिया है । उन्होंने इस कथानक को अधिसंभाव्य स्वीकार किया गया प्रतीत होता है । हमारा मत बिल्कुल भिन्न है । हम बता चुके हैं कि जो विक्रय-विलेख वह दस्तावेज था जिसमें इस बंगले के विषय में उपबंध थे वह उस समय पूरा क्रियान्वित हो चुका था जबकि बंधपत्र 8.12.1919 के करार द्वारा परिवर्तित किया गया । वचनपत्रों को उस समय भी शेख की संपत्ति माना गया और यह उपयुक्त माना गया कि शेख के सामान्य और अवशिष्ट ऋणों के संबंध में उनका उपयोग किया जाए, न कि बंगले के संबंध में या ऐसी ही किसी बात के संबंध में । उच्च न्यायालय का यह भी विचार था कि यदि वचनपत्र किसी विशिष्ट संविदा के बिना प्रतिवादी के पास छोड़ दिए गए तो परिसीमा अधिनियम का अनुच्छेद 49 लागू होगा और शेख का दावा वर्जित हो जाएगा क्योंकि वह तीन वर्ष के भीतर नहीं किया गया । हम अधीनस्थ न्यायाधीश से सहमत हैं कि वह अनुच्छेद लागू नहीं होता । वचनपत्र टीकम चन्द के पास प्रतिभूति

के रूप में और किसी भी दशा में सुरक्षित अभिरक्षा के लिए रहे । किसी भी दृष्टि से अनुच्छेद 49 लागू न होकर अनुच्छेद 145 ही सुसंगत है और वाद समय के भीतर था । अतः अपील इस प्रश्न पर सफल होनी चाहिए । वचनपत्रों का विक्रय ऐसी परिस्थितियों में किया गया है जिनका समाधानप्रद स्पष्टीकरण नहीं है और यद्यपि अपीलार्थी वचनपत्र पुनः प्राप्त नहीं कर सकते, वे हकदार हैं कि पक्षकारों के बीच हिसाब में वचनपत्रों के विक्रय की राशि तथा ब्याज का समायोजन किया जाए । यदि उन्होंने समझौते वाली डिक्री के अधीन अपना ऋण अन्य धन से पूर्णतः चुका दिया है तो वे अब वचनपत्रों के आगम-स्वरूप पंद्रह हजार रुपए तथा उस पर ब्याज के हकदार हैं, जैसा कि अधीनस्थ न्यायाधीश ने डिक्री किया । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह तदनुसार है । अब खर्चे का प्रश्न बचता है । अपीलार्थियों को अंत में जो सफलता मिली है वह उनके मूल दावे की मात्रा की तुलना में बहुत कम है और उस दावे की तुलना में भी बहुत कम है जो विक्रय-विलेख की बाबत किया गया था तथा जो उच्च न्यायालय और इस बोर्ड के समक्ष विवादित था । अतः हमारा विचार है कि उचित आदेश यह होगा कि प्रत्येक पक्षकार निचले दोनों न्यायालयों का और इस अपील का अपना-अपना खर्चा वहन करें ।

अपील मंजूर की गई ।

ठाकुर गया बख्श सिंह (मृतक अब रानी कुंवर और एक अन्य द्वारा) तथा अन्य.....अपीलार्थी

बनाम

देव सिंह और अन्य.....प्रत्यर्थी

(अवध मुख्य न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 44 सन् 1935)

निर्णीत : 24.1.1938

अवध संपदा अधिनियम, 1869 (अवध एस्टेट्स ऐक्ट) — धारा 22 व 23 — “वारिस” से निकटतम वारिस ही अभिप्रेत नहीं है अपितु वारिस का धारा के अनुसार वारिस भी अभिप्रेत है बशर्ते कि वह अधिनियम के विशेष उपबंधों के अधीन संपदा प्राप्त करता है ।

— “वारिस” शब्द उन व्यक्तियों तक सीमित नहीं है जो धारा 22 के अधीन विरासत पाएं — धारा 23 में वह प्रत्येक ऐसी संपदा को लागू होता है जिसके स्वामी का नाम सूची-1 में दर्ज था, उत्तराधिकार का ढंग कुछ भी हो सूचियों द्वारा विहित परिसीमा उसी प्रकार से उत्तराधिकार के नियम विहित करती है जैसे कि अधिनियम की धारा 22 और 23 के उपबंध ।

— धारा 3, 10 व 22 — धारा 3 अधिनियम के पूर्व दी गई सनदों के उपबंधों को पुनः पुष्ट कर देती है और धारा 10 उन्हें पुनः लागू कर देती है — अधिनियम लागू होने के बाद उत्तराधिकार सनद के आधार पर न होकर अधिनियम के आधार पर होता है ।

— जब सूची में ऐसे व्यक्ति का नाम दर्ज है जो अधिनियम पारित होने के समय मर चुका था तो भी अधिनियम ताल्लुका को लागू होगा ।

— धारा 14 व 22 — जब ताल्लुकेदार ने वसीयत यह अधिनियम पारित होने के पहले कर दी तो वसीयतदार का उत्तराधिकार धारा 14 के साथ पठित धारा 22 के अनुसार होगा ।

निर्णय

जस्टिस सर जार्ज रैंकिन — यह अपील ठाकुर गया बख्श सिंह ने दाखिल की थी, जिसे यहां “अपीलार्थी” कहा गया है । उन्होंने अपना हित अंशतः अपीलार्थी सं. 2 को समनुदेशित कर दिया है और अपील दाखिल की जाने के बाद उसका देहावसान भी हो चुका है । वह अवध मुख्य न्यायालय में उसकी आरंभिक अधिकारिता में प्रत्यर्थी सं. 1 देव सिंह

अवयस्क (जिसे यहां “प्रत्यर्थी” कहा गया है) द्वारा 16.2.1931 को दाखिल किए गए वाद में प्रतिवादी सं. 1 था 1 वादपत्र में कई संपत्तियों का दावा था और 4 प्रतिवादी थे किंतु इस अपील का संबंध केवल तीन संपदाओं से है और बोर्ड के समक्ष दावे का विरोध करने वाला एकमात्र पक्षकार प्रतिवादी सं. 1 है। ये संपदाएं अवध की ताल्लुकेदारी संपदाएं हैं और इन्हें एक ताल्लुका माना जा सकता है। मुख्य संपदा का नाम भरावन है और वह हरदोई जिले में है। उसमें दो छोटी संपदाएं भी हैं जिन्हें वसंतपुर और मढ़ापुर कहते हैं, जो लखनऊ और उन्नाव जिलों में हैं। प्रत्यर्थी का दावा था कि 12.12.1930 को रानी देव कुंवर नामक महिला की मृत्यु होने पर वह उनका हकदार हुआ। जिन तथ्यों से उसका दावा उत्पन्न हुआ वे विवादित नहीं हैं। 1859 के द्वितीय संक्षिप्त व्यवस्थापन में प्रश्नगत संपदाओं का व्यवस्थापन राजा मर्दान सिंह के पक्ष में किया गया। सरकार द्वारा ताल्लुकेदारों से किए गए अनुरोध के अनुसार कि जहां रूढ़ि या सनद के अनुसार गद्दी-नशीनी का चलन नहीं है वहां वे अपने वारिसों के नाम बताते हुए वसीयत करें, राजा मर्दान सिंह ने 5.3.1860 को एक दस्तावेज निष्पादित की, जिसे इकरारनामा कहा गया है। उसमें कहा गया :-

“अतः मैं इच्छा और आवेदन करता हूं कि हमारी मृत्यु के बाद हमारी संपदा हमारे कुटुम्ब में अक्षुण्ण और अविभाज्य रहे तथा वह राजगद्दी की रूढ़ि के अनुसार हमारे ज्येष्ठ पुत्र राजा रणधीर सिंह के नाम में रहे और छोटे भाई गद्दी के धारक से भरण-पोषण के हकदार होंगे।”

2. इस इच्छा के अनुरूप उन्हें 24.11.1862 को सामान्य प्रारूप (देखिए साइक्स कम्पेंडियम, पृष्ठ 386) में उन्हें दी गई सनद से पूर्ण स्वामित्व अधिकार, हक और कब्जा उन्हें और उनके वारिसों को सदैव के लिए, राजस्व की अदायगी और सरकार के प्रति सद्व्यवहार के कुछ नियमों के अनुपालन की शर्तों पर, प्रदान किया गया। उसमें यह भी उपबंध था :-

“इस अनुदान की एक अन्य शर्त यह है कि आपकी वसीयत किए बिना मृत्यु होने पर अथवा आपके किसी वारिस की वसीयत किए बिना मृत्यु होने पर संपदा निकटतम पुरुष वारिस को ज्येष्ठाधिकार के नियमानुसार जाएगी, किंतु आपको तथा आपके सब उत्तराधिकारियों को पूर्ण शक्ति प्राप्त होगी कि संपूर्ण संपदा का या उसके किसी भाग का अंतरण विक्रय, बंधक, दान, वसीयत या दत्तक-ग्रहण द्वारा, जिसे चाहें, कर दें।”

3. 1863 में राजा मर्दान सिंह की मृत्यु हो गई और उनके ज्येष्ठ पुत्र राजा रणधीर सिंह उत्तराधिकारी बने। सनद के उपबंध स्वयं में इस बात के लिए पर्याप्त थे कि पिता की मृत्यु होने पर संपदा रणधीर में निहित करें, किंतु उस समय हिंदुओं को अवध में लागू विधि वसीयतों के बारे में किन्हीं औपचारिकताओं की अपेक्षा नहीं करती थी। अतः अपीलार्थी और प्रत्यर्थी दोनों का कहना है कि रणधीर इकरारनामा और वसीयत दोनों के अधीन उत्तराधिकारी होने का दावा कर सकता था। जब 1869 में अधिनियम सं. 1 (अवध संपदा अधिनियम) पारित किया गया तो उसकी धारा 8 के अधीन तैयार की गई सूची में वे संपदाएं, जो अब प्रश्नगत हैं, सूची 1 में दर्ज की गई और राजा मर्दान सिंह (यद्यपि उनकी मृत्यु हो चुकी है) का नाम सूची 1, 2 व 5 में चढ़ाया गया। 1889 में रणधीर की मृत्यु कोई पुत्र छोड़े बिना हो गई और उनका भाई राजा माधो सिंह उत्तराधिकारी बना। 23.10.1906 को माधो की वसीयत छोड़े बिना मृत्यु होने पर उसकी उत्तराधिकारिणी उसकी विधवा रानी देव कुंवर हुई। स्वयं प्रत्यर्थी के दावे के अनुसार वह संपदा का हकदार 1930 में उसकी मृत्यु होने पर हुआ। 1906 में प्रत्यर्थी के पिता महीपाल सिंह जीवित थे, किंतु उनकी मृत्यु रानी देव कुंवर के पहले हो गई। यहां संलग्न वंशावली प्रकट करती है कि प्रत्यर्थी राजा मर्दान के भाई रघुनाथ सिंह की संतान है और वह ज्येष्ठ पुरुष परम्परा में है। यह वंशावली अब विवादित नहीं है।

4. प्रत्यर्थी के ताल्लुका के विरासत के अधिकार पर अपीलार्थी ने यह आपत्ति की कि 1906 में माधव की मृत्यु होने पर उसके उत्तराधिकार का अधिकार प्रत्यर्थी के पिता महीपाल सिंह का था, न कि माधव की विधवा देव कुंवर का। ऐसा होने पर अपीलार्थी का तर्क है कि परिसीमा अधिनियम का कोई भी अनुच्छेद (अनुच्छेद 140, 142, 144 या 120) मामले को लागू किया जाए, प्रत्यर्थी का दावा समय के बाहर है और उसका हक उक्त अधिनियम की धारा 28 के अधीन समाप्त हो गया है। यह निष्कर्ष मुख्य न्यायालय ने न आरंभिक अधिकारिता में स्वीकार किया, न अपील में। इस निष्कर्ष के गुणागुण के संबंध में कुछ इस बात पर निर्भर करेगा कि माना यह जाए कि रानी देव कुंवर ने अधिनियम सं. 1 सन् 1869 की धारा 22 के खंड 7 के अर्थों में हिन्दू विधवा के हक या “अपने जीवनपर्यन्त” के हक का दावा किया और वही उन्हें अनुमत हुआ। किसी भी दशा में उससे विधि के जटिल और महत्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं, जिन पर बोर्ड के समक्ष बहस नहीं की गई। हमें यह आवश्यक नहीं लगता कि उन पर अपना निर्णय दें। यह कहने का आशय रखे बिना कि मुख्य न्यायालय द्वारा अपनाया गया

दृष्टिकोण गलत था, हम इस विषय में चर्चा से विरत रहते हैं। माधव की विधवा का 1906 में अपने पति के उत्तराधिकार का हक इस प्रतिपादना पर निर्भर करता है कि पति की मृत्यु पर मामले को इस समय यथाविद्यमान अधिनियम सं.1 सन् 1869 की धारा 22 लागू होती थी।

5. धारा 22 के सुसंगत भाग इस प्रकार हैं :—

“22. जिस ताल्लुकेदार या अनुदान-गृहीता का नाम धारा 8 में वर्णित द्वितीय, तृतीय या पंचम सूची में हो वह या उसका वारिस या वसीयतदार यदि अपनी संपदा के संबंध में वसीयत छोड़े बिना मरे तो उस संपदा का न्यागमन इस प्रकार होगा, अर्थात्.....

(1) उस ताल्लुकेदार, अनुदान-गृहीता, वारिस या वसीयतदार के ज्येष्ठ पुत्र को और उसकी पुरुष परम्परा में पुरुष संतान को, उन्हीं शर्तों के अधीन रहते हुए और उसी रीति से जैसे कि संपदा मृतक द्वारा धारित थी ;

(2) अथवा, यदि ऐसे ताल्लुकेदार या अनुदान-गृहीता, वारिस या वसीयतदार के ज्येष्ठ पुत्र की उसके जीवनकाल में मृत्यु हो गई हो और उसने पुरुष परम्परा में पुरुष संतति छोड़ी हो तो ज्येष्ठ पुत्र को और ऐसे ज्येष्ठ पुत्र के प्रत्येक अन्य पुत्र को एक के बाद एक, उनके ज्येष्ठताक्रम में और उनके पहले अपने पुरुष परंपरा में वंशजों को यथा उपर्युक्त अधीन रहते हुए ;

(3) या ऐसे कोई भाई नहीं होने पर मृत ताल्लुकेदार, अनुदान-गृहीता, वारिस या वसीयतदार की विधवा को, अथवा यदि एक से अधिक विधवाएं हों तो उस विधवा को जिसका उस ताल्लुकेदार, अनुदान-गृहीता, वारिस या वसीयतदार से विवाह सबसे पहले हुआ, केवल उसके जीवनपर्यन्त के लिए।”

6. अपीलार्थी की ओर से दलील दी गई कि उस समय संपदा का उत्तराधिकार 1862 की सनद द्वारा शासित था, न कि धारा द्वारा। यह तर्क इस तथ्य पर आधारित है कि ताल्लुकेदार या वह व्यक्ति जिसका धारा 8 के अधीन सूची 1 में नाम दर्ज था मर्दान सिंह था यद्यपि उसकी मृत्यु 1863 में हुई और उस दृष्टि से उत्तराधिकारी होने वाले रणधीर को संपदा विरासत में 1869 के अधिनियम के उपबंधों के अधीन नहीं मिली जिससे कि उसकी धारा 2 में दी गई “वारिस” की परिभाषा की पूर्ति होती। वह धारा इस प्रकार है :—

“धारा 2 — इस अधिनियम में, विषय या संदर्भ में कोई प्रतिकूल बात न होने पर,

‘वारिस’ से अभिप्रेत है वह व्यक्ति जिसे संपत्ति विरासत में इस अधिनियम के विशेष उपबंधों के अधीन, विधवा के रूप में अन्यथा, मिली है और ‘वसीयतदार’ के अभिप्रेत है ऐसा व्यक्ति जिसे संपत्ति की वसीयत उन्हीं उपबंधों के अधीन की गई है।”

7. अपीलार्थी की ओर से कहा यह गया कि रणधीर के “वारिस” न होने के कारण वह अधिनियम या उसकी धारा 22 इस संपदा की विरासत के विनियमन को कभी लागू नहीं हुई; रणधीर की मृत्यु “वारिस” की मृत्यु नहीं थी; माधव उत्तराधिकारी धारा 22 के अधीन न होकर सनद के अधीन हुआ और वह भी “वारिस” नहीं था और उसकी मृत्यु पर उसकी विधवा को धारा का खंड (7) लागू नहीं होता था। प्रत्यर्थी इस तर्क का विरोध करता है और उसका कहना है कि यह माना जा सकता है कि रणधीर अपने पिता की वसीयत के अधीन उत्तराधिकारी हुआ हो और इससे अधिनियम की धारा 14 लागू हो जाएगी। 1986 में यह धारा 14 इस प्रकार थी :—

“यदि किसी ताल्लुकेदार या अनुदान-गृहीता ने अपनी संपूर्ण संपदा या उसका कोई भाग दूसरे ताल्लुकेदार या अनुदान-गृहीता को, या ऐसे छोटे पुत्र को जो धारा 13 के खण्ड (2) में निर्दिष्ट है, या ऐसे व्यक्ति को जो अंतरणकर्ता या वसीयतकर्ता के अंतरण किए बिना निर्वसीयत मर जाने पर उस अधिनियम में उपबंधों के अनुसार उत्तराधिकारी होता, इसके पहले अंतरित या वसीयत कर दिया है अथवा यदि कोई ताल्लुकेदार या अनुदान-गृहीता का उसका वारिस या वसीयतदार अपनी संपूर्ण संपदा या उसका कोई भाग अब आगे उक्त प्रकार के व्यक्ति को अंतरित या वसीयत कर दे तो अंतरिती या वसीयतदार या उसके वारिसों या वसीयतदारों को जिसका हकदार वह या वे उस अंतरण या वसीयत के आधार पर हों उस संपत्ति के विषय में वही अधिकार और शक्तियां होंगी और वे उसे उन्हीं शर्तों पर और उत्तराधिकार के उन्हीं नियमों के अधीन रहते हुए धारण करेंगे जैसे कि अंतरणकर्ता या वसीयतकर्ता धारण करता था।”

7. प्रत्यर्थी के अनुसार यह धारा रणधीर को उसी स्थिति में रख देती है जो उसके पिता की उस दशा में होती जब वह अधिनियम के अधीन धारण करने के लिए जीवित रहता। अपीलार्थी का कहना है कि इस धारा का प्रस्तुत मामले में अधिकतम प्रभाव यह है कि रणधीर उन्हीं निबंधनों पर

धारण करे जिन पर उसका पिता वस्तुतः धारण करता था, अर्थात् सनद के निबंधनों के अनुसार विचारण न्यायाधीश की राय थी कि धारा 22 माधव के उत्तराधिकार को शासित नहीं करती थी। मुख्य न्यायालय के अपीली न्यायपीठ ने निर्णय किया कि वह लागू होती थी। उन्होंने दो आधारों पर कार्यवाही की : एक तो यह कि माधव धारा 22 के अर्थों में मर्दान का “वारिस” था; दूसरे यह कि धारा 14 ने इस मामले को धारा 22 लागू कर दी। हम इन दोनों आधारों की परीक्षा करेंगे। यदि यह माना जाए कि रणधीर 1863 में अपने पिता का उत्तराधिकारी सनद के निबंधनों के अनुसार विरासत द्वारा हुआ तो यह नहीं कहा जा सकता कि उसे विरासत 1869 के अधिनियम के विशेष उपबंधों के अधीन मिली। वह अपवर्जित केवल तारीख के आधार पर होता है। अधिनियम लागू होने के बाद में सनदें उसकी धारा 3 के अधीन अधिनियम की सृष्टि के रूप में लागू हुईं और हक स्वयं अधिनियम ने प्रदान किया, देखिए — **हर प्रसाद बनाम शिव दयाल** वाला मामला — (1875) 3 इंडियन अपीलस 259 अपीली न्यायपीठ की राय थी कि यह कठिनाई माधव को लागू नहीं होती और “वारिस” से निकटतम वारिस ही अनिवार्यतः अभिप्रेत नहीं है। माधव की मृत्यु धारा 22 की भाषा के अर्थ में “ताल्लुकेदार” के वारिस की मृत्यु थी। प्रश्न फिर भी विनिश्चयार्थ रहेगा कि क्या माधव को विरासत अधिनियम के विशेष उपबंधों के अधीन मिली? यह अधिनियम का ध्यान देने योग्य और आशयित लक्षण है कि उसने “ताल्लुकेदार” शब्द का प्रयोग उस व्यक्ति के अलावा किसी अन्य व्यक्ति के लिए नहीं किया है जो सूची 1 में वर्णित है (धारा 2 व 10 से तुलना कीजिए)। परिणामतः कोई भी बाद के धारक का अधिनियम में उल्लेख “वारिस या वसीयतदार” के रूप में है। यदि धारा 7, 11, 13-16, 18-20, 30 व 31 पर विचार किया जाए तो यह विचार करना शायद ही किसी मामले में युक्तियुक्त हो कि उसमें विनिर्दिष्ट शक्तियां केवल ताल्लुकेदार से अव्यवहित रूप से प्राप्त करने के लिए आशयित हैं, न कि अन्य उत्तराधिकारी के लिए। इसके अतिरिक्त, धारा 7 में शब्द “ताल्लुकेदार का कोई वारिस या वसीयतदार”, धारा 11 में शब्द “ताल्लुकेदार का प्रत्येक वारिस या वसीयतदार”, धारा 13 में शब्द “ताल्लुकेदार का कोई वारिस या वसीयतदार न हो,” धारा 14 में “अंतरिती या वसीयतदार और उसके वारिस और वसीयतदार” शब्द सूची 1 में वर्णित व्यक्ति से अव्यवहित रूप से प्राप्त करने वाले व्यक्ति को कुछ कठिनाई से ही सीमित किए जा सकते हैं। कुछ धाराओं की सामान्य भाषा, जैसे कि धारा 14 में “उन्हीं शर्तों पर तथा उत्तराधिकार के उन्हीं नियमों के अधीन रहते हुए” और धारा 22 में “उन्हीं

शर्तों के अधीन रहते हुए और उसी रीति से जैसे कि संपदा मृतक द्वारा धारित थी”, कुछ मामलों में अन्य धाराएं इस आधार पर पुनः लागू कर सकते हैं कि स्वयं अपनी भाषा के अनुसार केवल अव्यवहित रूप से लेने वाले को लागू होती हैं। किन्तु यह संदिग्ध है कि अंतरण या वसीयत के लिए अधिनियम द्वारा अपेक्षित औपचारिकताएं “शर्तें” शब्द में आ जाती हैं जिसका यह अर्थ करना अधिक निरापद होगा कि वह सनद की शर्तों के संदर्भ में है। किसी दशा में हमारा समाधान हो गया है कि धारा 14 और 22 में शब्द “शर्तें” का आश्रय प्रारूपकार ने इस प्रयोजन से नहीं लिया कि उपर्युक्त अन्य धाराएं ताल्लुकेदार से अव्यवहित रूप से प्राप्त करने वालों के वारिसों को लागू करें। हम मुख्य न्यायालय से सहमत हैं कि अधिनियम की, जैसा कि वह संयुक्त प्रान्त अधिनियम सं. 3 सन् 1910 द्वारा संशोधन के पूर्व था, परीक्षा प्रकट करती है कि संशोधन अधिनियम द्वारा जोड़ा गया निम्नलिखित स्पष्टीकरण उस बात को केवल स्पष्ट कर देता है जो मूल अधिनियम के निर्वचन में विवक्षित थी :—

“स्पष्टीकरण — ताल्लुकेदार या अनुदान-गृहीता.....के प्रति निर्देश से प्रयुक्त ‘वारिस’ और ‘वसीयतदार’ शब्द उस ताल्लुकेदार, अनुदान-गृहीता या व्यक्ति के अव्यवहित वारिसों और वसीयतदारों तक सीमित नहीं हैं।”

8. यह स्पष्टीकरण बड़ी सरल भाषा में है और यह बात लगभग छिपा लेता है कि यदि “वारिस और वसीयतदार” पद का आशय केवल वारिस के वारिस का समावेश करने का ही नहीं है अपितु वसीयतदार के वारिस, वारिस के वसीयतदार और वसीयतदार के वसीयतदार का भी समावेश करने का है तो यह प्रयोग बहुत ढीला है। किन्तु यदि केवल “वारिस” शब्द को लें तो कोई बड़ी कठिनाई नहीं है। व्हार्टन के ला लेक्सिकन में यथापरिभाषित (heir) वारिस शब्द से अभिप्रेत है ऐसा व्यक्ति जो किसी विरासती संपदा का उत्तराधिकारी अवजनन (descent) द्वारा होता है। यह संयुक्त नाम है जिसमें सब वारिस आ जाते हैं और “वारिस” में वारिसों के वारिस भी अनंत रूप में आते हैं। हम मुख्य न्यायालय की अपीली न्यायपीठ से इस विषय में सहमत हैं कि माधव को वारिस माना जाना चाहिए यदि उसे अधिनियम के विशेष उपबंधों के अधीन विरासत मिली हो। उपर्युक्त सामान्य बातों के अतिरिक्त यह प्रथमदृष्ट्या अयुक्तियुक्त है कि जिस मामले में मृतक स्वामी का नाम सूचियों में लिखा गया उसमें अधिनियम के पारित होने के बाद पहला उत्तराधिकारी उसका वारिस नहीं माना जाए भले ही उसने संपदा विरासत द्वारा प्राप्त की हो, न कि अंतरण या वसीयत द्वारा। तत्प्रतिकूल

दृष्टिकोण शाब्दिक अर्थ के चक्कर में अधिनियम के अनावश्यक रूप से विरुद्ध होगा। किंतु यह देखना आवश्यक है कि क्या माधव को अधिनियम के उपबंधों के अधीन विरासत मिली। यदि रणधीर वारिस नहीं था तो यह बलपूर्वक या कम से कम तर्कपूर्वक कहा जा सकता है कि उसकी मृत्यु पर उसका उत्तराधिकार धारा 22 के अंतर्गत नहीं आता। मुख्य न्यायालय को इस आपत्ति का आभास प्रतीत नहीं होता, किंतु हम ऐसा विनिश्चय किए बिना भी यह मानकर चलते हैं कि माधव को उस धारा के अधीन विरासत नहीं मिली। फिर भी प्रश्न यह नहीं है कि वह उस धारा के अधीन उत्तराधिकारी हुआ बल्कि यह है कि क्या उसे संपत्ति इस अधिनियम के विशेष उपबंधों के अधीन विरासत द्वारा मिली। “वारिस” शब्द उन व्यक्तियों तक सीमित नहीं किया जा सकता जो धारा 22 के अधीन उत्तराधिकारी हों। उसका प्रयोग धारा 23 में है और वह प्रत्येक संपदा को लागू होता है जिसका स्वामी सूची 1 में दर्ज था, उत्तराधिकार का नियम कुछ भी रहा हो। हमारे विचार से मुख्य न्यायालय में **अच्छे मिर्जा बनाम अहमद शाह** इ. ला रि. 1 लखनऊ 529 = आ. इ. रि. 1926 अवध 594 में की गई इस उक्ति में सार है कि सूची द्वारा विहित परिसीमाएं वैसे ही उत्तराधिकार के नियम हैं जैसे कि 1869 के अधिनियम की धारा 22 और 23 के उपबंध।

9. अधिनियम की धारा 3 द्वारा इन संपदाओं पर स्वतंत्र अधिकार प्रदान किया गया – स्थायी, विरासत-योग्य और अंतरण के योग्य। सूची 1, 2 व 5 की प्रविष्टियों से ये संपदाएं ताल्लुकेदारी संपदाएं कर दी गईं। यह निश्चित रूप से घोषित कर दिया गया कि अब से उनका उत्तराधिकार ज्येष्ठताक्रम से शासित होगा और अधिनियम के पहले की कुटुम्ब की रूढ़ि यह है कि संपदा एकल वारिस को जाती है। वे उन निर्बन्धनों के संरक्षण की पात्र हो गईं जो अंतरण के विषय में धारा 13, 16, 17, 18 और 20 ने लगाईं।

10. अपीलार्थी के इस दृष्टिकोण पर कि धारा 22 बिल्कुल लागू नहीं होती, सनद के उत्तराधिकार विषयक उपबंधों की अधिनियम की धारा 3 द्वारा पुनः पुष्टि की गई और वे धारा 10 द्वारा पुनः लागू किए गए। यदि माधव के हक को किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा प्रश्नगत किया जाता है जो स्वीय विधि के अधीन दावा करता है कि माधव के साथ उसका भी हिस्सा है तो माधव की रक्षा में अधिनियम सनद के आगे आ जाता। 1869 के बाद के उत्तराधिकारों के विषय में सनद को अधिनियम के विरुद्ध कहना गलत प्रतिस्थापना (anti-thesis) होगी। माधव अधिनियम के उपबंधों के आधार पर उत्तराधिकारी हुआ, जिसमें उत्तराधिकार का ऐसा क्रम विहित है जो

सामान्य हिंदू विधि के लिए अज्ञात है और वह अधिनियम के अर्थों में ताल्लुकेदार का वारिस था। इन कारणों से हम यह निष्कर्ष निकालने को अपने को आबद्ध अनुभव नहीं करते कि प्रस्तुत मामले में संपदाएं अधिनियम की धारा 22 के अधीन कभी नहीं आ सकती थीं। रणधीर 1869 के पहले उत्तराधिकारी हुआ यह इस बात को कहने का दूसरा तरीका है कि सूची 1 में प्रविष्ट नाम मृत व्यक्ति का नाम था। यह सुविदित है कि मृत व्यक्तियों के नामों की ऐसी प्रविष्टियां असामान्य नहीं हैं, देखिए — **शिव सिंह बनाम रघुवंश कुंवर** ***¹ में सर आर्थर विल्सन का निर्णय। उस मामले में निर्णय किया गया कि अधिनियम महेता संपदा को कभी नहीं लागू हुआ। ताल्लुकेदार के समय से 1869 के पूर्व उसमें दो बार न्यागमन हो चुका था और सनद का परिवर्तन भी। किंतु अपीलार्थी के तर्क से अधिनियम का मुख्य आशय ही ऐसे प्रत्येक मामले में निष्फल हो जाएगा जिसमें कि सूची 1 में मृत व्यक्ति का नाम हो। बोर्ड ने यह निष्कर्ष कभी नहीं माना है **मूर्तजा हुसैन खां बनाम मोहम्मद यासीन अली खां**² 43 इंडियन अपीलस 269(280) में प्रथम न्यायालय ने निर्णय किया कि जमशेद अली का नाम सूचियों में गलती से लिखा गया था और परिणामतः कानून उस ताल्लुका को लागू नहीं होता। बोर्ड ने इस दृष्टिकोण को दृढ़ता से नकारा और श्री अमीर अली ने कहा कि अधिनियम के अधिनियमित होने के पूर्व उसकी मृत्यु से उसकी प्रास्थिति या अधिकारों में कोई अंतर नहीं आया। लार्ड लिडले ने **मोहम्मद अब्दुल समद बनाम कुर्बान हुसैन**³ में यह बात स्पष्ट और सही रूप से इस प्रकार कही :—

“धारा 8 में उल्लिखित सूचियों में मृत व्यक्तियों के नामों की प्रविष्टियां अधिनियम द्वारा अनुध्यात नहीं प्रतीत होतीं ; किंतु ऐसी प्रविष्टियां निस्संदेह की गई हैं। यदि वे नाम उन सूचियों में पहले से थे जो कि सपरिषद् आदेश के अधीन बनाई गई थीं, अथवा यदि प्रविष्टियां किसी के पूर्व अर्जित अधिकारों में परिवर्तन न करें तो वे व्यवहार में हानिकार नहीं होती।”

11. किंतु यह सही नहीं है कि प्रस्तुत मामले में निर्णय उपर्युक्त बातों पर ही आधारित होना चाहिए। यदि रणधीर उत्तराधिकारी अपने पिता की वसीयत के आधार पर हुआ तो यह अधिक सही होगा कि उसे वसीयतदार

¹ [1905] 32 इंडियन अपीलस 203 (209).

² ए. आई. आर. 1916 प्रि. कौ. 89.

³ 31 इंडियन अपीलस 30 (37).

माना जाए बजाए इसके कि वह वसीयत के अभाव में उसके उत्तराधिकार के अधिकार पर आधारित किया जाए। यदि उसे वसीयतदार माना जाता है तो उसकी स्थिति अधिनियम की धारा 14 द्वारा शासित होती है। हम अपील की न्यायपीठ के धारा 14 के प्रभाव के विषय में तर्क और निष्कर्ष से पूर्णतः सहमत हैं। ऐसी वसीयत के मामले में जो धारा 14 के प्रारंभिक भूतलक्षी शब्दों में आ जाती है और जो ताल्लुकेदार द्वारा ऐसे व्यक्ति को की गई जो अधिनियम के उपबंधों के अनुसार उत्तराधिकारी होता (यदि वह अधिनियम उत्तराधिकार उपलब्ध होने के समय प्रवृत्त होता) तो (देखिए – **ठकुराइन बलराज कुंवर बनाम राय जगत पाल सिंह**¹ वाला लार्ड मेकनाटन का निर्णय) द्वारा दिया गया परिणाम यह है कि ऐसे व्यक्ति को उस संपत्ति के विषय में वही अधिकार और शक्तियां होंगी और वह उसे उन्हीं शर्तों पर और उत्तराधिकार के उन्हीं नियमों के अधीन धारण करेगा (जैसे कि वसीयतकर्ता धारण करता था)। हमारी राय में इस उपबंध का आशय यह प्रकट करने का था कि ऐसी संपत्ति के विषय में अधिनियम किस प्रकार प्रभावी होगा, न कि केवल मूल सनद के निबंधनों के अधीन और अधिनियम के मुख्य उपबंधों के बाहर की उत्तराधिकार की पद्धति को स्थायी बनाने का। यह प्रश्न आशय का है जिसका निष्कर्ष प्रयुक्त भाषा से निकाला जा सकता है। धारा स्पष्टतः अभिव्यक्त रूप से ऐसे ताल्लुकेदार के विषय में है जिसने अपना हित या उसका कोई भाग अधिनियम के पहले अंतरित कर दिया है। अधिनियम के प्रारूपण में कोई भी त्रुटियां बताई जाएं और उनके कोई भी परिणाम हों, यह कहना कठिन है कि कानून ने जानबूझकर वह उपबंध किया कि धारा 14 के अधीन कुछ मामलों में संपदा सदैव सनद द्वारा उपबंधित साधारण सिद्धांत पर ही चलती रहे और इन मामलों में “अधिकारों और शक्तियों” “शर्तों” और “उत्तराधिकार के नियमों” का निर्देश अधिनियम के विषय उपबंधों में से किसी के प्रति नहीं है। निरसंदेह भूतलक्षी विधायन में कुछ निहित अधिकारों के विषय में व्यावृत्ति विवक्षित मानी जा सकती है। किंतु उसके अधीन रहते हुए धारा भूतलक्षी और भविष्यलक्षी दोनों रूप में लागू होती है जिससे कि एक ही वर्ग की सभी संपदाओं के विषय में परिणाम एक ही हो। वह समान रूप से लागू होती है चाहे अंतरिती निकटतम वारिस, दूसरा ताल्लुकेदार या छोटा पुत्र हो। दूसरे ताल्लुकेदार को अंतरणकर्ता वाले अधिकार देने में अधिनियम की भाषा अनुपयुक्त हो सकती है क्योंकि हो सकता है कि ताल्लुकेदार उत्तराधिकार

¹ [1904] 31 इंडियन अपील्स 132.

के एक ही नियमों से शासित न हों। किंतु धारा का प्रयोजन था कि अर्जन पुरानी संपदा के अनुसार न्यागत हो। इसी प्रकार से धारा में उन व्यक्तियों का समावेश जो अधिनियम के अधीन उत्तराधिकारी होते, इसलिए आशयित है कि ऐसे मामले में संपदा की वही प्रकृति परिरक्षित की जाए जो उस दशा में बनी रहती जब उत्तराधिकार वसीयत के बिना होता। जैसा कि लार्ड मेकनाटन ने ठकुराइन बलराज कुंवर बनाम राय जगत पाल सिंह¹ में स्पष्ट किया :-

“यदि अंतरण या वसीयत ऐसे व्यक्ति को की जाए जो उत्तराधिकार के विहित क्रम में हो तो इस बात के लिए कारण है कि अंतरिती या वसीयतदार को संपदा के उत्तराधिकार के विषय में उसी स्थिति में रखा जाए जिसमें कि अंतरणकर्ता या वसीयतकर्ता था ; किंतु यदि विशिष्ट क्रम में जाने वाली संपदा के ऐसे व्यक्ति को अंतरण या वसीयत द्वारा जो विहित क्रम के बाहर है अंतरण या वसीयत द्वारा उक्त विहित उत्तराधिकारक्रम खंडित किया जाए तो यह अयुक्तियुक्त नहीं लगता कि उक्त क्रम वाला बंधन संपदा को लागू न रह जाए।”

12. हमारी राय में धारा 14 का प्रभाव संपदा को ऐसा अपरिवर्तनीय बनाने का नहीं था जिसे कि अधिनियम में विहित उत्तराधिकार क्रम कभी लागू न हो, बल्कि तत्प्रतिकूल यह था कि रणधीर को, उसके वसीयतदार होते हुए भी, अधिनियम की परिधि में लाया जाए जैसे कि वह सूची 1, 2 व 5 में की संपदा का धारक था। उसके मामले में धारा 22 स्वतः लागू हो या न हो, वह धारा 14 द्वारा लागू हो जाती है। इस दृष्टिकोण से 1906 में रानी देव कुंवर धारा 22 के खंड (7) के अधीन अपने पति की साधिकार उत्तराधिकारिणी थीं। 1895 का क्राउन ग्राण्ट्स ऐक्ट, 1869 के अधिनियम को निरसित नहीं करता और वह इस मामले में लागू नहीं होता। हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि यह अपील खर्च सहित खारिज की जानी चाहिए।

अपील खारिज की गई।

¹ [1904] 31 इंडियन अपील्स 132.

आर. षण्मुग राजेश्वर सेतुपति.....अपीलार्थी

बनाम

चिदम्बरम चेट्टियर और अन्य.....प्रत्यर्थी

(मद्रास उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 51 सन् 1934)

निर्णीत : 27.1.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड मेकमिलन, लार्ड रोश व सर जॉर्ज रैंकिन

वचनपत्र – सबूत का भार – यह साबित करने का भार वचनपत्र के निष्पादी पर होता है कि कोई प्रतिफल नहीं था ।

संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 – धारा 6(घ) – यदि न्यासकर्ता न्यास संपत्ति में से अपने भरण-पोषण के लिए मासिक राशि आरक्षित करता है तो वह राशि इस खण्ड में नहीं आती – वह ऐसा हित है जिसका आडमान (hypothecation) किया जा सकता है ।

संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 – धारा 65 – राजा रामनद द्वारा अपनी जमींदारी आदि के न्यास का 12.7.1895 को सृजन – न्यास के अधीन राजा को अपने भरण-पोषण के लिए 5,500/- रु. मासिक मिलने थे – तत्पश्चात् 1895 व 1896 में उनके द्वारा आडमान बंधपत्र निष्पादित जिनमें उक्त मासिक राशि व कुछ रत्न रहन किए गए – रत्न पहले से एक अन्य लेनदार के पास गिरवी थे – न्यासी द्वारा न्यासकर्ता के ऋणों को चुकाने के लिए आडमानदार के पक्ष में बंधकों का निष्पादन – न्यास के सृजन के पूर्व के ऋण चुका भी दिए गए, किंतु न्यास के सृजन के बाद के नहीं चुकाए गए – उक्त बंधक न्यास के अधीन हिताधिकारियों के विरुद्ध अविधिमान्य घोषित – बंधक विलेखों में आडमान त्यक्त करने का कोई उल्लेख नहीं – बंधकदार का बंधक के आधार पर ऋण की वसूली का वाद खारिज – आडमान के आधार पर वाद में यह तर्क नहीं माना गया कि क्योंकि लेनदार ने बाद के बंधक के आधार पर वाद करने का निर्वाचन कर लिया था अतः वह पूर्व आडमान के आधार पर वाद नहीं ला सकता ।

प्रक्रिया – अभिवचन – आडमान के ऋण की वसूली के लिए वाद में अंतिम प्रक्रम पर यह संशोधन अनुमत कि आडमानकर्ता ने आडमानकृत

रत्नों के पहले गिरवीदार का ऋण चुकाने का वचन दिया था — तदनुसार आडमानकर्ता के विरुद्ध वह राशि चुकाने की भी डिक्री — निर्णय किया गया कि इस प्रकार संशोधन अनुमत नहीं होना चाहिए था — उसके लिए पूरे अभिवचन एवं विचारण की आवश्यकता थी — डिक्री का वह भाग रद्द किया जा सकता है ।

निर्णय

जस्टिस सर जार्ज रैंकिन — इस मामले में तीन अपीलें समेकित की गई हैं । इनमें से दो ब्याज के छोटे प्रश्नों पर हैं, किंतु मुख्य अपील (सिविल प्रकीर्ण अर्जी सं. 4220/1928) में अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं । ये अपीलें 15.4.1905 को मदुरा के अधीनस्थ न्यायाधीश के न्यायालय में दायर किए गए वाद से उद्भूत हुई हैं । मुख्य अपील का अपीलार्थी (जिसे यहां आगे 'अपीलार्थी' कहा गया है) मूल बंधककर्ता का पौत्र है । मूल बंधककर्ता का ज्येष्ठ पुत्र, जो अपीलार्थी का पिता था, वाद में प्रतिवादी सं. 1 था । वाद चलने के दौरान इस प्रतिवादी की मृत्यु हो गई और अब बंधककर्ता का प्रतिनिधित्व अपीलार्थी करता है । एक प्रश्न पर, जो आगे बताया जाएगा, उसका अपना तथा उसके पिता का स्वतंत्र हित है जिसकी उसे रक्षा करनी है । प्रत्यर्थी सं. 8 से 11 तक मुख्य अपील में विरोध करने वाले प्रत्यर्थी हैं । वे वाद के मूल वादी सुब्रह्मण्यम चेदित्यर के प्रतिनिधि हैं । वह मूल बंधकदार रामनाथन चेदित्यर का पुत्र और उत्तराधिकारी था । मद्रास उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायाधीश की 12.9.1917 की डिक्री कुछ उपांतरित कर दी है । उच्च न्यायालय ने अपनी 26.4.1928 की डिक्री द्वारा वे 11 अपीलें निपटाईं जो विभिन्न पक्षकारों ने की थीं । हमारा संबंध उच्च न्यायालय में की गई अपीलों में से केवल दो से है : अपील सं. 26 सन् 1918, जो वर्तमान अपीलार्थी ने की थी, और अपील सं. 106 सन् 1918, जो वादी ने की थी । वाद तीन प्रतिभूतियों के प्रवर्तन के लिए था । ये प्रतिभूतियां आडमान बंधपत्र या विलेख कही गई हैं । इनमें से पहला 21.11.1895 का, दूसरा 16.11.1896 का और तीसरा 25.11.1896 का है । वे अपीलार्थी के पितामह द्वारा, जो तब रामनद के राजा थे, रामनाथन चेदित्यर को दिए गए थे । वे क्रमशः 24,000/- रु., 71,000/- रु. व 35,000/- रु., अर्थात् कुल 1,30,000/- रु. के लिए थे । प्रत्येक बंधपत्र पर ब्याज की दर 12 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी ; किंतु केवल पहले दो बंधपत्रों में ब्याज का आकलन चूक की तारीख से वार्षिक विराम सहित चक्रवृद्धि ब्याज के रूप में किया जाना था । पहले और द्वितीय बंधपत्र के अधीन बंधक के

विषय थे कुछ रत्न, जो पहले से अन्नामलाई नामक एक साहूकार के पास गिरवी थे तथा 12.7.1895 के एक न्यास विलेख के अधीन राजा का 5,500/- रु. वार्षिक भत्ता । यह न्यास विलेख स्वयं राजा ने निष्पादित किया था और उसका आगे वर्णन है । तीसरे बंधपत्र के अधीन वे रत्न और कुछ फर्नीचर, जिसकी बाबत अब कोई प्रश्न नहीं है, प्रतिभूतिस्वरूप दिए गए थे ।

2. वादी के इन बंधपत्रों के अधीन दावाकृत 1,30,000/- रु. के मूलधन के अधिकार पर अपीलार्थी ने आपत्ति की । कहा यह गया कि उसमें की 15,000/- रु. की राशि, जो द्वितीय बंधपत्र में उल्लिखित 71,000/- रु. में समाविष्ट है, प्रतिफल-रहित थी, क्योंकि वह राजा के पिता के परिसीमावर्जित ऋण की राशि थी, जिसके लिए राजा ने 25.11.1895 को एक वचनपत्र दिया था । अपीलार्थी की ओर से आपत्ति यह है कि जनवरी, 1903 में कमीशन पर दिए गए राजा के बयान से यह तो साबित होता है कि वचनपत्र दिया गया किंतु यह साबित नहीं होता कि नया अग्रिम देने का कोई करार था । अतः द्वितीय बंधपत्र के मूलधन का यह भाग वसूलनीय नहीं है जब तक कि वह संविदा अधिनियम की धारा 25 के खण्ड (3) के अंतर्गत नहीं आ जाता । कहा यह गया कि वह इस खण्ड में नहीं आता क्योंकि वह बंधककर्ता का ऋण न होकर उसके पिता का ऋण था । हमारी राय में भारत के न्यायालयों ने यह आपत्ति सही तौर पर अमान्य की है । जब वचनपत्र दिया गया तो उपधारणा प्रतिफल के पक्ष में होगी । अतः प्रश्न यह नहीं है कि क्या वादी ने औपचारिक तथा पर्याप्त रूप से साबित कर दिया है कि नए उधार के लिए कोई करार था बल्कि यह है कि क्या अपीलार्थी ने यह पर्याप्त रूप से दिखा दिया है कि वचनपत्र के लिए कोई प्रतिफल नहीं था । इस भार का निर्वहन अपीलार्थी ने निश्चय ही नहीं किया है और इस प्रश्न पर पूरी अधिसंभाव्यता उसके विरुद्ध है । अतः हमारे लिए यह विनिश्चय करना आवश्यक नहीं है कि वह ऋण जो लेनदार बंधककर्ता के विरुद्ध प्रवर्तित करा सकता था उपर्युक्त धारा 25 के खण्ड (3) से इस परिस्थिति के कारण निकल जाएगा कि वह स्वयं उसका अपना ऋण नहीं था । यदि यह प्रश्न, जो अब उठता नहीं है, यहां चर्चा का विषय नहीं बनता तो यह नहीं समझा जाना चाहिए कि हम उच्च न्यायालय द्वारा अपनाए गए मत में संदेह उत्पन्न कर रहे हैं । हमारा समाधान हो गया है कि वादगत बंधपत्र पर देय मूलधन 1,30,000/- रु. है, जैसी कि भारतीय न्यायालयों ने डिक्री दी ।

3. अगला प्रश्न यह है कि क्या वादगत बंधपत्र रत्नों पर और पूर्वोक्त भत्ते पर विधिमान्य भार प्रदान करते हैं। इस प्रश्न पर यह आवश्यक है कि 12.7.1895 के समझौते का हवाला दिया जाए (जिसे यहां आगे “समझौता” कहा गया है)। तत्कालीन राजा पर ऋण का भार बहुत बढ़ गया था। इस विलेख की अनुसूची 3 में उसके लेनदारों की सूची दी हुई है जिससे प्रकट होता है कि उसका कुल ऋण 20 लाख रुपए का था। उसकी रामनद की अविभाज्य जमींदारी बहुत बड़ी थी जिसका क्षेत्रफल 2351 वर्गमील से कम नहीं था। यह बहुत-सी अन्य संपत्ति, जिनका कुल मूल्य 50 लाख रुपए था, उसने एक न्यासी को हस्तांतरित कर दी कि वह उसके उत्तराधिकारी और बड़े पुत्र के (जो तब अवयस्क था) फायदे के लिए हो और इस प्रयोजनार्थ भी कि अनुसूची 2 में यथावर्णित व्यवस्थापक और उसके कुटुम्ब के अनेक सदस्यों के भरण-पोषण की व्यवस्था हो। न्यासी को निदेश था कि वह सरकारी राजस्व, प्रबंध, मुकदमेबाजी और मरम्मत के कुछ खर्चे अदा करे। पांचवें स्थान पर इसे निदेश था कि अपने हाथ के धन का उपयोग अनुसूची 3 में वर्णित ऋणों के ब्याज और मूलधन की अदायगी के लिए करे और तत्पश्चात् अनुसूची 2 में वर्णित भत्तों के लिए। यह उपबंध किया गया कि व्यवस्थापक के बड़े पुत्र के 21 वर्ष के हो जाने पर न्यासी को चाहिए कि उस समय विद्यमान न्यास परिसर उसे हस्तांतरित कर दे और वह उसी रूप में जैसे कि वे उसे विरासत में मिले हों, किंतु यह उन विभिन्न अदायगियों के अधीन रहते हुए होगा जिनका निदेश विलेख में है और उन विभिन्न न्यासों के भी अधीन होगा जो उस समय चल रहे हों। अनुसूची 2 में वर्णित भत्तों में पहला भत्ता स्वयं व्यवस्थापक के लिए 5,500/- रु. मासिक का है। अनुसूची 3 में लेनदारों में वादी के पिता रामनाथन (मुठिया) चेट्टियर का भी उल्लेख 1,30,000/- रु. के लेनदार के रूप में है। यह ऋण 1,30,000/- रु. की उस राशि से बिल्कुल अलग है जो अब वादगत बंधपत्रों पर देय है। लेनदार अन्नामलाई का उल्लेख भी 75,000/- रु. के लेनदार के रूप में है। किंतु इस विलेख में इस बात का कोई वर्णन नहीं है कि अन्नामलाई किन्हीं रत्नों का गिरवीदार है।

4. अपीलार्थी का तर्क है कि यद्यपि रत्न 12.7.1895 के विलेख में विनिर्दिष्ट तौर पर उल्लिखित नहीं है किंतु उसके खण्ड 5 की भाषा इतनी व्यापक है कि ये रत्न उसमें आ सकते हैं, क्योंकि राजा का अधिकार केवल मोचन का अधिकार था। खण्ड 5 बहुत लम्बा है। उसकी परीक्षा करके हमारी राय है कि रत्न उसकी भाषा में नहीं आते। वे “अब शोध्द बकाया

या देय दावे" (claims now due, owing or payable) नहीं हैं और "कोई वाद या अन्य कार्यवाही चलाने के सब अधिकार" तथा धन की प्रतिभूतियाँ, फर्नीचर, फिक्शचर तथा अन्य वस्तुएं जो जमींदारी के कार्यालय में हैं, जैसी सामान्य भाषा हमारी राय में उन्हें लागू नहीं होगी। व्यवस्थापक इन रत्नों का स्वामी था और वे उसने गिरवी के रूप में दे दिए। उनके मूल्य को तथा व्यवस्थापक की दृष्टि में उनके महत्व को और उनके स्वामित्व की प्रकृति को देखते हुए हमें भारत के न्यायालयों से सहमत होने में कोई कठिनाई नहीं है कि व्यवस्थापन में रत्न शामिल नहीं थे। व्यवस्थापन विलेख के संबंध में दूसरा प्रश्न है कि खण्ड 3 द्वारा वर्णित राजा का 5,500/- रु. मासिक का भत्ता, जिसकी व्यवस्था उसके भरण-पोषण के लिए की गई बताई गई थी, 1899 में यथाविद्यमान संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 6 के खण्ड (घ) में आ जाता है। खण्ड (घघ) विधान मंडल ने 1929 में जोड़ा। वह प्रस्तुत मामले को लागू नहीं होता। खण्ड (घ) इस प्रकार है :-

“(घ) सम्पत्ति में ऐसा हित, जो स्वयं स्वामी तक ही उपभोग के लिए निर्बंधित हो, उसके द्वारा अंतरित नहीं किया जा सकता।”

5. प्रस्तुत मामले में राजा को संपत्ति में स्वामित्व के पूर्ण अधिकार थे। यह उसने न्यासी को इस न्यास पर दे दिए कि अन्य बातों के साथ-साथ वह उसे 5,500/- रु. मासिक का यह भत्ता दे। निःसंदेह विलेख में यह स्पष्ट कर दिया गया कि यह उसके भरण-पोषण की व्यवस्था के लिए है। हमारी राय में यह खण्ड (घ) के अर्थों में निर्बंधित हित नहीं है। नवीन खण्ड में प्रयुक्त भाषा है “भावी भरण-पोषण का अधिकार चाहे वह किसी भी रीति से उद्भूत, प्रतिभूत या अवधारित हो.....।” इसमें जो भी कठिनाई हो, हमारा समाधान हो गया है खण्ड (घ) की व्याप्ति अत्यधिक बढ़ जाएगी यदि प्रस्तुत मामला उसमें शामिल माना जाए। तदनुसार हमारा विचार है कि आडमान बंधपत्र इस भत्ते पर विधिमान्य भार का सृजन करते हैं।

6. वादगत बंधपत्रों पर अपीलार्थी का एक अन्य आक्षेप भी है। यह इस बात से उत्पन्न होता है कि 6.7.1899 को (रामनाथन चेट्टियर की मृत्यु 1898 में हो जाने के बाद) 1895 के व्यवस्थापन के अधीन न्यासी ने सुब्रह्मण्यम चेट्टियर के पक्ष में 4,73,000/- रु. का एक बंधक विलेख लिखा, जिसका आशय राजा द्वारा व्यवस्थापन विलेख के पहले से देय राशियों को और बाद में उधार ली गई राशियों को शामिल करने का था। 13.7.1899 को “धान बंधक” कहा गया एक और बंधक दिया गया जो

50,000/- रु. में से 30,000/- रु. की अदायगी प्रतिभूत करने के लिए था जो कि 6.7.1899 के बंधक के अनुसार एक सप्ताह के भीतर अदा किए जाने थे । ये बंधक 1897 में रामनाथन चेट्टियर द्वारा किए गए वाद के समझौते में दिए गए, जिसमें 12.7.1895 के व्यवस्थापन की विधिमान्यता को प्रश्नगत किया गया था । 7.10.1899 तक न्यासियों ने रामनाथन चेट्टियर को या उसके उत्तराधिकारी हुए उसके पुत्र को वह पूरी राशि ब्याज सहित अदा कर दी जो राजा द्वारा रामनाथन चेट्टियर को व्यवस्थापन विलेख के समय देय थी । किंतु उन्होंने उस ऋण का कोई भाग नहीं चुकाया जो उस विलेख की तारीख के बाद लिया गया था, सिवाय इसके कि रामनाथन को 20,000/- रु. नकद दिए थे और कुछ राशि उसने धान बंधक के अधीन प्राप्त की थी, जो राशियां राजा के व्यवस्थापन के बाद के ऋणों को चुकाने के लिए थीं । इस स्थिति में सुब्रह्मण्यम चेट्टियर ने 30.1.1900 को दो वाद दाखिल किए कि 6.7.1899 के बंधक तथा 13.7.1899 के धान बंधक के अधीन प्रतिभूति को प्रवर्तित कराए, जिससे कि वह राजा द्वारा व्यवस्थापन के बाद लिए गए ऋण की बकाया वसूल कर सके । किंतु इसके प्रतिकूल राजा के पुत्र ने एक अन्य वाद (सं. 6 सन् 1902) रामनाथन के प्रतिनिधियों तथा न्यासियों के विरुद्ध दाखिल कर दिया जो इस घोषणा के लिए था कि 6 और 13 जुलाई, 1899 के बंधक व्यवस्थापित संपदा के विरुद्ध अविधिमान्य थे । यह वाद भारत के न्यायालयों में, और सपरिषद् हिज मैजेस्टी को अपील में भी, सफल हुआ (16.11.1915) देखिए – **सुब्रह्मण्यम बनाम राजा राजेश्वर दोराई**¹ – सुब्रह्मण्यम को निदेश दिया गया कि 39,087/- रुपए वापस करे । यह 20,000/- रु. की नकद राशि तथा धान बंधक के अधीन प्राप्त राशि थी । 7.10.1899 को व्यवस्थापनपूर्व के ऋण की बाबत उसने जो 87,421/- रु. की राशि प्राप्त की थी वह लौटाने का आदेश नहीं हुआ । वह व्यवस्थापन के निबंधनों के अंतर्गत था कि इस ऋण का उन्मोचन किया जाए । केवल यह परिस्थिति कि वह इतना शीघ्र अदा नहीं की जाती यदि वह जुलाई, 1899 के बंधक करने के लिए सहमत नहीं होता इस बात के लिए पर्याप्त नहीं मानी गई कि आदेश दिया जाए कि यह राशि वह वापस कर दे । अपीलार्थी का तर्क है कि इन परिस्थितियों में वादी सुब्रह्मण्यम चेट्टियर ने वादगत आडमान बंधपत्रों का आशय लेने का अधिकार खो दिया, क्योंकि 1,900/- में उसने यह कि जुलाई, 1899 के बंधकों के आधार पर वाद

¹ ए. आई. आर. 1915 प्रि. कौ. (33) = इंडिया ला रिपोर्ट्स 39 मद्रास 115.

लाना चाहा था । 6 जुलाई में बंधक का खंड 12 इस प्रकार है :-

“12. यहां उपबंध के सिवाय, इस विलेख द्वारा प्रतिभूत संपूर्ण राशि या उसका कोई भाग या उसके कोई भाग वसूल करने के आपके अधिकार इस विलेख द्वारा प्रभावित नहीं होंगे । आज की तारीख से आपके राजा एम. भास्कर सेतुपति अवर्गल को देय भत्ते पर आपका धारणाधिकार या भार, जो उक्त व्यवस्थापन विलेख के अधीन देय राशि के किसी भाग या भागों के लिए हो, इस विलेख के अधीन समाप्त हो जाएगा । इस विलेख के पैरा 5 और 6 में वर्णित 1,81,727/- रु. 2 पैसे तथा 1,25,000/- रु. और उन दो राशियों पर ब्याज की अदायगी होने पर इस लिखत द्वारा सृजित प्रतिभूति से भिन्न सभी प्रतिभूतियां समाप्त हो जाएंगी ।”

7. इस खंड के संबंध में पहला प्रश्न है कि क्या राजा के भत्ते पर वादी का भार उन्मोचित करने का आशय था और बंधक विधिमान्य था या नहीं, अर्थात् क्या उसने अपनी पुरानी प्रतिभूति इस आधार पर छोड़ दी कि उसे नई प्रतिभूतियां मिल रही हैं या इस संभावना के होते हुए भी कि नई प्रतिभूति न मिले । हमारी राय में, वादी का आशय इस बात से समग्र रूप से विफल हो गया कि 6.7.1899 का बंधक अविधिमान्य ठहराकर अपारत कर दिया गया । ऐसा मामला संभव है जिसमें कि बंधकदार एक प्रतिभूति को शर्त-रहित ढंग से इस आशय से उन्मुक्त कर देता है कि वह नई प्रतिभूति के अविधिमान्य ठहराए जाने का खतरा लेगा । किंतु इस मामले में कोई तथ्य नहीं है जो ऐसे अप्राथिक लाभ के आशय का संकेत करे । परिणामतः भत्ते के संबंध में तर्क असफल होता है । **हर चंदी लाल बनाम शिव राज सिंह**¹ में इस तर्क का पूर्ण उत्तर दिया गया है कि न्यास के अधीन हिताधिकारी 6.7.1899 के बंधक के फायदे का दावा कर सकता है कि आडमान बंधपत्र भत्ते के संबंध में उन्मुक्त हो गया । अपीलार्थी का तर्क है कि क्योंकि वादी ने व्यवस्थापन विलेख के पहले लिए गए ऋणों की बाबत उसे देय राशि प्राप्त कर ली थी और जब राजा के पुत्र ने बंधक को शून्य कराने का निर्वाचन किया तब यह निदेश नहीं दिया गया था कि वह राशि वापस करे, अतः वह अब दावा कर सकता है कि बंधक पूर्ण रूप से अपारत नहीं किया गया । यह तर्क हम अमान्य करते हैं । अपीलार्थी बंधक विलेख का कोई एक खण्ड अलग से लेकर वादी को उसके निबंधनों से आबद्ध करने का दावा नहीं कर सकता और इस प्रकार यह नहीं कह सकता कि

¹ 44 इंडियन अपीलस 60 = ए. आई. आर. 1916 प्रि. कौ. 68.

भत्ते पर भार का उन्मोचन विधिमान्य और अस्तित्वशील उन्मोचन है ।

8. प्रकट यह होगा कि खण्ड 12 द्वारा यह अभिव्यक्त रूप से उपबंधित है कि वादी की भत्ते के अतिरिक्त वर्तमान प्रतिभूतियां विलेख से प्रभावित नहीं होनी चाहिए । इस अभिव्यक्त करार के अनुसार आडमान बंधपत्र और 6.7.1899 का अविधिमान्य बंधक संचयी (क्यूम्यूलेटिव) और स्वतंत्र प्रतिभूत थे । इन प्रतिभूतियों में से निर्वासन का प्रश्न इस मान्यता पर भी नहीं उठ सकता था कि बाद वाला बंधक विधिमान्य था और अब तो उठ ही नहीं सकता क्योंकि बंधक अपास्त कर दिया गया है । जैसा कि **मिलन बनाम वाल्टन**¹ में पृष्ठ 361 पर वाइस चांसलर ने कहा है, पूर्ववर्ती बंधक दूसरा होते हुए भी प्रवृत्त रहता है और उसका दर्जा बना रहता है और उसके संबंध में लेनदार अलग से व्यवहार कर सकता है । **शंकर स्वरूप बनाम मेजो मल**² में लार्ड रावर्ट्सन द्वारा सुनाए गए बोर्ड के निर्णय के पृष्ठ 209-10 पर निम्नलिखित पैरा अपीलार्थी के इस मामले में तर्क का संभवतः और संपूर्ण उत्तर प्रकट करता है :—

“यदि नवम्बर, 1889 के बंधपत्र पर विचार स्वयं उसकी भाषा देकर किया जाए तो यह कहने के लिए कोई अवसर नहीं है कि उसने मई के बंधपत्र को अधिकांत कर दिया जिससे कि वह बंधपत्र पर वाद न करके नवम्बर के वादपत्र पर वाद करके अपीलार्थियों ने मई के बंधपत्र के अधीन अपना अधिकार त्यक्त कर दिया था । विधितः ऐसा कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता । अपने संपूर्ण ऋण के निमित्त विक्रय कराने के लिए अपीलार्थियों को आवश्यकता नहीं थी कि मई के बंधपत्र पर वाद लाएं क्योंकि संपूर्ण ऋण नवम्बर के बंधपत्र में समाविष्ट था । किंतु नवम्बर के बंधपत्र पर वाद करने में उन्होंने ऐसा कुछ नहीं किया जिससे यह विवक्षित हो या दूसरों को यह विश्वास हो कि उन्होंने वह परित्यक्त कर दिया जो परित्याग के बिना अस्तित्व शील आडमान था ।”

9. इन कारणों से हमारा निष्कर्ष है कि वादगत बंधपत्रों में समाविष्ट वस्तुओं पर वादी का अपने ऋण के मूलधन तथा ब्याज का विधिमान्य भार था । इन प्रश्नों पर अपीलार्थी की आपत्तियों को विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश के प्रशंसनीय निर्णय में सही तौर पर नामंजूर किया है, जिसकी पुष्टि उच्च

¹ [1843] 2 वाई. एण्ड सी. सी. सी. 354.

² [1901] 28 इंडियन अपील्स 203.

न्यायालय ने भी की। किंतु हमारे विचार से एक विषय में अपीलार्थी ने भारतीय न्यायालय द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण पर अपनी गंभीर आपत्ति सिद्ध की है। प्रस्तुत वाद 1905 में चलाया गया और उसमें विवाद्यकों का स्थिरीकरण 24.11.1906 को हुआ तथा अतिरिक्त विवाद्यक को 3.9.1910 को सुलझाया गया। मामले की सुनवाई 1917 में हुई और 25.8.1917 को निर्णय आरक्षित कर लिया गया। उस दिन वादी ने एक अर्जी दी जिसमें उसने वादपत्र में यह प्रार्थना जोड़कर संशोधन करने की इजाजत चाही कि प्रतिवादी सं. 1 अर्थात् राजा के पुत्र को आदेश दिया जाए कि प्रतिवादी सं. 4 को, अर्थात् अन्नामलाई के प्रतिनिधि को, ऋण मध्ये देय 60,000/- रु. तथा ब्याज अदा कर, जिसकी बाबत अन्नामलाई ने रत्न अपने पास गिरवी रखे थे और अनुकल्पी तौर पर, वादी के अन्नामलाई की अदायगी करने पर वादी को घोषित किया जाए कि वह उक्त राशि की वसूली के लिए व्यवस्थापित संपत्ति का विक्रय कराने का हकदार है। विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने यह मत अपनाया कि चाहा गया संशोधन औपचारिक है और यदि वादी अभिलेख में विद्यमान तथ्यों पर उस अनुतोष का हकदार है, जिसका उसने दावा किया, तो उससे यह नहीं कहा जाना चाहिए कि उसने वह मांगा नहीं था अतः वह उसे नहीं दिया जा सकता। विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश की डिक्री के दूसरे खण्ड में निदेश था कि राजा का पुत्र अन्नामलाई को, जिसका 60,000/- रु. का ऋण ब्याज जोड़कर 2 लाख से ऊपर का बताया गया, अदायगी करे और यह आदेश दिया कि वह अदायगी न होने पर वादी इस बात का हकदार होगा कि उक्त राशि की तुष्टि के लिए व्यवस्थापित संपत्ति का विक्रय करा दें। उन्होंने यह भी निदेश दिया कि यदि प्रतिवादी सं. 1 ने अन्नामलाई का ऋण नहीं चुकाया तो वादी न्यायालय में धन लाकर अन्नामलाई के पास के रत्न और कुछ प्रतिभूतियां प्राप्त कर ले। विद्वान् न्यायाधीश प्रत्यासन (सब्रोगेशन) के सिद्धांत के आधार पर अग्रसर हुए। अपील में उच्च न्यायालय ने यह पाया कि तब तक अन्नामलाई ने अपना ऋण समापन करने के लिए रत्न बेच दिए थे, अतः उन्होंने उसकी बाबत कोई आदेश नहीं किया और अधीनस्थ न्यायाधीश की डिक्री में से तद्विषयक निदेश काट दिए। अपने पिता एवं मूल ऋणी के प्रतिनिधियों के रूप में प्रतिवादी सं. 1 और 2 के विरुद्ध उच्च न्यायालय ने अपनी डिक्री के खण्ड 1 द्वारा निर्णय दिया कि उनको यदि पिता की कोई आस्तियां मिली हैं तो उनमें से बंधक ऋण चुकाए जाएं और डिक्री के द्वितीय खण्ड में निम्नलिखित निदेश दिया गया :—

“(2) 2.3.1928 (26.4.1928) उच्च न्यायालय के निर्णय की तारीख से 6 मास के भीतर, अर्थात् 2.9.1928 (26.10.1928) तक तथा पूर्वोक्त अदायगी प्रतिवादी सं. 1 द्वारा न की जाने पर वादी हकदार होगा कि न्यायालय को आवेदन दे कि उपर्युक्त खण्ड (1) में वर्णित राशि की तुष्टि के लिए प्रतिवादी सं. 1 के हाथ की संपदा या उसका पर्याप्त भाग बेच दिया जाए ।”

10. इस खण्ड का परिणाम यह है कि व्यवस्थापित संपत्ति वादी के आडमान बंधपत्रों पर पूरे दावे की देनदार हो गई । क्योंकि व्यवस्थापक के पुत्रों को 12.7.1895 के व्यवस्थापन विलेख के अधीन मिलने वाली संपत्ति उसकी मृत्यु की तारीख को व्यवस्थापक की आस्ति नहीं थी अतः उस निदेश का औचित्य ठहराना आवश्यक है जो राजा के व्यवस्थापन के बाद के ऋण न्यास संपत्ति पर डाल देता है । उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों का यह विचार प्रतीत होता है कि अन्नामलाई और वादी का संबंध प्रधान और प्रतिभू जैसा है । यह तुलना हमारे विचार से प्रस्तुत मामले में बिल्कुल लागू नहीं होती । हमें ऐसा कोई तरीका प्रतीत नहीं होता जिससे यह संभव हो कि वादी के संपूर्ण ऋणों के लिए न्यास संपदा को देनदार बनाने की डिक्री को औचित्य प्रदान हो । किंतु वादी के प्रतिनिधियों की ओर से बहस की गई कि व्यवस्थापक के रूप में राजा को न्यासी के विरुद्ध अधिकार प्राप्त था कि उनसे अपेक्षा करे कि अन्नामलाई का ऋण चुकाए तथा वादगत बंधपत्रों द्वारा उसने यह व्यक्त किया था कि वादी को रत्नों के संपूर्ण मूल्य पर भार प्राप्त होगा क्योंकि अन्नामलाई की अदायगी न्यास संपदा कर देगी, तदनुसार वादी को व्यवस्थापक के साम्यापूर्ण समनुदेशिती होने के नाते अधिकार था कि न्यासी से अपेक्षा करे कि अन्नामलाई का ऋण चुकाए और इस प्रकार वादी को वह प्रतिभूति उपलब्ध करे जो देने का राजा ने करार किया था । ऐसा हो या न हो, बताए गए प्रकार से मामला सफल हो सकता था यदि ऐसे वाद हेतुक का अभिवचन किया जाता और ऐसा साक्ष्य दिया जाता जो प्रकट करता कि विलेख के अधीन न्यासी ने क्या किया, क्या धन उसे उपलब्ध था, किन बाध्यताओं के लिए उसे व्यवस्थापित संपत्तियों में से व्यवस्था करनी थी, उसने किस विवेकाधिकार का प्रयोग किया, आदि आदि । किंतु ऐसे मामले के लिए सतर्क और यथासमय अभिवचन और सतर्क विचारण की आवश्यकता होगी । सारतः यह न्यास-भंग का आरोप है, जिसका परिणाम न्यासी और अन्य हिताधिकारियों दोनों के लिए गंभीर होते हैं । सबसे पहले यह अवधारण करना आवश्यक होगा कि क्या न्यासी पर कोई बाध्यता थी कि अन्नामलाई

के ऋण की अदायगी संपत्ति की आय से करने के अलावा करे और न्यास के प्रशासन के क्रम में घटित होने वाली घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में सूक्ष्म परीक्षा करनी होगी। इस वाद में हुआ यह कि अंतिम क्षण में एक संशोधन की अनुज्ञा दे दी गई, जिसके अधीन, इस प्रक्रिया पर प्रत्यक्ष आपत्तियां होते हुए भी, इतना व्यापक और अपवादिक प्रकृति का अनुतोष परीक्षा के बिना ही डिक्री कर दिया गया। अधीनस्थ न्यायाधीश द्वारा अपने 28.8.1917 के आदेश द्वारा प्राधिकृत संशोधन में वह नहीं आता जो उच्च न्यायालय ने किया है। हमारी राय में ऐसा कोई कथन विचारण के अंत में संशोधन के रूप में ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए था और वादी का वादगत बंधपत्रों के आधार पर अपने को देय ऋण के लिए न्यास संपदा को उत्तरदायी बनाने का प्रयास बिल्कुल अमान्य किया जाना चाहिए।

11. अब केवल यह बचता है कि हम बता दें कि उस अनुतोष का स्वरूप क्या होगा जिसका हकदार वादी हमारे विचार से है। इस विषय में पहला प्रश्न अंतरिम ब्याज का है। प्रथम और द्वितीय बंधक के अधीन बहुत से वर्षों के लिए 12 प्रतिशत प्रतिवर्ष के चक्रवृद्धि ब्याज की और तृतीय बंधपत्र के अधीन उसी तरह से सादे ब्याज की डिक्री दी जानी चाहिए। इसमें वाद संस्थित किए जाने तक की अवधि आ जाती है। ब्याज की बड़ी राशि संचित हो जाने के कारण विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश इस बात के हकदार थे कि अंतरिम ब्याज के विषय में एक असाधारण आदेश देने के अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करें। उन्होंने निदेश दिया कि अंतरिम ब्याज केवल मूलधन पर होगा और वह 6 प्रतिशत की दर से होगा और यह वाद की तारीख तथा डिक्री की तारीख के बीच की अवधि तथा डिक्री की तारीख और अदायगी की तारीख के बीच की अवधि के लिए होगा। उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों द्वारा विचारण न्यायालय के आदेश के ठीक आशय को समझा गया प्रतीत नहीं होता है। उन्होंने डिक्री की तारीख से केवल मूलधन पर 12 प्रतिशत का साधारण ब्याज मंजूर करके वह आदेश परिवर्तित कर दिया। हमारे विचार से विचारण न्यायाधीश के विवेकाधिकार के प्रयोग में हस्तक्षेप के लिए कोई कारण नहीं था और उस मामले की सभी परिस्थितियों को देखते हुए हम विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश के आदेश को पसंद करते हैं।

12. परिणामतः हमारे विचार से 10.6.1932 के सपरिषद् आदेश द्वारा दी गई विशेष इजाजत के अनुरूप में रामनाथन चेट्टियर तथा अन्य द्वारा की गई अपील खारिज की जानी चाहिए और अन्य दो अपीलें (जो प्रतिवादी सं. 1 के प्रतिनिधि द्वारा की गई) मंजूर की जानी चाहिए। उच्च न्यायालय

की डिक्री में यह परिवर्तन किया जाना चाहिए कि 1,30,000/- रु. के मूलधन की राशि पर 6 प्रतिशत की दर से साधारण ब्याज वाद की तारीख से अदायगी की तारीख तक दिलाया जाना चाहिए । “दिवंगत राजा एम. भास्कर सेतुपति की मृत्यु की तारीख को उनके स्वामित्व की आस्तियों (यदि कोई हों) में से जो प्रतिवादी 1 और 2 को मिली” शब्दों के स्थान पर ये शब्द रखे जाने चाहिए : “दिवंगत राजा एम. भास्कर सेतुपति की उन आस्तियों (यदि कोई हों) में से जो प्रतिवादी सं. 1 और 2 के हाथ में हैं ।” इससे स्पष्ट हो जाएगा कि निर्णय सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 52 द्वारा विहित रूप से देने का आशय है । राजा के ऋणों के लिए संहिता की धारा 53 में वर्णित सिद्धांत के आधार पर पुत्रों के दायित्व का प्रश्न इस मामले की डिक्री से अप्रभावित रहेगा और यदि वह निष्पादन में उठे तो उस पर विचार किया जाना चाहिए । उच्च न्यायालय की डिक्री का खण्ड 2 बिल्कुल हटा दिया जाना चाहिए । क्योंकि रत्नों के मोचन में हितबद्ध सभी व्यक्ति वाद में पक्षकार बनाए गए थे, अतः सुब्रह्मण्यम चेट्टियर के प्रतिनिधियों को स्वतंत्रता मिलनी चाहिए कि उच्च न्यायालय में उस तारीख से दो मास के भीतर जब कि उस न्यायालय को इस अपील में हिज मैजेस्टी के आदेश की प्रति मिले, आवेदन दें कि अन्नामलाई को रत्नों की प्रतिभूति पर देय राशि का और उसके विक्रय धन के रूप में मुजरा की जाने वाली राशि का हिसाब लिया जाए । आवश्यक हिसाब लिए जाने और जांच किए जाने के लिए निदेश देना उच्च न्यायालय का कार्य होगा । हितबद्ध पक्षकार होने के नाते अपीलार्थी को अधिकार होना चाहिए कि यदि कोई कार्यवाही हो तो उसमें भाग लें ; किंतु आवेदन करने की स्वतंत्रता केवल सुब्रह्मण्यम के प्रतिनिधियों को दी जानी चाहिए । अपीलकृत डिक्री अन्य बातों के संबंध में कायम रहनी चाहिए । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह तदनुसार है । विचारण न्यायालय का अपील सं. 106 के खर्चे के संबंध में आदेश भी कायम रहेगा । अपील सं. 26 में उच्च न्यायालय के खर्चे के विषय में कोई आदेश नहीं होगा और उस अपील की बाबत उच्च न्यायालय की डिक्री के अधीन दी गई कोई राशि लौटाई जानी चाहिए । हिज मैजेस्टी को की गई तीनों अपीलों का अपना-अपना खर्चा पक्षकार स्वयं वहन करे ; किंतु इससे 10.6.1932 के सपरिषद् आदेश में विशेष इजाजत की अर्जी के खर्चे के विषय में दिए गए निदेश में हस्तक्षेप नहीं होगा ।

डिक्री उपान्तरित की गई ।

लाला करम चन्द और एक अन्य.....अपीलार्थी

बनाम

फर्म मियां मीर अहमद, अजीज अहमद और एक अन्य.....प्रत्यर्थी

(पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत के न्यायिक आयुक्त के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ.
अपील सं. 6 सन् 1937)

निर्णीत : 31.1.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड मैकमिलन, सर जार्ज लाउंडेस व सर शादी लाल

परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 (निगोशिएबिल इंस्ट्रुमेंट्स ऐक्ट)

— धारा 4 — जब पक्षकारों का आशय कोई परक्राम्य लिखत लिखने-
लिखाने का नहीं था तो धनराशि की रसीद में अदायगी की शर्त लिख देने
से ही वह वचनपत्र नहीं हो जाती ।

प्रक्रिया — वचनपत्र — धनराशि के लिए वाद एक विक्रय करार और
दो चेकों पर आधारित — वह राशि के लिए दी गई रसीदों पर आधारित नहीं
किया गया क्योंकि यह आशंका थी कि उन पर स्टाम्प न होने के कारण वे
साक्ष्य में ग्राह्य नहीं थे — वस्तुतः उन पर स्टाम्प देय नहीं था — वाद उन
पर आधारित न होने पर भी उनके आधार पर डिक्री दी जा सकती है और
उससे प्रतिवादी पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं क्योंकि विवाद की विषयवस्तु
बराबर स्पष्ट थी ।

निर्णय संक्षेप (सार)

जस्टिस सर जार्ज लाउंडेस — अपीलार्थियों ने पेशावर के ज्येष्ठ
अधीनस्थ न्यायाधीश के न्यायालय में प्रत्यर्थियों के विरुद्ध 27,867/- रु. 8
आ. तथा अदायगी की तारीख तक ब्याज के लिए वाद दाखिल किया । वाद
का आधार एक अस्पष्ट करार था, जिसका सुसंगत अंश इस प्रकार है :—

“रा.ब.ला. करम चन्द जगत राम को चाय के 200 बक्सों का
विक्रय जो शंघाई से आयात किए जाएंगे विक्रय चाय (धन के)
प्राप्तकर्ता द्वारा स्वयं मंगाई जाएगी । प्राप्तकर्ता ही लाभ-हानि के लिए
उत्तरदायी होगा । ब्याज 11 रु. 4 आ. प्रतिवर्ष की दर से । समय दस
मास ।”

2. वादियों के अनुसार इस करार के क्रियान्वयन में उन्होंने प्रतिवादी

को 20.9.1929 व 8.10.1929 को 10-10 हजार रुपए के दो चेक दिए । उक्त 20,000/- रु. की राशि पर 10 मास का 11¼ प्रतिशत की दर से ब्याज जोड़कर दावाकृत राशि 27,867/- रु. 8 आ. हो गई । इन दोनों चेकों की बाबत प्रत्यर्थियों ने एक ही प्रकार की अलग-अलग रसीदें दी थीं । पहली रसीद इस प्रकार थी :-

“आज संवत् 1986 के आसौज की पंचमी (तदनुसार 20.9.1929) को आपके द्वारा मे. ग्रिडले एण्ड कंपनी लि., पेशावर पर लिखी गई 10,000/- रु. की चेक प्राप्त हुई । यह राशि उस पर 11 रु. 4 आ. प्रतिशत की दर से ब्याज सहित लौटा दी जाएगी । समय 10 मास । ब्याज सहित मूलधन आज से 10 मास बाद अदा किया जाएगा ।”

3. प्रत्यर्थियों ने अनेक आपत्तियां कीं । किंतु विचारण न्यायाधीश ने वाद डिक्री कर दिया । प्रतिवादियों द्वारा अपील की जाने पर न्यायिक आयुक्त ने वाद इस आधार पर खारिज कर दिया कि वादियों द्वारा आधार लिए गए विक्रय करार और दो चेकों से ऋण साबित नहीं होता । उनका मत था कि वादियों ने दोनों रसीदों का आश्रय जानबूझकर नहीं लिया क्योंकि वे वचनपत्र की कोटि में आती हैं और उन पर स्टाम्प न होने के कारण वे स्टाम्प अधिनियम की धारा 35 के अनुसार सबूत में अग्राह्य हैं । अतः वादियों ने यह अपील की ।

4. निःसंदेह न्यायिक आयुक्त के निर्णय के समय भारतीय न्यायालयों का प्रायः यह मत था कि उक्त रसीदों की प्रकृति की लिखतें वचनपत्र मानी जाएंगी और उन पर स्टाम्प न होने की दशा में वे सबूत में अग्राह्य होंगी :-

“किंतु न्यायिक आयुक्त न्यायालय के निर्णय के बाद इस बोर्ड के मोहम्मद अकबर खां बनाम अतर सिंह¹ वाले निर्णय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इन प्रदर्शों के विषय में पूरी कार्रवाई के दौरान आशंका गलत थी, इस प्रकार की दस्तावेजों, जिनके बारे में यह स्पष्ट था कि यह आशय कभी नहीं था कि वे परक्राम्य लिखतें हों, वचनपत्र नहीं होती; अतः वे स्टाम्प न होने के आधार पर साक्ष्य में अग्राह्य नहीं होती । यदि यह विनिश्चय विद्वान् न्यायिक आयुक्त के समक्ष होता तो हमें इसमें संदेह है कि वे इस निष्कर्ष पर पहुंचते जो उन्होंने निकाला

¹ 63 इंडियन अपीलस 279 = ए. आई. आर. 1936 ग्रि. कौ. 171.

है । यह स्वीकार्य है कि उनके समक्ष ऐसा वादपत्र था जो अकुशलता से तैयार किया गया था और जिसमें एक उचित दावा अनुचित आधार पर आधारित करने का प्रयास था । फिर भी सीमा प्रांत में उन्हें सार की अपेक्षा रूप को अधिक महत्व देने में संभवतः संकोच करना चाहिए था । अभिवचन का उद्देश्य यह होता है कि प्रत्येक पक्षकार को ज्ञात हो जाए कि उसके विरोधी पक्षकार का कथन क्या है ; और प्रारंभ से ही सभी दस्तावेज न्यायालय के समक्ष होने के कारण वादपत्र के रूप से प्रतिवादियों प्रतिकूलतः प्रभावित होने का कोई प्रश्न नहीं था । इन सब दस्तावेजों को मौखिक साक्ष्य के साथ पढ़ने पर हमारे विचार से अनिवार्य निष्कर्ष यही होगा कि विचारण न्यायालय का निष्कर्ष सही था ।”

5. बोर्ड के समक्ष यह कहा गया कि प्रदर्श ख और ग मूल दस्तावेजों की केवल प्रतिलिपियां हैं, अतः साक्ष्य के रूप में मूल्यहीन हैं । हम यह विनिश्चित करने को तैयार नहीं हैं कि यह कथन अभिलेख से सिद्ध होता है । किंतु यह प्रश्न भारत के न्यायालयों में नहीं उठाया गया ; अतः हमारा मत है कि यह तर्क प्रत्यर्थियों को अब अनुमत नहीं है । एकमात्र अन्य प्रतिरक्षा जो अपीलार्थियों के दावे के विरुद्ध प्रस्तुत की गई प्रत्यर्थी अजीज अहमद के भागीदार के रूप में दावे के विषय में है । इस पर विद्वान् न्यायिक आयुक्त ने चर्चा नहीं की है और हमें इसमें संदेह नहीं है कि अधीनस्थ न्यायाधीश का यह निष्कर्ष बिल्कुल उचित था कि वह प्रतिवादी फर्म का भागीदार था । उपर्युक्त कारणों से हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि यह अपील मंजूर की जानी चाहिए, न्यायिक आयुक्त की डिक्री अपास्त की जानी चाहिए और अधीनस्थ न्यायाधीश की डिक्री पुनः स्थापित की जानी चाहिए – अपीलार्थी तथा इस बोर्ड दोनों का खर्चा प्रत्यर्थी अदा करें ।

अपील मंजूर की गई ।

कनाडियन श्रेडेड व्हीट कंपनी लि. अपीलार्थी

बनाम

केलाग कंपनी ऑफ कनाडा लि. तथा अन्य प्रत्यर्थी

(ओण्टेरियो के कोर्ट ऑफ अपील के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं.

40 सन् 1937)

निर्णीत : 4.2.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड एटकिन, लार्ड थैंकरटन, किलोवेन के लार्ड रसेल, लार्ड राइट व लार्ड माघम

व्यापार – चिह्न – “व्यापार-चिह्न” से अभिप्रेत है ऐसा चिह्न, शब्द, आकृति, चित्र आदि जो इस बात का सूचक हो कि माल अमुक विनिर्माता द्वारा बनाया गया है – सामान्यतः जो शब्द केवल माल की प्रकृति या क्वालिटी बताते हैं या उसका वर्णन करते हैं वे व्यापार-चिह्न के रूप में रजिस्ट्रीकृत नहीं हो सकते और न उनके प्रयोग से व्यापार-चिह्न का उल्लंघन माना जाएगा – किंतु ऐसे शब्दों के भी दीर्घकालीन प्रयोग से उन्हें कुछ दशाओं में व्यापार-चिह्न माना जा सकता है – उसके लिए पहले यह देखना होगा कि उन शब्दों के प्रयोग से विनिर्माता का आशय वस्तु का वर्णन करने का था या यह बताने का था कि वह उनका उत्पादन है – सामान्यतः वर्णनात्मक शब्दों से विशिष्ट व्यक्ति के उत्पादन का अभिप्राय नहीं निकलता – किंतु दीर्घकालीन प्रयोग से शब्दों का गौण अर्थ भी प्रचलित हो सकता है जिससे कि वे उत्पादक के द्योतक हो जाएं, उदाहरणार्थ ऐसा तब हो सकता है जब प्रयुक्त शब्द निर्मिति में प्रयुक्त असाधारण एवं अल्पज्ञात वस्तु के द्योतक हों या उनके साथ विनिर्माता का नाम जुड़ा हो । जहां शब्द वस्तु के वर्णन में सामान्यतः प्रयोग में आने वाले हों वहां व्यापार-चिह्न का निष्कर्ष निकाला नहीं जा सकता ।

माल चला देना (पासिंग ऑफ) – जब एक व्यक्ति अपने उत्पाद को दूसरे के उत्पाद के रूप में चला देता है तो उसे माल चला देना कहते हैं – ऐसा तब माना जाएगा जब वह दूसरे उत्पादक/विनिर्माता के नाम आदि का प्रयोग करे – वस्तु के वर्णनात्मक सामान्य नाम से यह नहीं समझा जाएगा कि वह अपने माल को दूसरे के माल के रूप में चला रहा है ।

निर्णय संक्षेप (सार)

किलोवेन के लार्ड रसेल – “इस मामले में कनाडियन श्रेडेड व्हीट

कंपनी लि. ने (जिसे यहां आगे “वादी” कहा गया है) दो प्रतिवादियों पर ओण्टेरियो के सुप्रीम कोर्ट में वाद किया, जिसमें एक तो अपने रजिस्ट्रीकृत व्यापार-चिह्न के कथित उल्लंघन को रोकने के लिए व्यादेश चाहा और दूसरे, इसलिए व्यादेश चाहे कि वे अपना माल वादी के माल के रूप में न चलाएं, तथा नुकसानी का भी दावा किया। विचारण न्यायाधीश ने वाद खर्चे सहित खारिज कर दिया। ओण्टेरियो के कोर्ट ऑफ अपील ने वादी की अपील भी खर्चे सहित खारिज कर दी। अतः वादी ने सपरिषद् हिज मैजेस्टी को यह अपील की।”

2. मामले के तथ्य इस प्रकार हैं — हेनरी डी. परकी नामक एक व्यक्ति ने अपने एक नए उत्पाद के लिए कनाडा का लेटर्स पेटेंट सं. 52428 प्राप्त किया। यह उसके उत्पाद के लिए तथा उसके उत्पादन की प्रक्रिया और मशीनों के लिए भी था। इसमें गेहूं को धोकर साफ करने के बाद लगभग 1 घंटे उबाला जाता है, फिर वह कुछ घंटे सुखाया जाता है और तत्पश्चात् उसे विशिष्ट प्रकार के रोलरों में दबाया/चलाया जाता है जिससे उसके सारे अंग पिस और घुल-मिल जाते हैं और फिर एक छलनी के माध्यम से खुरदरी सेंवई के रूप में निकालते हैं। सेवइयां एक पात्र में कई परतों में जमा ली जाती हैं और उन्हें विभिन्न आकारों में काट लिया जाता है। पहले से गेहूं पका होने के कारण यह वस्तु उसी रूप में खाई जा सकती है। अतः उसे विभिन्न आकारों में काटकर और सेंकने/भूनकर बिस्कुट आदि के रूप में भी खाया जा सकता है।

3. 13.8.1901 को परकी ने कनाडा का एक नया लेटर्स पेटेंट सं. 72695 प्राप्त किया जो उक्त उत्पाद तथा उसे बनाने वाली मशीनों के सुधार के संबंध में था। विशिष्टतः यह उक्त उत्पाद के बिस्कुट, वेफर आदि बनाने के लिए था। इस नए उत्पाद को श्रेडेड व्हीट (शीर्ण गेहूं) कहा जाता था और उत्तरोक्त पेटेंट में उसकी प्रक्रिया को श्रेडिंग द ग्रेन (गेहूं के दानों का शीर्णन) कहा गया। निःसंदेह “श्रेडेड व्हीट” शब्द उत्पाद का ठीक-ठीक वर्णन करते हैं।

4. कनाडा में इसका विक्रय पहली बार 1898 में प्रारंभ हुआ और यह अमरीका में रजिस्ट्रीकृत एक कंपनी करती थी जिसका कारखाना भी उसी देश में था। कनाडा में वह आयात होकर बिकता था। 1904 में वादी कंपनी का ओण्टेरियो प्रांत की विधि के अनुसार निगमन हुआ। उसने पूर्वोक्त कंपनी (नेचुरल फूड कंपनी) के उत्पाद के कनाडा में आयात और उसके कारबार की गुडविल उससे प्राप्त कर ली। उसने नियागरा प्रपात के

पास कनाडा की ओर एक कारखाना स्थापित किया। उसने 1905 में विनिर्माण प्रारंभ किया और तब से बराबर कनाडा में उत्पादन और विक्रय कर रही है। यह उत्पाद दो रूप में बेचा जाता था; एक तो बिस्कुट की शक्ल में जो पेटेंट सं. 52428 के अनुसार बनाकर काटने और सेंकने/भूनने के बाद (जो पेटेंट सं. 72695 में आता था) बेचा जाता था। दूसरा रूप सामग्री के बिस्कुट के रूप में होता था जो काट और दबाकर बनाया जाता था। उसे वादी “ट्रिस्किट” कहता था।

5. 1914 में पेटेंट सं. 52428 समाप्त हो गया और 1919 में पेटेंट सं. 72695 समाप्त हो गया। इस प्रकार वादी का एकाधिकार भी समाप्त हो गया और प्रत्येक व्यक्ति उस प्रकार का उत्पाद बनाने और बेचने के लिए स्वतंत्र हो गया, सिवाय उस दशा के जबकि वह किसी व्यक्ति के व्यापार-चिह्न का अतिलंघन करे या अपना माल दूसरे के माल के रूप में चलाए। 1912 में वादी ने कनाडा में उक्त उत्पाद के विक्रय के लिए एक व्यापार-चिह्न रजिस्ट्रीकृत कराया जो श्रेडेड सीरियल बिस्कुट के लिए था। वह एक चित्र के रूप में था जिसमें एक प्याले में उक्त बिस्कुल रखा हुआ था और साथ में एक चम्मच भी था। यह बिस्कुट एक रोल के रूप में था जो कि उत्पाद को काटने और भूनने से बन जाता था। कुछ वर्षों तक उक्त वस्तु का कनाडा में उत्पादन और विक्रय वादी अनन्य रूप से करता रहा।

6. अमरीका की जिस नेचुरल फूड कंपनी ने अपने कनाडा के व्यापार की गुडविल वादी को बेची थी उसने 1924 में अपना नाम बदलकर श्रेडेड व्हीट कंपनी कर लिया। 1924 में उसके आवेदन देने पर “श्रेडेड व्हीट” उसके बिस्कुटों और क्रेकरो के लिए व्यापार-चिह्न रजिस्टर में दर्ज हुआ। किंतु फिर सितंबर, 1927 में वह रजिस्ट्रीकरण रद्द कर दिया गया। 20.3.1928 को “श्रेडेड व्हीट” शब्द वादी के व्यापार-चिह्न के रूप में रजिस्ट्रीकृत हुए जिनका प्रयोग बिस्कुटों और क्रेकरो के लिए किया जाना था। 1929 में उन्हीं शब्दों का रजिस्ट्रीकरण भोजनार्थ तैयार किए गए खाद्यान्न के उत्पादों के लिए भी हो गया। 1934 में प्रतिवादी सं. 2, ने भी वाद किया। इस पर वादी ने इन दोनों पर वाद कर दिया। प्रश्नगत उत्पाद वादी वाली प्रक्रिया से ही तैयार किए जाते हैं यद्यपि वे लंबाई में एक चौथाई कम होते हैं। यह वही सामग्री है जो पेटेंट सं. 72695 में आती थी। ये बिस्कुट 15-15 बिस्कुटों के डिब्बों में बेचे जाते हैं। डिब्बे के ऊपर “केलागज श्रेडेड होल व्हीट बिस्कुट” लिखे होने के अतिरिक्त केलाग कंपनी का नाम, उसका पता और बिस्कुटों का अमरीकी कंपनी द्वारा बनाया जाना

स्पष्ट रूप से लिखा होता था। डिब्बों में बहुत अंतर होने के कारण यह स्पष्ट है कि डिब्बों के रूप में बिस्कुट वादी के उत्पाद के रूप में नहीं चलाए जा सकते थे; उनके बिस्कुटों की शकल और “श्रेडेड व्हीट” शब्दों के प्रयोग की बात अलग है।

7. वादी का पहला दावा यह है कि उसने व्यापार-चिह्न “श्रेडेड व्हीट” का उल्लंघन किया जा रहा है क्योंकि उन शब्दों तथा “श्रेडेड होल व्हीट बिस्कुट” में अंतर केवल आभासी है। इसके संबंध में पहले देखना यह होगा कि क्या “श्रेडेड व्हीट” शब्दों के वादी का विधिमान्य व्यापार-चिह्न माना जा सकता है और यदि ऐसा है तो यह मामला निःसंदेह व्यापार-चिह्न के उल्लंघन का होगा। किंतु यदि यह व्यापार-चिह्न ही अविधिमान्य ठहरे तो वादी को कोई अनुतोष उपलब्ध नहीं होगा। प्रत्येक दशा में प्रश्न व्यापार-चिह्न की मान्यता का है।

8. वादी का प्रथम व्यापार-चिह्न 1928 के पहले रजिस्टर नहीं हुआ जबकि बिस्कुट और क्रेकरो के लिए “श्रेडेड व्हीट” शब्दों के रजिस्ट्रीकरण के लिए आवेदन दिया गया। व्यापार-चिह्न का रजिस्ट्रीकरण इस प्रकार का नहीं हो सकता कि जो पेटेंट समाप्त हो गया है वह सारतः जारी रहे। यदि पेटेंट चलने के दौरान व्यापार-चिह्न का रजिस्ट्रीकरण होता है तो वह इसके उत्पादक का सूचक भी हो जाता है। किंतु वादी ने ऐसा नहीं किया। **पामर्स ट्रेडमार्क¹** के मामले में बताया गया कि यदि व्यापार-चिह्न कोई शब्द या शब्द-समुच्चय है जो पेटेंटकृत वस्तु का वर्णन करता है तो यह सिद्ध करना हमें असंभव लगता है कि वह शब्द उत्पादक का द्योतक है। वादी का कहना है कि 1914 से 1928 तक किसी ने इस प्रकार की वस्तु का उत्पादन नहीं किया और इस प्रकार उसके द्वारा प्रयुक्त वे शब्द उत्पादक के द्योतक हो गए। प्रश्नगत व्यापार-चिह्न का रजिस्ट्रीकरण कनाडा के व्यापार-चिह्न और डिजाइन अधिनियम के अधीन किया गया। उसकी धारा 5(1) में दी गई परिभाषा के अनुसार “व्यापार-चिह्न” अभिप्रेत है कोई भी नाम या चिह्न आदि जो वस्तु के विनिर्माता या उत्पादक का द्योतक हो। व्यापार-चिह्न रजिस्ट्रीकृत हो जाने के बाद रजिस्ट्रीकर्ता को उसके प्रयोग का अनन्य अधिकार धारा 13 के अनुसार मिल जाता है। किंतु धारा 11 के अधीन ऐसे व्यापार-चिह्न के रजिस्ट्रीकरण से इंकार किया जा सकता है जिसमें व्यापार-चिह्न के आवश्यक तत्व न हों। इसके अनुसार वस्तु का वर्णन करने वाले शब्द मात्र ऐसे व्यापार-चिह्न के रूप में रजिस्ट्रीकृत नहीं

¹ [1883] 24 चांसरी डिवीजन 504 (521).

हो सकते : **स्टेण्डर्ड आयडियल कं.** बनाम **स्टेण्डर्ड सेनिटरी मैनुफैक्चरिंग कंपनी¹** – किंतु यह अवश्य हो सकता है कि वर्णनात्मक शब्दों ने प्रयोग से एक गौण अर्थ अर्जित कर लिया हो और उसके नाते वे विनिर्माता के द्योतक हो गए हो, देखिए **क्रासफील्ड एण्ड संस²** के आवेदन का मामला किंतु किसी भी दशा में वस्तु के वर्णनात्मक शब्द का उक्त गौण अर्थ अर्जित करना बहुत कठिन है। ऐसा अर्थ तब अर्जित किया जा सकता है जब या तो अप्रचलित शब्द का प्रयोग किया जाए या उत्पाद में प्रयुक्त अज्ञात पदार्थ के नाम का प्रयोग किया जाए। जब शब्द का अर्थ केवल वर्णनात्मक हो और वह सामान्य प्रयोग में हो तो उसका गौण अर्थ ग्रहण करना कठिन है।

9. इस प्रयोजनार्थ मौखिक साक्ष्य का आश्रय लिया गया। यह जानने के लिए कि क्या प्रश्नगत शब्द विनिर्माता के द्योतक हैं देखना यह होगा कि स्वयं विनिर्माता ने वह व्यक्त करने के लिए क्या कदम उठाए। **रेड्डावे** बनाम **बनहाम³** में यह बताया गया कि उसमें प्रश्नगत शब्द वादी द्वारा व्यापार-चिह्न के रूप में प्रयुक्त हुए। **सेल्यूलर क्लोदिंग कं.** बनाम **मेक्सटन⁴** (1899) अपील केसेज 326 में लार्ड शेण्ड और लार्ड डेवी के निर्णय विनिर्माता द्वारा शब्द-प्रयोग को वही महत्व देते हैं। **बारबेरीज** बनाम **कार्डिंग** में कहा गया कि धोखा देने के आशय के साक्ष्य के अभाव में यह प्रत्येक मामले की परिस्थितियों पर निर्भर करेगा कि क्या प्रश्नगत कार्य से धोखा होता है। 1928 तक वादी के बिस्कुट 12-12 बिस्कुटों के डिब्बों में बेचे जाते थे जिन पर “श्रेडेड व्हीट” तथा “श्रेडेड होल व्हीट” के अतिरिक्त कंपनी का नाम और उसका पता भी स्पष्टतः वर्णित था। बिस्कुटों की अंतर्वस्तु व उपयोग का भी वर्णन था। कंपनी का नाम और पता एक से अधिक बार दिया गया था, और व्यापार-चिह्न के रूप में वही प्याला था जिसमें बिस्कुट और चम्मच रखा हुआ था। इस डिब्बे पर विचार करने से प्रकट होता है कि कंपनी का नाम-पता आदि एक से अधिक बार दिया गया है, अतः “श्रेडेड व्हीट” शब्दों का प्रयोग अंतर्वस्तु के वर्णन के लिए किया गया है, न कि उत्पादक के सूचक के रूप में। वादी ने अपने बिस्कुटों के बारे में अनेक विज्ञापन निकाले। किंतु इनमें से किसी में भी “श्रेडेड व्हीट” शब्दों का प्रयोग विनिर्माता के सूचक के रूप में नहीं है। 1914 तक

¹ [1911] अपील केसेज 78(3) = [1924] स. को. रि. 6001.

² [1910] 1 चांसरी डिवीजन 130.

³ [1896] अपील केसेज 199.

⁴ [1926] आर. पी. सी. 693.

विनिर्माता का पूरा नाम और वर्णन दिया हुआ है। 1915 और बाद में विनिर्माता के पते के अतिरिक्त यह प्याला वाला व्यापार-चिह्न भी दिया हुआ है। अतः इस विज्ञापन से भी प्रश्नगत शब्दों का प्रयोग वस्तु के वर्णन के रूप में आशयित है, न कि विनिर्माता के द्योतक के रूप में।

10. अब हम मौखिक साक्ष्य पर आते हैं। इन साक्षियों के बयानों से यह कहीं प्रकट नहीं होता कि उक्त शब्दों से वह विनिर्माता का संकेत समझते थे। बल्कि उनके विभिन्न उत्तरों से प्रकट होता है कि वे उनका प्रयोग वर्णनात्मक ही मानते थे। अतः हमारा निष्कर्ष है कि “श्रेडेड व्हीट” शब्दों का रजिस्ट्रीकरण अविधिमान्य है। ऐसी दशा में व्यापार-चिह्न के उल्लंघन का प्रश्न नहीं उठता।

11. अब प्रश्न आता है कि क्या उन शब्दों का प्रयोग प्रतिवादी ने अपना माल वादी के माल के रूप में चलाया। वादी ने उपर्युक्त **रेड्डावे** बनाम **बनहाम** (1896) अपील केसेज 199 का अवलम्ब लिया। उसमें बेल्टों के उत्पादन का प्रश्न था जो प्रायः ऊंट के बाल से बनती थीं, किंतु जो तथ्य प्रायः ज्ञात नहीं था। प्रत्येक विनिर्माता किसी न किसी पशु का नाम देता था जैसे भेड़, याक, भैंसा, घड़ियाल आदि। वादी ने ऊंट दिया और उससे प्रत्येक व्यक्ति यह समझता है कि “कैमिल हेयर बेल्टिंग” नाम वर्णनात्मक न होकर उसकी पसंद का नाम मात्र है और इस प्रकार वह व्यापार-चिह्न मान लिया गया। यहां जनसामान्य के वैसे अज्ञान वाली स्थिति नहीं है। केलाग कंपनी वाला डिब्बा वादी के डिब्बे से इतना भिन्न था कि उसके वादी के विनिर्माण के रूप में चलाए जाने का कोई अवसर नहीं था। खुले हुए बिरकुटों में भी आकार में काफी अंतर था। अतः प्रतिवादी के अपने उत्पादन वादी के उत्पाद के रूप में चलाने का अवसर नहीं था और न इसका कोई सबूत ही है।

12. वर्णनात्मक शब्दों के व्यापार-चिह्न माने जाने के लिए **एज** बनाम **निकल्स**¹ का भी अवलंब लिया गया। वहां प्रतिवादियों को वादी के माल से मिलती-जुलती शकल देने से रोका गया था। **बोक** बनाम **वेलेण्ड**² में पेटेण्टकृत वस्तु का नाम “कालियम मेटा सल्फाइड” था जो सामान्यतः मेटा सल्फाइड ऑफ पोटैशियम कहलाता है। वादी ने आद्यक्षरों “के.एम.एस.” का प्रयोग किया। अन्य विनिर्माता अन्य-अन्य नामों का प्रयोग करते थे। अतः वे अक्षर उसके व्यापार-चिह्न मान लिए गए और अन्य व्यक्ति इसका

¹ [1911] अपील केसेज 693.

² [1906] 26 आर. पी. सी. 251.

प्रयोग नहीं कर सकता था। यही स्थिति एडिसन स्टोरेज बैटरी कं. बनाम ब्रिटानिया बैटरीज लि.¹ में थी। बल्कि उसमें तो प्रतिवादी ने वह बात स्वीकार कर ली थी।

अतः हमारी राय में यह अपील खारिज की जानी चाहिए और हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह तदनुसार है। अपीलार्थी अपील का खर्चा अदा करें।

अपील खारिज की गई।

राजा बहादुर धनराजगेरजी.....अपीलार्थी

बनाम

राजा पनुगंटी पार्थसारथी रायनियम वारु और अन्य.....प्रत्यर्थी

(प्रि.कौ. अपील सं. 13 सन् 1936)

निर्णीत : 10.2.1938

उपस्थित : जस्टिस किलोवेन के. लार्ड रसेल, लार्ड अलनेस, लार्ड रोमर, सर शादी लाल व सर जार्ज रैंकिन

बंधक के मामले में अंतःकालीन लाभ की गणना — वादी द्वारा बंधक में यह शर्त कि 31.8.1914 तक राशि अदा कर दिए जाने पर बंधकदार 1.7.1914 से सभी लगान और लाभ वापस कर देगा — विचारण न्यायाधीश ने मोचन का वाद डिक्री करते हुए भी केवल जुलाई, 1914 से एक वर्ष का अंतःकालीन लाभ बंधकदार से दिलाया जिसकी राशि 60,000/- रुपए आकलित की — न्यायालय के आदेशानुसार बंधककर्ता ने बंधक राशि 5.3.1919 को जमा की और तत्पश्चात् 1920 में उसे वह संपत्ति वापस मिली — मामला प्रिवी काउंसिल में जाने पर उन्होंने निर्णय किया कि पूरी अवधि का अंतःकालीन लाभ दिलाया जाए और मामला अंतःकालीन लाभों की गणना के लिए वापस भेज दिया — गणना के प्रश्न को लेकर मामला पुनः प्रिवी काउंसिल गया और उन्होंने निर्णय किया कि जुलाई, 1914 से ही अंतःकालीन लाभों की गणना की जानी चाहिए और तत्पश्चात् बंधकदार के

¹ [1931] 48 आर. पी. सी. 350.

कब्जे की पूरी अवधि की बाबत अंतःकालीन लाभ गिने जाने चाहिए ।

अर्थान्वयन – “अंतःकालीन लाभ” का अर्थ सकल प्राप्ति से नहीं है जिनका उल्लेख संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 के खंड (1) में है बल्कि उसका वह अर्थ है जो सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 2 के खण्ड (12) में दिया गया है ।

निर्णय

जस्टिस सर जार्ज रैंकिन – “इस मामले में तीन अपीलें समेकित हैं । यह नेलौर के अधीनस्थ न्यायालय में लिए गए हिसाब से उद्भूत होती हैं । उक्त हिसाब सपरिषद् हिज मैजेस्टी के 25.6.1924 के एक आदेश के अधीन लिया गया है, जिसमें एक बंधक-मोचन का वाद डिक्री किया गया था । वाद उस न्यायालय में 27.8.1915 को तीन व्यक्तियों द्वारा किया गया था, जिन्होंने वादगत संपत्तियों के बंधककर्ता तत्कालीन राजा कालाहस्ती के अधिकार निष्पादन विक्रय में फरवरी, 1915 में प्राप्त किए थे । तत्पश्चात् उनमें से एक की मृत्यु हो गई है ; किंतु उन्हें संयुक्त रूप से “वादी” कहा जा सकता है । बंधकदार के रूप में वाद प्रथम प्रतिवादी पर किया गया था और राजा कालाहस्ती द्वितीय प्रतिवादी थे । पश्चात्पूर्ति केवल प्ररूपी पक्षकार थे और उन्होंने वाद का विरोध करने में कोई भाग नहीं लिया । प्रतिवादी सं. 1 को, जिसकी मृत्यु हो चुकी है और जिसका पुत्र अब उसका प्रतिनिधित्व कर रहा है, यहां “प्रतिवादी” कहा जाएगा । सपरिषद् आदेश के अधीन निष्पादन कार्यवाही 1.10.1924 को अधीनस्थ न्यायाधीश के न्यायालय में दाखिल की गई निष्पादन अर्जी सं. 63 सन् 1924 से प्रारंभ हुई और उस वर्ष 22 दिसम्बर को एक कमिश्नर की नियुक्ति की गई कि अंतःकालीन लाभ का अभिनिश्चय करे । उन्होंने अपनी रिपोर्ट 14.3.1929 को दी और अधीनस्थ न्यायाधीश ने अपना विनिश्चय 26.8.1929 को सुनाया । उभयपक्ष ने उच्च न्यायालय में अपील की । प्रतिवादी की अपील सं. 326 सन् 1929 थी और वादी की अपील सं. 161 सन् 1930 थी । उच्च न्यायालय ने वादी की अपील खारिज कर दी और प्रतिवादी की अपील केवल अंशतः सफल हुई । अतः प्रतिवादी ने हिज मैजेस्टी को यह अपील (सिविल प्रकीर्ण अर्जी सं. 1717 सन् 1933) की और वादियों ने दो अपीलें (सिविल प्रकीर्ण अर्जी सं. 3685 सन् 1933 और सिविल प्रकीर्ण अर्जी सं. 2984 सन् 1933) की ।

2. वाद एक संव्यवहार से उद्भूत हुआ, जो 4.8.1908 की दो

लिखतों में समाहित था । एक हस्तान्तरण था जिसके द्वारा कालाहस्ती के तत्कालीन राजा ने कुछ भूमि प्रतिवादी को छह लाख रुपए में हस्तांतरित की । दूसरी के द्वारा प्रतिवादी ने करार किया कि वह उक्त भूमि अपने विक्रेता को छह लाख रुपयों में ही वापस बेच देगा यदि उक्त राशि वर्ष 1912, 1913 या 1914 में 31 अगस्त को अदा की जाए । यह व्यवस्था की गई कि यदि छह लाख रुपए की राशि 31.8.1914 के पूर्व अदा न कर दी गई तो पुनः खरीद का करार प्रवर्तन में नहीं रह जाएगा ; किंतु यदि वह 31.8.1914 को दे दी जाए तो प्रतिवादी 1.7.1914 से प्राप्त सारा लगान और लाभ वापस कर देगा । वादियों का कहना था कि 4.8.1908 का संव्यवहार सशर्त विक्रय के रूप में बंधक था और संविदा के अनुसार छह लाख रुपए प्रतिवादी को सम्यक् रूप से दिए गए, जिसने कि पुनः हस्तांतरित करने से इंकार कर दिया । तदनुसार उन्होंने मोचन की डिक्री का दावा किया और अन्य बातों के साथ-साथ मांग की कि फसली वर्ष 1324, अर्थात् 1.7.1914 से 30.6.1915 तक, के अंतःकालीन लाभों के रूप में उन्हें 80,000/- रु. दिलाए जाएं और कब्जा दिए जाने की तारीख तक के भावी अंतःकालीन लाभ भी दिलाए जाएं । प्रतिवादी का कहना था कि यह संव्यवहार बंधक नहीं था और पुनः खरीद की संविदा के अधीन दी गई कीमत समय से तथा करार की गई शर्तों के अनुसार नहीं दी गई ।

3. विचारण में विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने निर्णय वादियों के पक्ष में दिया । उनका निष्कर्ष था कि 1908 का संव्यवहार बंधक था । उन्होंने मोचन की इस आशय की प्रारंभिक डिक्री दे दी कि यदि वादी छह लाख रुपए 5.3.1919 के पूर्व न्यायालय में जमा कर दे तो प्रतिवादी उक्त संपत्ति पुनः हस्तांतरित कर दे तथा फसली 1324 के अंतःकालीन लाभ की बाबत 60,000/- रु. कुछ खर्चा सहित अदा करे । यह डिक्री 5.10.1918 की थी । उन्होंने वादियों को 1324 फसली के बाद के किसी वर्ष के लिए अंतःकालीन लाभ नहीं दिलाया । कारण उन्होंने यह बताया कि यद्यपि छह लाख रुपए 1914 में दिए गए, किंतु वादियों ने वह राशि न्यायालय में जमा नहीं की । 60,000/- रु. की राशि उन्होंने अपने कथनानुसार अस्पष्ट मौखिक साक्ष्य से निकाली क्योंकि उनके समक्ष कोई हिसाब दाखिल नहीं किया गया था । यद्यपि उन्होंने सामग्री को अस्पष्ट बताया किंतु उन्होंने कहा कि समग्र रूप से मैं यह निरापद समझता हूं कि 1324 फसली के लिए अंतःकालीन लाभ 60,000/- रु. निश्चित करूं । छह लाख रुपए की राशि न्यायालय में 5.3.1919 को जमा की गई और 7.10.1919 को मोचन की अंतिम डिक्री दे दी गई ।

4. प्रतिवादी ने दोनों डिग्रियों के विरुद्ध मद्रास उच्च न्यायालय में अपील की, जिसकी डिग्री 24.2.1921 की है। उच्च न्यायालय ने उसके पक्ष में निर्णय किया कि 4.8.1908 का संव्यवहार बंधक नहीं था, किंतु उसके विरुद्ध यह निर्णय किया कि वादियों को पुनः खरीद का हक देने वाली शर्तें पूरी कर दी गई थीं और उसे चाहिए कि संपत्ति पुनः हस्तांतरित कर दे। यद्यपि निर्णय में अंतःकालीन लाभों की राशि की चर्चा नहीं प्रतीत होती, फिर भी उच्च न्यायालय ने 60,000/- रु. की राशि (जो अधीनस्थ न्यायाधीश ने 1.7.1919 से पहले वर्ष के लिए मानी थी) मानी और उसे उस तारीख से प्रतिवादी द्वारा कब्जा दिए जाने की तारीख तक की पूरी अवधि के लिए लागू किया। उसमें यह भी निदेश दिया गया कि वादी 60,000/- रु. पर 6 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से ब्याज 1.9.1914 से जमा करने की तारीख तक अदा करें।

5. प्रतीत यह होता है कि वादियों का विचार आगे मुकदमा लड़ने का नहीं था, किंतु प्रतिवादी ने हिज मैजेस्टी को यह कहते हुए अपील कर दी कि वादी ने वे शर्तें पूरी नहीं की थीं जो उसे भूमि पुनः खरीदने का हक देती थीं। यह भी कहा कि पुनः खरीद का अधिकार कालाहस्ती के राजा का व्यक्तिगत अधिकार था और वह उसके समनुदेशिनी को नहीं मिला। 19.6.1924 को लार्ड ब्लेंसवर्ग ने बोर्ड की ओर से निर्णय सुनाया [देखिए – आ. इ. रि. 1924 प्रि. कौ. 226]। इस निर्णय से यह प्रकट होता है कि अंत में प्रतिवादी की ओर से बहस केवल इस प्रश्न पर की गई कि संव्यवहार बंधक था या नहीं। बोर्ड की राय थी कि संव्यवहार के दोनों पक्षों का सीधा विचार और आशय केवल बंधक करने का था।

6. इस प्रश्न पर वे अधीनस्थ न्यायाधीश के निष्कर्ष से सहमत और उच्च न्यायालय के निष्कर्ष से असहमत होते हुए उसकी हिज मैजेस्टी को सलाह इन शब्दों में व्यक्त की गई :—

“हमारे निर्णयानुसार प्रत्यर्थी मोचन की डिग्री के हकदार हैं। वे 1.9.1914 से छह लाख रुपए न्यायालय में जमा किए जाने की तारीख तक के लिए 6 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से ब्याज से प्रभार्य हैं। अपीलार्थी उस ब्याज का भी हकदार होगा जो उस राशि पर उसके उक्त प्रकार से जमा किए जाने के बाद उद्भूत हुआ हो।”

“दूसरी ओर, अपीलार्थी प्रत्यर्थियों को 1.7.1914 से उस तारीख तक का जब कि प्रत्यर्थियों को वस्तुतः कब्जा दिलाया गया, संपत्तियों

के अंतःकालीन लाभ के हिसाब का देनदार होगा । हमारी राय में न्यायालय का आदेश प्रभावोन्मुक्त किया जाना चाहिए और विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश की डिक्री उक्त संशोधनों के साथ प्रत्यावर्तित की जानी चाहिए ।”

7. सपरिषद् (कौंसिल) का आदेश इस प्रकार था :—

“हम हिज मैजेस्टी को अपनी राय के रूप में निम्नलिखित विनम्रतापूर्वक निवेदित करने को सहमत होते हैं ।

(1) मद्रास उच्च न्यायालय की 24.2.1921 की डिक्री प्रभावोन्मुक्त की जानी चाहिए तथा नेलौर के अधीनस्थ न्यायाधीश न्यायालय की 5.10.1918 और 7.10.1919 की डिक्रियां निम्नलिखित संशोधनों के साथ पुनः स्थापित प्रत्यावर्तित की जानी चाहिए ; (2) यह घोषित किया जाना चाहिए कि प्रत्यर्थी दिए गए बंधक धन पर 1.9.1914 से 5.3.1919 तक, जिस तारीख को उक्त बंधक धन न्यायालय में जमा किया गया, 6 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से ब्याज से प्रभार्य हैं ; (3) यह भी घोषित किया जाना चाहिए कि अपीलार्थी उक्त बंधक धन न्यायालय में जमा किए जाने की तारीख से उस पर अर्जित ब्याज का हकदार होगा ; (4) अपीलार्थी 1.7.1914 से प्रत्यर्थियों को वस्तुतः कब्जा दिए जाने की तारीख तक के संपत्ति के अंतःकालीन लाभ का प्रत्यर्थियों को हिसाब दे ; तथा (5) अपीलार्थी प्रत्यर्थियों को उक्त उच्च न्यायालय में अपीलों का उनका खर्चा, इस अपील का उच्च न्यायालय में उनका खर्चा तथा 561 पौंड 17 शिलिंग 6 पेन्स की राशि इंग्लैंड में उपगत खर्चों के रूप में अदा करें ।”

8. यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि बोर्ड के समक्ष अब विवाद उस आदेश के अधीन लिए गए हिसाब से उत्पन्न होता है । प्रतिवादी ने वादियों को कब्जा दिसंबर, 1924 में दे दिया और अंतःकालीन लाभों की गणना ही अब विवाद का मुख्य विषय है । पहला प्रश्न यह है कि क्या विचारण न्यायालय द्वारा 1.7.1914 से पहले वर्ष (फसली 1324) के लिए निकाली गई 60,000/- रु. की राशि मानी जानी चाहिए, या सपरिषद् आदेश अपेक्षा करता है कि नए सिरे से हिसाब लिया जाना चाहिए जिससे कि पहले वर्ष का अंतःकालीन लाभ अभिनिश्चित हो और इसी प्रकार कब्जा दिए जाने की तारीख तक के बाद के वर्षों के लिए भी । प्रतिवादी की ओर से बहस की गई कि 60,000/- रु. की राशि पहले वर्ष के लिए मानी जाने

के अतिरिक्त उसी प्रकार से वाद के छह वर्षों के लिए उच्च न्यायालय की डिक्री के आधार पर स्वीकार की जानी चाहिए। हमारी राय में अंतिम तक अमान्य किया जाना चाहिए, भले ही बोर्ड के निर्णय में उस बात का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, क्योंकि उच्च न्यायालय की डिक्री अपास्त कर दी गई है। किंतु पहले वर्ष के संदर्भ में प्रश्न कुछ कठिनाई उत्पन्न करता है। सपरिषद् आदेश द्वारा अधीनस्थ न्यायाधीश की डिक्री निम्नलिखित संशोधनों के साथ पुनः स्थापित की गई है : “अपीलार्थी 1.7.1914 से प्रत्यर्थियों को वस्तुतः कब्जा दिए जाने तक के संपत्ति के अंतःकालीन लाभ का प्रत्यर्थियों को हिसाब दे।”

9. इसका प्रथमदृष्ट्या यह अर्थ किया जाना चाहिए कि निर्दिष्ट यह किया गया कि हिसाब 1.7.1914 से प्रारंभ हो। किंतु कहा यह गया कि यह अर्थ इस विचार के सामने नहीं टिकता कि यह कठिनाई के बिना नहीं माना जा सकता कि बोर्ड ने विचारण न्यायाधीश के निष्कर्ष को पहले वर्ष के लाभ के बारे में उसका विनिर्दिष्ट तौर पर उल्लेख किए बिना ही अतिष्ठित कर दिया। यह तर्क निर्बल नहीं है। किंतु यह भी विचारणीय है कि यदि आशय यह होता कि प्रथम वर्ष का हिसाब नहीं देखा जाना चाहिए तो 1.7.1914 का उल्लेख नहीं होता सिवाय इसके कि साथ में इस आशय का कथन होता कि पहले वर्ष के लिए लिए गए हिसाब में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाए। इसके अतिरिक्त, यह भी स्पष्ट नहीं है कि विचारण न्यायाधीश का निष्कर्ष वस्तुतः हिसाब लेने की कोटि में आता है। इन बातों को दिया जाने वाला महत्व मामले की सभी परिस्थितियों पर निर्भर करता है और साथ ही में उस भाषा पर जो अधीनस्थ न्यायाधीश की ओर सपरिषद् आदेश की डिक्री के आदेशात्मक भाग में प्रयुक्त है। इस प्रश्न पर हमारा निष्कर्ष है कि वादियों का तर्क माना जाना चाहिए कि फसली (1324 का) पहला वर्ष हिसाब में नहीं छोड़ा जा सकता और उस वर्ष के अंतःकालीन लाभों की गणना नए सिरे से की जानी चाहिए। किंतु यह आवश्यक नहीं होगा कि उच्च न्यायालय से अपेक्षा की जाए कि वर्ष 1324 का समावेश करने के लिए हिसाब का और अन्वेषण किया जाए। उभयपक्ष के विद्वान् अधिवक्ता हमारे समक्ष सहमत हुए हैं कि वे उच्च न्यायालय के निर्णय में दिए गए हिसाब में स्तम्भ 10 के पहले 9 अंकों का औसत उस वर्ष के लिए स्वीकार करते हैं। यह राशि, उस पर 26.8.1919 तक (जो हिसाब पर अधीनस्थ न्यायाधीश के आदेश की तारीख है) के ब्याज सहित अन्य वर्षों की भांति जोड़ी जानी चाहिए; किंतु प्रतिवादी को फसली [1324] की

बाबत दी गई 60,000/- रु. की राशि पर अदायगी या तुष्टि की तारीख (11.8.1920) तक ब्याज मुजरा किया जाएगा, जैसा कि हिसाब में शामिल ऐसी ही अन्य मदों के विषय में है ।

10. वादियों ने आगे बहस की कि यह सिद्ध हो जाने पर कि संव्यवहार बंधक का था और बंधकदार ने बंधक धन निविदत्त किए जाने पर भी संपत्ति पुनः हस्तांतरित नहीं की, वादीगण 1914 में यथा विद्यमान संपत्ति हस्तांतरण अधिनियम की धारा 76 के खण्ड (1) के अधीन हकदार हैं कि प्रतिवादी से अपेक्षा करें कि 1.7.1914 से दिसंबर, 1924 तक (जबकि प्रतिवादी ने वादियों को कब्जा दिया) की सकल प्राप्ति का लेखा दें । यह प्रश्न पहली बार सपरिषद् आदेश की तारीख के 6 मास बाद निष्पादन (सं. 22 सन् 1925) में 18.1.1925 को दिए गए एक आवेदन में उठाया गया । हम इस बात की चर्चा नहीं करते कि यदि यह अनुतोष वादपत्र में मांगा गया होता तो क्या उसे देने से इंकार कर दिया गया होता । हमारी राय में उच्च न्यायालय का यह दृष्टिकोण अपनाना स्पष्टतः सही था कि संपत्ति के अंतःकालीन लाभों का हिसाब देने का प्रतिवादी को निदेश देने वाले सपरिषद् आदेश का यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि उससे अपेक्षा है कि वह सकल प्राप्तियों का हिसाब दे । अधीनस्थ न्यायालय की जो डिक्ली कुछ परिवर्तन के साथ पुनः स्थापित की गई और स्वयं सपरिषद् आदेश का आशय उस अर्थ से माना जाना चाहिए जो “अंतःकालीन लाभ” पद का सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 2 के खण्ड (12) में दिया गया है । वादियों का यह तर्क जो उनकी अपील सिविल प्रकीर्ण अर्जी सं. 2894 सन् 1933 का आधार है, अमान्य किया जाना चाहिए ।

11. हमारी यह राय नहीं है कि वादी अपने द्वारा उठाए गए शेष तर्कों में किसी आधार पर सफल हो सकते हैं । दोनों पक्षों ने प्रयत्न किया है कि बोर्ड उन आंकड़ों में हस्तक्षेप करे जो उच्च न्यायालय ने वर्ष 1325 और 1333 के बीच के वर्षों के अंतःकालीन लाभों के निकाले हैं । किंतु हमें ऐसा कोई सिद्धांत या विधि का प्रश्न नहीं मिला जिस पर उच्च न्यायालय ने भूल की हो । विद्वान् न्यायाधीशों ने उस कठिन सामग्री के आधार पर जो निष्कर्ष बहुत सावधानी से निकाला है वह युक्तियुक्त और विश्वासोत्पादक प्रतीत होता है । वे वादगत भूमि की फसली वर्ष 1334-1335 की सकल मांग के विश्वसनीय आंकड़े प्राप्त कर सके हैं और उन्होंने इन दो वर्षों के औसत को अपने निर्णयानुसार यह माना कि वह गणना के लिए साक्ष्य में उपलब्ध सर्वोत्तम आधार है । विवरणों की सूक्ष्म समीक्षा करके उन्होंने वे

आंकड़े निकाले जो प्रत्येक वर्ष की जाने वाली कटौती की विभिन्न मदों के हैं। विस्तार में जाने पर ऐसे आंकड़ों की सदैव आलोचना की जा सकती है किंतु ऐसा कोई मामला सिद्ध नहीं किया गया जिससे कि इन आंकड़ों का बोर्ड द्वारा पुनरीक्षण अपेक्षित हो।

12. वादियों का कहना था कि प्रतिवादी ने काश्तकारों को भूमि पट्टे पर देने में कपटपूर्वक एवं अनुचित रूप से कार्य किया। उच्च न्यायालय ने अनुमति दी है कि इस दावे के संबंध में निष्पादन में स्वतंत्र कार्यवाही चलती रहे। हमने यह नहीं पाया कि वादियों को इस विषय में कोई व्यथा है या उच्च न्यायालय के नए काश्तकारों से प्राप्त प्रीमियम की बाबत अतिरिक्त अंतःकालीन लाभों के दावों को ग्रहण करने से इंकार से कोई व्यथा है। प्रतिवादी की आपत्ति है कि उसे संग्रह करने में खर्च के रूप में 10 प्रतिशत की कटौती अनुमत होनी चाहिए, और वह उक्त राशि साक्ष्य द्वारा सिद्ध किए बिना ही, देखिए – **भारत सचिव बनाम सरोज कुमार आचार्य**¹ वाला मामला किंतु प्रतीत यह होता है कि निचले न्यायालयों में यह उसके हित में समझा गया कि संग्रह के खर्च के वास्तविक आंकड़े सिद्ध करे। इस अपील में उसके पक्ष के इस तर्क को यही रूप दिया गया। यदि इस प्रयास का फल कुछ उसके विरुद्ध गया तो हम यह सही नहीं समझते कि उच्च न्यायालय का आदेश इस कारण से परिवर्तित किया जाए। उसके इस तर्क का कि अंतःकालीन लाभों पर ब्याज अनुमत नहीं किया जाना चाहिए, स्पष्ट उत्तर संहिता की धारा 2(12) में दी गई परिभाषा में है।

13. अब एक बात बचती है जिस पर प्रतिवादी को सफल होना चाहिए। सपरिषद् आदेश ने (उच्च न्यायालय की डिक्री से सहमत होते हुए) अंतिम रूप से अवधारित किया कि वादियों द्वारा 1.9.1914 से 5.3.1919 तक (जिस तारीख को छह लाख रुपए न्यायालय में जमा किए गए) 6 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से ब्याज देय है। यह ब्याज 5.3.1919 तक 1,62,400/- रु. हुआ। जब हिसाब के दूसरे पक्ष में वादियों को 1914 से अपने संपूर्ण दावे पर ब्याज दिलाया जाता है तो उचित रूप से हिसाब करने की दृष्टि से हमारे विचार से यह सही है कि उक्त राशि पर वादियों से ब्याज दिलाया जाए। इस मद का उन मदों से कोई अंतर नहीं है जिनके बारे में वादी स्वीकार करते हैं कि उनके द्वारा देय ब्याज की गणना की जानी चाहिए। और वह इस कारण से कि उन्होंने अपने दावे की बाबत

¹ 62 इंडियन अपीलस 532 = ए. आई. आर. 1935 प्रि. को. 49.

अदायगी प्राप्त की । यदि हिसाब के दोनों पक्ष अलग-अलग तैयार किए जाएं और केवल अंत में अतिशेष निकाला जाए तो यह आवश्यक होगा कि प्रत्येक पक्ष दूसरे के तुल्य हो । प्रस्तुत मामले में हिसाब 1914 से 1929 तक का है । यह प्रतीत होता है कि उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों द्वारा प्रतिवादी का इस विषय में तर्क गलत समझा गया । सपरिषद् आदेश में निदेश दिया गया था कि छह लाख रुपयों पर ब्याज अमुक अवधि के लिए लगेगा । यह आवश्यक नहीं था कि यह भी निदेश दिया जाता कि हिसाब में यह राशि किस प्रकार मुजरा की जाएगी । हमारी राय में यही एक ऐसा प्रश्न है जिस पर कि प्रतिवादी की अपील मंजूर की जा सकती है ।

14. हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि प्रतिवादी की अपील भागतः मंजूर की जानी चाहिए और उसे 1,62,400/- रु. की राशि पर 3.3.1919 से 26.8.1929 तक का 6 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से ब्याज मिलना चाहिए । और वादी की अपीलों में सिविल प्रकीर्ण अर्जी सं. 2894 सन् 1933 खारिज की जानी चाहिए और सिविल प्रकीर्ण अर्जी सं. 3685 सन् 1933 भागतः मंजूर की जानी चाहिए । फसली वर्ष 1324 की बाबत अंतःकालीन लाभों की गणना 1325 से 1333 तक के 9 वर्षों के औसत के आधार पर होनी चाहिए, जैसा कि उपर्युक्त लेखा के स्तम्भ 10 में दिया गया है । साथ ही 26.8.1929 तक का ब्याज भी । वादियों ने 1324 फसली की बाबत जो कुछ प्राप्त किया उसे उचित तौर पर मुजरा किया जाना चाहिए । उच्च न्यायालय के आदेश के खण्ड 1 और 2 में 6,23,665/- रु. 1 आ. की राशि में तदनुसार समायोजन किया जाना चाहिए । किंतु उपर्युक्त के सिवाय उच्च न्यायालय का आदेश बरकरार रहना चाहिए, जिसमें खर्चा विषयक आदेश भी है । इस समेकित अपील के खर्च के बारे में कोई आदेश नहीं दिया जाता है ।

तदनुसार आदेश दिया गया ।

बाबू लाल चौखनी.....अपीलार्थी

बनाम

सम्राट.....प्रत्यर्थी

(कलकत्ता उच्च न्यायालय के निर्णय के प्रि. कौ. अपील सं. 65 सन् 1937)

निर्णीत : 17.2.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड राइट, लार्ड अलनेस, लार्ड रोमर, सर शादी लाल व सर जार्ज रैंकिन

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 — निर्वचन — उसका अर्थ सामान्य सिद्धांतों के अनुसार लगाया जाना चाहिए जिससे कि उसमें प्रयुक्त भाषा का सीधा अर्थ प्रभावी किया जाए ।

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 — धारा 239 (घ) — क्या अपराध एक ही संव्यवहार में किए गए, इस पर विचार उस समय की दृष्टि से किया जाना चाहिए जबकि कार्यवाही की जाए और अभियोग के समय शर्तें पूरी होनी चाहिए — परिणाम के समय शर्तें पूरी होना आवश्यक नहीं ।

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 — धारा 537 — कोई निर्णय अपराधों के संयोजन में कोई त्रुटि होने के आधार पर तब तक नहीं उलटा जाएगा जब तक कि उस कुसंयोजन के कारण अभियुक्त के प्रति अन्याय न हुआ हो ।

भारतीय विद्युत अधिनियम, 1910 — धारा 39 व 44 (ग) — जब प्रश्नगत अपराध दोनों धाराओं में आता है तो आरोप धारा 39 के अधीन विरचित करना उचित होगा ।

प्रक्रिया — प्रिवी काउंसिल — जब अपील की इजाजत किसी विनिर्दिष्ट आधार पर दी गई तो अपील में अन्य प्रश्नों पर बहस नहीं की जा सकती ।

निर्णय

जस्टिस लार्ड राइट — ये दो समेकित अपीलें सारतः तथ्य के एक जैसे विवादकों के बारे में हैं और उनमें विधि के समान प्रश्न अंतर्वलित हैं । वे सपरिषद् हिज मैजेस्टी की विशेष इजाजत से की गई जिससे कि दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 239 (घ) के सही प्रभाव के विषय में विनिश्चय प्राप्त कर लिया जाए । उक्त धारा में उपबंध है कि जो व्यक्ति एक ही संव्यवहार के अनुक्रम में किए गए भिन्न-भिन्न अपराधों के अभियुक्त हों वे एक साथ आरोपित और विचारित किए जा सकते हैं । प्रश्न

है संयोजन के सही होने का, जो संव्यवहार के एक ही होने पर निर्भर करता है। उसका अवधारण अभियोग देखकर या विचारण का परिणाम देखकर किया जाना चाहिए। **विचारण और दोषसिद्धि की विधिमान्यता¹** को प्रभावित करने वाले कुछ अनुषंगी प्रश्न भी उठाए गए हैं। ये ऐसे विषय नहीं हैं जिनके आधार पर बोर्ड द्वारा दाण्डिक मामलों में इस विवेकाधिकार के मार्गदर्शन के लिए अपनाए गए सिद्धांतों पर अपील की विशेष इजाजत देना उचित हो और वे इस बोर्ड के समक्ष नहीं लाए जाने चाहिए थे, किंतु क्योंकि ये प्रश्न उठाए गए हैं अतः हम सम्यक् अनुक्रम में उनकी संक्षेप में चर्चा करेंगे। प्रथम अपीलार्थी बाबू लाल चौखनी का लंबा-चौड़ा कारबार है जिसमें कलकत्ता स्थित भारत लक्ष्मी सिनेमा का स्वामित्व और प्रबंधकों के माध्यम से संचालन भी है। उसे विद्युत चोरी के लिए विद्युत अधिनियम, 1910 की धारा 39 के अधीन दोषसिद्ध करके जुर्माने और कारावास का दंड दिया गया। मजिस्ट्रेट ने षड्यंत्र के लिए जो उसकी दोषसिद्धि की थी वह उच्च न्यायालय ने अपील में अभिखंडित कर दी। द्वितीय अपीलार्थी को इस बात के लिए दोषी ठहराया गया कि उसने प्रथम अपीलार्थी को सहायता दी और उसका दुष्प्रेरण किया। उसकी भी षड्यंत्र के लिए दोषसिद्धि अभिखंडित कर दी गई। अलग-अलग की गई चोरियां प्रस्तुत जैसे मामले में एक संव्यवहार का भाग मानी जा सकती थीं यदि वे एक ही षड्यंत्र के परिणामस्वरूप किए गए कार्यों के रूप में जुड़ सकें। तथ्य बहुत संक्षेप में दिए जा सकते हैं। वर्ष 1934 में कलकत्ता इलैक्ट्रिक सप्लाय कारपोरेशन यह देखकर चिंतित थी कि उत्पादित की गई और विक्रय की गई बिजली की इकाइयों में अंतर उससे अधिक था जो कि क्षय के प्राकृतिक कारणों से, जैसे कि पारेषण या संपरिवर्तन में होने वाली हानि, अधिक था। मीटरों के विशेष निरीक्षक नियुक्त किए गए और सम्यक् क्रम में चोरी करने की व्यापक प्रणाली का साक्ष्य मिला। अपनाया गया मार्ग यह था कि उपभोक्ता के परिसर में मीटरों में इस प्रकार छेड़छाड़ की गई कि वह छेड़छाड़ की बात भी छिपी रहे। वस्तुतः यह कार्य कुशल कामगारों द्वारा किया जाता था, किंतु उनके क्रियाकलाप का संगठन कुछ ही व्यक्ति करते थे। वे उपभोक्ताओं के पास जाते थे, उनसे उन राशियों में हिस्सा तय करते थे जो कि मीटर के पठन (रीडिंग) में कपटपूर्ण परिवर्तन से बचेगी। फिर वे वास्तविक छेड़छाड़ करने वालों से शर्तें तय करके उन्हें उस काम पर लगाते थे। द्वितीय अपीलार्थी ऐसा ही एक संगठनकर्ता था।

¹ ए. आई. आर. 1936 कलकत्ता 753.

प्रथम अपीलार्थी पर जिन चोरियों का आरोप था वह उसके सिनेमा में की गई थी मजिस्ट्रेट तथा उच्च न्यायालय दोनों ने वास्तविक चोरी के तथ्य और सबूत पाए । अब किसी का कहना नहीं है कि इन बातों के निष्कर्षों को औचित्य प्रदान करने के लिए साक्ष्य नहीं था ।

2. उठाए गए मुख्य विधि प्रश्न की, अर्थात् दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 239(घ) के अर्थान्वयन की, चर्चा करने के लिए यह आवश्यक है कि कार्यवाही के अनुक्रम का संक्षिप्त वर्णन कर दिया जाए । 17.11.1934 को विद्युत निगम ने अपनाए जाने वाले मार्ग को औचित्य प्रदान करने के लिए प्रथमदृष्ट्या पर्याप्त सामग्री पाकर, कलकत्ता के मुख्य प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट के यहां एक परिवाद दाखिल किया कि उनकी विद्युत की चोरी की जा रही है, जिसमें प्रथम अपीलार्थी के सिनेमा का और एक अन्य सिनेमा का, जिससे वह संबद्ध नहीं था, विशेष उल्लेख था । पुलिस ने मामले का अन्वेषण करके 29.1.1935 को मुख्य प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट को एक रिपोर्ट दी जिसमें दोनों अपीलार्थियों सहित 23 व्यक्तियों के नाम थे और उन पर अभियोग था कि उन्होंने कलकत्ता, हावड़ा तथा ब्रिटिश भारत के अन्य स्थानों में निगम की विद्युत ऊर्जा की चोरी करने के लिए आपराधिक षड्यंत्र रचा और षड्यंत्र के अनुसरण में दोनों सिनेमाघरों तथा ब्रिटिश भारत के अन्य स्थानों पर बेईमानी से बिजली ली और उसका उपभोग किया । मुख्य प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट श्री सिन्हा ने 29.1.1935 को सुनवाई प्रारंभ की और 23 अभियुक्तों में से 12 के विरुद्ध आरोप विरचित किए । यह उन्होंने 36 व्यक्तियों के मुख्य साक्ष्य को सुनने के बाद किया । इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण साक्षी तीन इकबाली गवाह थे । अपीलार्थी सं. 1 के विरुद्ध विरचित आरोप इस प्रकार थे :—

“(1) अपीलार्थी सं. 2 अन्य अभियुक्तों के साथ संयुक्त : आप जनवरी, 1934 और 20 जनवरी, 1935 के बीच 2 व 2/1 चितरंजन एवेन्यु (भारत लक्ष्मी पिक्चर हाउस), जुपीटर सिनेमा, 66/2 बीडन स्ट्रीट, सियाल्दा होटल, 225 हेरिसन रोड तथा कलकत्ता, हावड़ा और चौबीस परगना के अन्य स्थानों में कृष्ण चन्द्र शोम, भोला नाथ चटर्जी, हरद्वार सिंह, अश्विनी कुमार पांजा, नानीलाल घोष उर्फ नानी मिस्त्री, पुत्तू, मोहम्मद अब्दुल अजीम तथा भूदेव चन्द्र सेठ और अन्य व्यक्तियों के साथ एक आपराधिक षड्यंत्र में शामिल थे जो कलकत्ता इलैक्ट्रिक सप्लाय कारपोरेशन लि., की विद्युत ऊर्जा की चोरी (बेईमानी से उपभोग या उपयोग), उपभोक्ताओं के परिसरों में मीटरों

में छेड़छाड़ करके करने के लिए था और उक्त षड्यंत्र के अनुसरण में भारत लक्ष्मी पिक्चर हाउस, जुपीटर सिनेमा और अन्य स्थानों पर विद्युत ऊर्जा की चोरी वस्तुतः की गई और इस प्रकार आपने विद्युत अधिनियम की धारा 39 के साथ पठित भारतीय दंड संहिता की धारा 120ख तथा धारा 379 के अधीन अपराध किया, जो इस न्यायालय के संज्ञान के अंतर्गत है ।”

“(2) केवल अपीलार्थी सं. 1 के विरुद्ध : आपने अप्रैल, 1934 और 16 जनवरी, 1935 के बीच भारत लक्ष्मी पिक्चर हाउस में, जो 2 व 2/1 चितरंजन एवेन्यू थाना जोराशंक, कलकत्ता में स्थित है, कलकत्ता इलैक्ट्रिक सप्लाय कारपोरेशन लि. की विद्युत ऊर्जा की चोरी (बेईमानी से उपभोग या उपयोग करके) की और इस प्रकार आपने धारा 379 भा. दं. सं. के साथ पठित धारा 39 विद्युत अधिनियम (1910 का 9) के अधीन अपराध किया, जो इस न्यायालय के संज्ञान के अंतर्गत है ।”

3. अपीलार्थी सं. 2 के विरुद्ध सभी अभियुक्तों के विरुद्ध संयुक्त आरोप के अतिरिक्त, दो अन्य आरोप थे जिनमें से एक यहां तात्त्विक है । यह इस प्रकार था :—

“आपने अप्रैल, 1934 और 16 जनवरी, 1935 के बीच भारत लक्ष्मी पिक्चर हाउस में कलकत्ता इलैक्ट्रिक सप्लाय कारपोरेशन लि. की विद्युत ऊर्जा की (बेईमानी से उपभोग या उपयोग द्वारा) चोरी के बाबू लाल चौखनी द्वारा अपराध का दुष्प्रेरण किया, जो अपराध आपके दुष्प्रेरण के परिणामस्वरूप किया गया और इस प्रकार आपने विद्युत अधिनियम, (1910 का 9) की धारा 39 के साथ पठित धारा 109 भा. दं. सं. तथा धारा 379 भा.दं.सं. के अधीन अपराध किया, जो इस न्यायालय के संज्ञान के अंतर्गत है ।”

4. आरोप दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 254 के अनुसार विरचित किए जाने के बाद विचारण मुख्य प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट के समक्ष चला । उन्होंने अभियोजन और प्रतिरक्षा दोनों का वृहत् साक्ष्य सुना । 6.6.1935 को उन्होंने निर्णय सुनाया जिसका निष्कर्ष था कि षड्यंत्र का आरोप दो अपीलार्थियों सहित सात अभियुक्तों के विरुद्ध साबित हो गया है । उन्होंने अन्य अभियुक्तों को दोषमुक्त कर दिया । उन्होंने अपीलार्थी सं. 1 के विरुद्ध चोरी का आरोप साबित पाकर उसे एक वर्ष के कठिन कारावास और एक हजार रुपए के जुर्माने का दण्ड दिया । षड्यंत्र के आरोप के लिए

उन्होंने अलग से दण्डादेश नहीं दिया । मुख्य प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट ने अपीलार्थी सं. 2 को षड्यंत्र का और चोरी के दुष्प्रेरण का दोषी ठहराकर आरोप पर दो वर्ष के कठिन कारावास का दंड दिया । षड्यंत्र के आरोप के लिए उन्होंने अलग दंडादेश नहीं दिया । अपीलार्थी सं. 1 के सिनेमा से भिन्न जुपीटर सिनेमा के संबंध में आरोप पर अपीलार्थी सं. 2 दोषमुक्त कर दिया गया । यह चर्चा सुसंगत नहीं है कि दोषसिद्ध किए गए । अन्य व्यक्तियों की बाबत परिणाम क्या रहा । दोनों अपीलार्थियों ने उच्च न्यायालय में अपील की । 10.7.1936 को मुख्य न्यायमूर्ति डर्बीशायर और न्यायमूर्ति कास्टेलो ने न्यायालय का निर्णय सुनाया । जहां तक षड्यंत्र के आरोप का प्रश्न था, उच्च न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि वह साबित नहीं हुआ है । उस विषय में उन्होंने मजिस्ट्रेट के विनिश्चय को उलटकर उस बाबत दोषसिद्धि अपास्त कर दी । षड्यंत्र विषयक आरोप अभियुक्तों, उपभोक्ताओं, संगठनकर्ताओं और छेड़छाड़ करने वालों सभी के एक से ही षड्यंत्र का था । न्यायालय ने निर्णय किया कि यह हो सकता है कि संगठनकर्ता और छेड़छाड़कर्ता मिलकर इस प्रकार कार्य कर रहे हों कि भारतीय दंड संहिता की धारा 120-ख के अर्थों में आपराधिक षड्यंत्र बने । किंतु इस निष्कर्ष को औचित्य प्रदान करने वाला कोई साक्ष्य नहीं है कि सभी उपभोक्ता, सभी संगठनकर्ता और सभी छेड़छाड़कर्ता मिलकर कार्य कर रहे थे जिससे कि सभी को आलिप्त करने वाला एक ही षड्यंत्र बना जिसका आरोप लगाया गया था । आरोप केवल इस बात के कारण साबित नहीं हो सका कि प्रत्येक उपभोक्ता और उन विशिष्ट व्यक्तियों के बीच, जिन्होंने उससे मिलकर और उसके फायदे के लिए छेड़छाड़ की, एक करार था । किंतु न्यायालय ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 239(घ) का अर्थ करके यह माना कि समग्र रूप से विचारण व्यक्तियों और आरोपों के कुसंयोजन के कारण पूर्वाग्रहपूर्ण नहीं था । उनका निष्कर्ष था कि यह निर्णय करने के लिए कोई कारण नहीं है कि मजिस्ट्रेट आरोप विरचित करने में किसी हेतु से कार्य कर रहे थे । बल्कि उन्होंने पाया कि उनकी सद्भावपूर्ण राय थी कि उनके आरोप विरचित करने के प्रक्रम पर उनके समक्ष अभियोजन द्वारा मुख्य परीक्षा के रूप में जो साक्ष्य दिया गया उससे षड्यंत्र का आरोप विरचित करने के लिए आधार बनता था । उनका दृष्टिकोण बाद में कितना भी गलत निकला हो धारा 254 के निदेशानुसार आरोप विरचित करने के लिए वे उस शक्ति का न्यायिक रूप से प्रयोग कर रहे थे जो उन्हें धारा 239(घ) द्वारा प्रदत्त थी । तदनुसार उन्होंने निर्णय किया कि इस कार्यवाही में धारा 239(घ) के उपबंधों का कोई उल्लंघन नहीं है और वह अवैध या अविधिमान्य नहीं है । न्यायालय ने यह भी निर्णय

किया कि आरोप के प्ररूप के अभियुक्तों पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा, बल्कि “मुख्य प्रेजीडेंसी मजिस्ट्रेट ने प्रत्येक अभियुक्त के विरुद्ध साक्ष्य की चर्चा सावधानी और शुद्ध अंतःकरण से की है ।” न्यायालय का यह निष्कर्ष चोरी या दुष्प्रेरण के व्यक्त कार्यों के विनिर्दिष्ट आरोप के संदर्भ में था । अंत में न्यायालय ने कहा :—

“यदि हमें यह मानने के लिए जरा भी कारण होता कि दोषसिद्ध किए गए सभी व्यक्तियों पर षड्यंत्र का आरोप लगाए जाने से किसी भी दोषसिद्ध व्यक्ति के प्रति अनुचित व्यवहार किया गया तो हम इसे अपना कर्तव्य मानते कि कार्यवाही अभिखंडित कर दें । अभियोजन के सौभाग्य से, यद्यपि हमने अपीलार्थियों की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् अधिवक्ता द्वारा उठाए गए विभिन्न प्रश्नों पर बारीकी से ध्यान दिया और विचार किया है, किंतु हमने ऐसा कोई निष्कर्ष नहीं निकाला । साक्ष्य के जिन अंशों के संबंध में श्री कार्डेन नोड ने कहा कि वे ग्राह्य नहीं थे, सिवाय उस दशा के जबकि षड्यंत्र का आरोप था, और साक्ष्य के जिन अंशों के विषय में श्री कार्डेन नोड ने कहा कि वे किसी दशा में ग्राह्य नहीं होंगे, इनमें से किसी का भी हमारी राय में दोषसिद्ध व्यक्तियों के या उनमें से किसी के हित पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा है ।”

5. यह निष्कर्ष ऐसा है जिस पर सावधानी से विचार करने के बाद भी हम विसम्मति का कोई कारण नहीं पाते । हम धारा 239(घ) के अर्थ और प्रभाव के तथा प्रस्तुत मामले में उसके लागू होने के विषय में भी उच्च न्यायालय के विचार से सहमत हैं । इस प्रकार सहमत होने के अपने विस्तृत कारण देने के पूर्व हम यह बता दें कि अपीलार्थियों की ओर से की गई कुछ कम महत्व की आपत्तियों पर चर्चा हम आगे करेंगे, जिन्हें उच्च न्यायालय ने भी अमान्य किया है और हमारे विचार से उन्होंने ठीक किया है । इस कार्यवाही के दौरान सभी प्रकार से यह सुस्थापित विधि मानी गई है कि अनुच्छेद 239(घ) का उल्लंघन सिद्ध होने पर वह अनियमितता मात्र न होकर अवैधता होगा और परिणामतः दोषसिद्ध **सुब्रहमण्य अय्यर** बनाम **सम्राट**¹ में वर्णित नियम के अनुसार अभिखंडित करनी होगी । यह स्थिति अनियमितता वाली स्थिति से भिन्न होगी, जिसके बारे में **अब्दुल रहमान** बनाम **सम्राट** वाला मामला एक प्रमाण है । हम यह मान लेते हैं कि यह

¹ [1902] इंडियन अपीलस 257 = 45 (मद्रास) 61 = 11 एम. एल. जे. 233.

ऐसा है और हम यह आवश्यक नहीं समझते कि प्रथमोक्त निर्णय में विनिश्चय की ठीक संक्षिप्त व्याप्ति की चर्चा करें क्योंकि धारा 239 (घ) के विषय में हमारी समझ के अनुसार वह प्रश्न उद्भूत ही नहीं होता है। दण्ड प्रक्रिया संहिता में कानूनी नियमों का एक संग्रह दिया गया है। धारा 5(1) में उपबंध है कि भारतीय दंड संहिता के अधीन सभी अपराधों का अन्वेषण, जांच और विचारण तथा उनके विषय में अन्य कार्यवाही उसके उपबंधों के अनुसार की जाएगी। अतः संहिता की भाषा निश्चायक है और उसका अर्थ सामान्य सिद्धांतों के अनुसार लगाया जाना चाहिए, जिससे कि उसमें प्रयुक्त भाषा का सीधा और स्पष्ट अर्थ प्रभावी किया जाए। निस्संदेह दुविधा की दशा में वह अर्थ पसंद किया जाना चाहिए जो न्याय और सुविधा के अधिक अनुरूप हो। किंतु सामान्यतः प्रयुक्त शब्दों का उस संदर्भ में निकलने वाला अर्थ ही मान्य होगा। धारा 239 अध्याय 19 में आती है, जो आरोपों के प्ररूप तथा आरोपों के संयोजन के विषय में है। उत्तरोक्त विभाग में धारा 234 से 240 तक आती हैं। धारा 233 में सामान्य नियम के रूप में कहा गया है कि प्रत्येक सुभिन्न अपराध के लिए, जिसका किसी व्यक्ति पर अभियोग है, पृथक्त्तः आरोप होगा, और ऐसे प्रत्येक आरोप का विचारण पृथक्त्तः किया जाएगा, सिवाय धारा 234, 235, 236 और 239 में वर्णित मामलों के। धारा 234, 235 और 236 एक ही अभियुक्त के विरुद्ध विभिन्न अपराधों के संयोजन और विचारण के विषय में हैं। धारा 239 एक ही आरोप एवं विचारण में अनेक व्यक्तियों के संयोजन के विषय में है। धारा 239(ख) संपूर्णतः लिखी जाने पर इस प्रकार पढ़ने में आएगी :—

“वे व्यक्ति जो एक ही संव्यवहार के अनुक्रम में किए गए भिन्न अपराधों के अभियुक्त हों एक साथ आरोपित और विचारित किए जा सकेंगे और इस अध्याय के पूर्ववर्ती भाग के उपबंध (जो आरोपों के प्ररूप और संयोजन के विषय में हैं) ऐसे सब आरोपों को यथाशक्य लागू होंगे।”

6. यह खंड अभिव्यक्त रूप से धारा 233 के अपवादस्वरूप है और एक ही विचारण में अनेक अपराधों के विषय में कार्यवाही अनुमत करता है। किंतु इसमें वह परिसीमा न अभिव्यक्त रूप से और न विवक्षित रूप से कथित है जो धारा 234 में दी गई है, जिसके अनुसार 12 मास की अवधि के भीतर किए गए एक ही प्रकार के अधिकतम तीन अपराधों का विचारण एक साथ किया जा सकता अथवा जो धारा 335(1) में दी गई है जिसके

अधीन एक ही व्यक्ति द्वारा किए गए एक से अधिक अपराधों का एक साथ विचारण तभी हो सकता है जब वह कार्य की एक ऐसी कड़ीबद्ध शृंखला बनाए कि वे इस प्रकार संबद्ध हों कि उनसे एक ही संव्यवहार बने और जिस विषय में संख्या विषयक कोई विनिर्दिष्ट सीमा नहीं है। न धारा 239(घ) में अपराधों की संख्या की कोई सीमा है। उसमें एकमात्र सीमा यह है कि अभियोग ऐसे अपराधों का होना चाहिए जो एक ही संव्यवहार के अनुक्रम में किए गए हों। “एक ही संव्यवहार” शब्दों के अर्थ की व्याप्ति कुछ भी हो, प्रस्तुत मामले के लिए यह कहना पर्याप्त है कि यदि अनेक व्यक्ति अपराध करने का षड्यंत्र करें और षड्यंत्र के अनुसरण में व्यक्त कार्य करें (जो ऐसी परिस्थिति है जो कि एक व्यक्ति के कार्य को षड्यंत्रकारियों में से प्रत्येक का और सब का कार्य बना देता है) तो ये कार्य एक ही संव्यवहार के अनुक्रम में किए गए हैं, जिसमें षड्यंत्र और उसके अधीन किए गए कार्य आते हैं। षड्यंत्र जिस समान सहमति और कशर से बनता है उससे उसके अनुसरण में किए गए कार्य एक दूसरे से जुड़े हैं। यहां तक बात स्पष्ट है, किंतु जिस कठिन प्रश्न पर इस अपील में जोरदार बहस की गई है वह कार्यवाही के उस समय के विषय में है जब कि इस खण्ड द्वारा विहित शर्त पूरी होनी चाहिए। ठीक-ठीक शब्दों में, क्या यह पर्याप्त है कि षड्यंत्र का वर्णन अभियोग में हो अथवा वह विचारण के अंतिम परिणाम में भी होना चाहिए। सुसंगत समय अभियोग का समय है या अंतिम परिणाम का समय। प्रथमोक्त मत के लिए भारतीय न्यायालयों के निर्णयों की एक सतत् शृंखलाबद्ध हैं, किंतु मामला अब तक (ज्यूडिशियल कमेटी) न्यायिक समिति के समक्ष नहीं आया था और अब उसे इसका निर्णय करना है। यह प्रश्न सिद्धांत का है अथवा यह कहना अधिक सही होगा कि अर्थान्वयन का है।

7. हमारी राय में भारत में अपनाया गया दृष्टिकोण सही है, जैसा कि उच्च न्यायालय ने भी प्रस्तुत मामले में अभिनिर्धारित किया है। यह खंड तीन बातों के विषय में है : अभियोग, आरोप और विचारण। यह निर्णय के विषय में कुछ नहीं कहता। शर्त इन शब्दों में दी गई है : “वे व्यक्ति जो भिन्न अपराधों के अभियुक्त हों।” इसमें यह नहीं कहा गया है कि “सही तौर पर अभियुक्त” अथवा “अभियुक्त और दोषसिद्ध”। न्यायालय आरोप विरचित करने और विचारण करने का कार्य उसके आधार पर करेगा जो अभियोग से प्रकट हो। यह अभियोग अनिवार्यतः आरोप विरचित करने और विचारण करने विषयक विवेकाधिकार के प्रयोग के पहले होता है। ये प्रक्रम

अभियोग के बाद आते हैं। इस मत को समर्थन धारा 254 से भी मिलता है, जो कि प्रश्नगत जैसे वारंट मामलों में मजिस्ट्रेट के कर्तव्य बताती है। इस प्रकार बताया गया कर्तव्य यह है कि यदि ऐसा साक्ष्य ले लिए जाने या मामले के किसी पूर्वतम प्रक्रम में मजिस्ट्रेट की यह राय हो कि यह उपधारणा करने के लिए आधार है कि अभियुक्त ने अध्याय 21 के अधीन विचारणीय ऐसा अपराध किया है जिसका विचारण करने के लिए वह मजिस्ट्रेट सक्षम है और जिसके लिए वह अपनी राय में पर्याप्त दंड दे सकता है तो उस अभियुक्त के विरुद्ध लिखित आरोप विरचित करना चाहिए। इसी प्रकार से उच्च न्यायालय में या सेशन न्यायालय में विचारण के मामले में आरोप अभियोग के आधार पर विरचित होंगे। यह सही है कि मजिस्ट्रेट की राय इस विषय में गलत हो सकती है कि संव्यवहार एक ही है, या जिस साक्ष्य से उसने प्रथमदृष्ट्या माना कि यह शर्त पूरी होती है वह साक्ष्य अपर्याप्त हो, या अंत में गलत साबित हो। ऐसा कोई भी परिणाम निकल सकता है, किंतु अभियोजन को विचारण के समय अलग अपराधों का संयोजन अनुमत हो जाता है और यह कहा गया है कि धारा 234(घ) का यह अनुचित लाभ उठाया जाता है कि अनेक अभियुक्त और अनेक अपराध एक कार्यवाही में आ जाते हैं, जिससे कि अभियुक्त को बड़ी कठिनाई होती है और उसके प्रति अन्याय होता है।

8. यदि धारा का परिणाम वस्तुतः वह होता है जिसकी कि उच्च न्यायालय आशंका करता प्रतीत होता है तो यह अत्यंत खेद की बात होगी और यह बात धारा में विधान मंडल द्वारा संशोधन की आधार हो सकती है, यदि ऐसी पद्धति उच्च न्यायालय द्वारा चेतावनी के बाद और उनके इस निश्चय के बाद भी चलती रहती है कि अभियुक्तों के प्रति अत्रिजु व्यवहार न हो और ऐसी कोई प्रक्रिया नहीं अपनाई जाए जिससे अपेक्षाकृत संक्षिप्त और सादे मामले संलिप्त, लंबे और संभाल के बाहर हो जाएं। फिर भी यह कोई कारण नहीं है कि न्यायालय धारा का गलत अर्थ लगाए। वस्तुतः यह विचारना कठिन है कि ऐसी आशंका के लिए औचित्य है। यह आशा और मान्यता होनी चाहिए कि मजिस्ट्रेट अपने विवेकाधिकार का प्रयोग ऋजुता और ईमानदारी से करेंगे। प्रत्येक विवेकाश्रित शक्ति के प्रयोग के लिए यह एक विवक्षित शर्त होती है। यदि वे ऐसा न करें या तथ्य या विधि की गलती करें तो अभियुक्त को प्रथमदृष्ट्या अधिकार होता है कि उच्चतर न्यायालय में अपील या पुनरीक्षण फाइल करे। उच्च न्यायालय के निर्णय

से ऊपर उद्धृत पैरा प्रकट करता है कि वह न्यायालय इसके लिए कितना सतर्क और संकल्पवान है कि आरोपों या अभियुक्त व्यक्तियों का कुसंयोजन करके अभियुक्तों के प्रतिकूलतः कार्य न हो और उन्हें तंग न किया जाए। ये सुरक्षोपाय विधान मंडल को पर्याप्त लगे होंगे। यह विडम्बनापूर्ण लगेगा कि अभियोजन को विभिन्न अपराधों और विभिन्न अभियुक्तों के संयोजन का फायदा केवल इस कारण मिल जाए कि मजिस्ट्रेट को षड्यंत्र का आरोप प्रथमदृष्ट्या उचित लगा, जबकि विचारण में वह आक्षेप धराशायी हो गया। किंतु अच्छा हो या बुरा, आरोप कार्यवाही के प्रारंभिक प्रक्रम पर विरचित करते होते हैं। यह बड़ी विरोधाभासी स्थिति होगी, यदि विचारण की समाप्ति के पूर्व कोई न बता पाए कि विचारण वैध है या अवैध।

9. हम इस प्रश्न का विनिश्चय उस आधार पर करते हैं जो हमें प्रयुक्त भाषा का सीधा अर्थ लगता है। ऐसा करने में हम प्रस्तुत मामले में उच्च न्यायालय के सतर्क निर्णय से ही सहमत नहीं हैं अपितु उन विभिन्न नजीरों से भी सहमत हैं जिनका निर्णय में उल्लेख इतना संपूर्ण है कि उनको यहां उद्धृत करना आवश्यक नहीं है। किंतु श्री कार्डन नोड का तर्क है कि उल्लिखित अधिकांश मामलों में षड्यंत्र विचारण के परिणामस्वरूप सिद्ध हुआ और इस प्रकार आरोप अंतिम निर्णय से उचित ठहरा और यह महत्वहीन था कि अभियोग को मार्मिक प्रक्रम माना जाए या निर्णय को। यह कुछ मामलों में सही है, किंतु उससे धारा का वह अर्थ प्रभावित नहीं होता जो कि 1905 में ही एक प्राचीनतम निर्णय **सम्राट बनाम दत्तो**¹ – में लिया गया। उसमें यह स्पष्टतः और सही तौर पर न्यायमूर्ति बैटी के शब्दों में पृष्ठ 64 पर बताया गया :—

“धारा 239 उस दशा में संयुक्त विचारण की अनुमति देती है जब एक से अधिक व्यक्तियों पर एक ही संव्यवहार के दौरान किए गए विभिन्न अपराधों का अभियोग हो। संयुक्त विचारण को उचित ठहराने के प्रयोजनार्थ इतना पर्याप्त है कि अभियोग में कहा गया है कि प्रत्येक अभियुक्त द्वारा किए गए अपराध एक ही संव्यवहार के दौरान किए गए।”

¹ [1905] इंग्लैंड ला रि. 30 बाम्बे 49.

10. हम बाद के केवल एक निर्णय का उल्लेख करते हैं : गोपाल रघुनाथ बनाम सम्राट¹ – उसमें षड्यंत्र का आरोप सिद्ध नहीं हुआ, किंतु विशिष्ट कार्यों के लिए दोषसिद्धि कायम रखी गई । न्यायमूर्ति बेकर ने पृष्ठ 351 पर कहा :—

“जब तक कि सभी अभियुक्त व्यक्तियों के विरुद्ध अभियोग यह है कि उन्होंने एक के बाद एक कार्य करके एक ही योजना को क्रियान्वित किया तो एक ही संव्यवहार के बारे में आरोप का आवश्यक घटक पूरा हो जाता है और इस बात से कि षड्यंत्र सिद्ध नहीं हुआ, विचारण उन कार्यों के बारे में दूषित नहीं हो जाएगा जिन्हें साबित करने के लिए पर्याप्त साक्ष्य था ।”

11. श्री कार्डन नोड ने कुछ अन्य निर्णयों का हवाला दिया जिनके बारे में उन्होंने कहा कि वे धारा 239(घ) के उनके अर्थान्वयन का समर्थन करते हैं क्योंकि इन मामलों में दोषसिद्धियां अपास्त कर दी गईं क्योंकि वे व्यक्तियों और अपराधों के संयोजन के विषय में संहिता की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करते थे यद्यपि (जैसा कि उनका कहना है) न्यायालय धारा 239(घ) के अधीन कार्य कर सकते थे । इन निर्णयों का विस्तार से उल्लेख आवश्यक नहीं है, क्योंकि वे उस दृष्टि से आवश्यक रूप से प्रभेदनीय हैं कि उनमें षड्यंत्र या संयुक्त संव्यवहार का कोई आरोप नहीं था । उदाहरणार्थ गोविन्द कोरी बनाम सम्राट² – में एक लड़के को सिद्ध दोष किया गया कि उसने रेल की पटरी पर ढेले रखे और उसी विचारण में दो अन्य लड़कों को आरोपित और दोष सिद्ध किया गया कि उन्होंने उसे वैध अभिरक्षा से छुड़ाया । वह दोषसिद्धि इस कारण अभिखंडित कर दी गई कि तीनों अपराधों के बारे में यह आरोप नहीं था कि वे एक ही संव्यवहार में किए गए तथा ढेले रखना और बंदियों को छुड़ाना प्रत्यक्षतः पृथक् अपराध थे । हमारे निर्णयानुसार ये अपीलें वहां तक असफल होती हैं जहां तक वे धारा 239(घ) पर आधारित हैं । प्रतीत यह होता है कि इसी आधार पर अपील की विशेष इजाजत दी गई थी । किंतु किसी भी दशा में अपीलार्थियों की ओर से बहस किए गए अन्य आधार ऐसे नहीं हैं जो कि हमारे विचार में यह उचित ठहराए कि (ज्यूडिशियल कमेटी) न्यायिक समिति की अधिकारिता का प्रयोग इस दंडिक मामले में किया जाए । ऐसे

¹ [1929] 16 ए. आई. आर. बाम्बे 128 = 116 आई. सी. 243 = 30 क्रि. ला जर्नल 588.

² [1902] इ. ला रि. 29 कलकत्ता 385.

आधारों की प्रकृति बहुधा बताई गई है । उपर्युक्त अब्दुल्ल रहमान वाले निर्णय में यह बहस की गई थी कि क्योंकि अपील की विशेष इजाजत दे दी गई अतः इस अधिकारिता के प्रयोग को सीमित करने वाले सामान्य नियम लागू नहीं रह गए । यह तर्क (ज्युडिशियल कमेटी) न्यायिक समिति ने अमान्य कर दिया और इसमें उन्होंने आर्नल्ड बनाम सम्राट¹ का अनुसरण किया, जिसमें कि डिप्लेट के मामले² की भाषा अपनाई और दोहराई गई :-

“यह नियम बार-बार प्रतिपादित (अधिकथित) किया गया है और सदैव अनुसरण किया गया है कि हर मैजेस्टी दांडिक कार्यवाही के अनुक्रम में पुनर्विलोकन या हस्तक्षेप तब तक नहीं करेंगी जब तक कि यह न दिखाया जाए कि विधिक प्रक्रिया के प्ररूपों की उपेक्षा द्वारा अथवा नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों के उल्लंघन द्वारा अथवा अन्यथा सारतः और गंभीर अन्याय किया गया है ।”

12. दूसरे शब्दों में, ज्युडिशियल कमेटी दांडिक अपील न्यायालय नहीं है । किंतु अपीलार्थियों द्वारा उठाई गई अन्य बातों पर बहस की गई है, अतः हम उनकी संक्षेप में चर्चा करेंगे । बहस यह की गई कि आरोप धारा 39 विद्युत अधिनियम के अधीन गलत तौर पर विरचित किया गया तथा वह अधिनियम की केवल धारा 44(ग) के अधीन हो सकता था, जो अन्य बातों के साथ-साथ मीटर के इंडेक्स में जानबूझकर और कपटपूर्वक परिवर्तन करने को या मीटर को सम्यक् रूप से अभिलिखित करने से रोकने के अपराध बनाता है । निस्संदेह उस धारा के अधीन आरोप लगाना बेहतर होता यदि मजिस्ट्रेट की अधिकारिता की यह शर्त पूरी हो गई होती कि स्थानीय सरकार द्वारा आदेश किया जाए कि वह कार्यवाही प्रारंभ करने की अनुमति देती है । (धारा 196-क दंड प्रक्रिया संहिता) । यहां वस्तुतः ऐसा नहीं हुआ है । किंतु धारा 44(ग) होने से वह आरोप अनुचित नहीं हो जाता जो धारा 39 के अधीन विरचित किया गया । वस्तुतः धारा 39 एक बड़ा अपराध है । वह अपराध स्पष्टतः सिद्ध हुआ क्योंकि विद्युत प्रवाह (करंट) का अदायगी के किसी आशय के बिना उपयोग निःसंदेह बेईमानी से उपयोग है । धारा 39 के अधीन केवल इतना ही अपेक्षित है जिससे यह धारा कानूनी चोरी उस व्यक्ति के विरुद्ध पर्याप्त रूप से सिद्ध कर देती है जो ऊर्जा का निकालना, उपयोग या उपभोग बेईमानी से करता है । किसी

¹ 41 इंडियन अपीलस 149 (आ. इ. रि. 1914 प्रि. कौ. 116).

² [1887] 12 अपील केसेज 459.

जंगम वस्तु की चोरी साबित करने को लागू तकनीकी नियम यह विशेष अपराध साबित करने को लागू नहीं होते ।

13. फिर भी यह दलील दी गई कि चोरी का आरोप ठीक से विरचित नहीं किया गया । किंतु कहा गया कि अप्रैल, 1934 और 16.1.1935 के बीच अनेक अपराध किए गए, जबकि अपराध एक अकेला चालू रहने वाला अपराध नहीं था, वे अलग-अलग अपराध थे जो विशिष्ट तारीखों को किए गए और उनके आरोप अलग-अलग विरचित किए जाने चाहिए थे । हम सुखद अनुभव करते हैं कि आरोप का प्रारूप बहुत अनियमित और शोचनीय था और उससे बचना चाहिए था । किंतु हम इस आपत्ति को ऐसी नहीं मान सकते कि इस मामले की परिस्थिति में उसे प्रभावी किया जाए, विशेष तौर पर इस कारण कि हम उच्च न्यायालय से सहमत हैं कि अपीलार्थियों के प्रति कोई अन्याय नहीं किया गया । जिन विशिष्ट अपराधों का उनपर आरोप था वे समुचित साक्ष्य द्वारा समाधानप्रद रूप से साबित किए गए और सभी आवश्यक बातों में उनकी संपुष्टि हो गई । यहां न्याय की निष्फलता कोई नहीं हुई । इसके अतिरिक्त अनियमितता ऐसी थी जिसका निराकरण, धारा 225 और 537 के यह निष्कर्ष कि अभियुक्त पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा हो सकता था और हुआ । एक छोटा सा तर्क है कि चोरी का अपराध अविधिमान्य था क्योंकि उसमें नहीं कहा गया था कि चोरी एक षड्यंत्र के अनुसरण में की गई और इस प्रकार उसमें एक ही संव्यवहार का उल्लेख नहीं था । यह निस्सार है । यह विनिर्दिष्ट आरोप स्पष्टतः षड्यंत्र के आरोप के साथ पढ़ा जाना चाहिए था । परिणामतः हमारी राय है कि अपीलों में अपीलार्थियों की ओर से दिए गए तर्क असफल होते हैं, उच्च न्यायालय का निर्णय सही था और उसकी पुष्टि की जानी चाहिए । दोनों अपीलें खारिज की जानी चाहिए । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह तदनुसार है ।

अपीलें खारिज की गई ।

अहमद अंगुलिया.....अपीलार्थी

बनाम

एस्टेट एण्ड ट्रस्ट एजेंसीज (1927) लि. और अन्य.....प्रत्यर्थी
(सिंगापुर के कोर्ट ऑफ अपील के निर्णय के प्रि.कौ. अपील सं. 124 सन्
1936)

निर्णीत : 7.3.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड राइट, लार्ड रोमर, सर लांसलाट सेंडरसन,
सर सिडनी रोलेट व सर जार्ज रैंकिन

वसीयत – निष्पादन के अधिकार एवं कर्तव्य – निष्पादक उस प्रवर्तनीय संविदा को पूरा कर सकता है जो वसीयकर्ता ने की थी, चाहे उसका विनिर्दिष्ट पालन कराया जा सकता हो या नहीं – पालन तब नहीं किया जाना चाहिए जब संविदा प्रवर्तनीय न हो, जैसे कि कपट के कारण – किंतु निष्पादक परिसीमा – वर्जित राशि अदा करने से वर्जित नहीं है, सिवाय उस दशा के जबकि न्यायालय ने उसे परिसीमा-वर्जित घोषित कर दिया हो – यदि संविदा संपदा के लिए भी हो तो निष्पादक समझौता करने का प्रयत्न कर सकता है – किंतु यह दृष्टिकोण सही नहीं है कि निष्पादक संविदा भंग कर दे और नुकसानी मात्र अदा कर दे ।

निर्णय संक्षेप (सार)

जस्टिस लार्ड रोमर – इस अपील में वसीयतकर्ता द्वारा की गई संविदा के उसके जीवनकाल में पूरे न होने पर निष्पादक के उसे पूरा करने के कर्तव्य का प्रश्न उद्भूत हुआ है ।

2. मामले के तथ्य इस प्रकार हैं : कवेना हादजी मोहम्मद यूसुफ नामक एक व्यक्ति ने 3.1.1927 को अपनी सिंगापुर स्थित कुद भूमि के न्यास का सृजन किया, जिसमें स्वयं को तथा अपनी पत्नी फातिमा (प्रत्यर्थिनी) को न्यासी बनाया न्यास यूसुफ के जीवनपर्यंत उसके लाभ के लिए और उसकी मृत्यु हो जाने पर, भरण-पोषण के कुछ दायित्वों के अधीन रहते हुए, उसके पुत्र कादिर इब्राहिम (प्रत्यर्थी) के लाभ के लिए था । आगे के लिए भी व्यवस्था थी ।

3. 15.7.1927 को यूसुफ ने एक ठेकेदार टान पेक हुड से संविदा

की कि उक्त न्यास भूमि के एक भाग में वह छह दुकानें बनाएगा जिनके लिए उसे 44,572 डालर मिलेंगे। 18.7.1928 को यूसुफ की मृत्यु हो गई। उस समय तक दुकानें तीन-चौथाई बन पाई थीं और ठेकेदार को 28,000 से अधिक डालर अदा किए जा चुके थे तथा लगभग 16,000 डालर शेष थे। यह स्पष्ट नहीं है कि इन 16,000 डालरों में से कितना भाग किए गए काम के लिए बकाया था और कितना भावी काम के लिए दिया जाना था। किसी भी दशा में, लगभग 5,000 डालर काम की बकाया के रूप में देय थे। यूसुफ की 25.5.1928 की एक वसीयत के लिए 10.9.1928 को अपीलार्थी को प्रोबेट दिया गया क्योंकि अपीलार्थी को उस वसीयत में निष्पादक नियुक्त किया गया था। ठेकेदार ने उक्त निर्माण पूरा कर दिया और अपीलार्थी ने उसे 17,276 डालर अदा कर दिए। इस राशि के विषय में कोई विवाद नहीं है। उसे जुटाने के लिए अपीलार्थी को मृतक की कुछ संपदा बंधक करनी पड़ी और बंधक ऋण के ब्याज की बाबत उसने 3,702.96 डालर अदा किए। बाद में यह प्रकट होने पर कि वसीयत यथाविधि निष्पादित नहीं हुई थी, वह प्रोबेट रद्द कर दिया गया और मृतक को निर्वसीयत मानकर प्रत्यर्थी एस्टेट्स एंड ट्रस्ट एजेंसीज (1927) लि. को प्रशासक नियुक्त किया गया।

4. निष्पादक के हिसाब देने का प्रश्न उठने पर उसने उक्त 17,276 डालर व 3,702.96 डालर का खर्च दिखाया। इस पर प्रशासक ने विवाद किया। अंत में मामला सिंगापुर के सुप्रीम कोर्ट में दायर किया गया। वहां कार्यकारी मुख्य न्यायमूर्ति बर्टन ने 10.10.1935 को अपीलार्थी का उक्त राशि का दावा अंशतः अमान्य कर दिया और निर्णय किया कि उन्हें संविदा पूरी न करके संविदा भंग की बाबत नुकसानी अदा कर देनी चाहिए थी और ऐसी नुकसानी की बाबत जितनी राशि देय होती उतनी ही का व्यय अपीलार्थी को अनुमत होगा। इसके विरुद्ध अपील कोर्ट आफ अपील के तीन न्यायाधीशों ने अस्वीकार कर दी। अतः यहां अपील की गई।

5. **कूपर बनाम जारमैन**¹ वाले निर्णय में लार्ड रोमिली ने यह राय व्यक्त की थी कि प्रशासक का यह नैतिक एवं विधिक कर्तव्य होता है कि मृतक द्वारा की गई संविदा को पूरा करे। इस निर्णय को निचले न्यायालयों ने **डे स्प्रेक बनाम डे**² का अनुसरण करते हुए नहीं माना। उनका विचार था कि प्रथम निर्णय ऐसे प्रशासक के संबंध में था जो निर्वसीयत का वारिस भी

¹ [1867] ला रि. 3 ईक्वि. 98.

² [1898] ला रि. 2 चांसरी डिवीजन 510.

था और जिसे संविदा का पालन कराने का विधिक अधिकार था । किंतु इस अंतर के लिए कोई अवसर नहीं है । प्रश्न विधिक प्रतिनिधि के दायित्व का था ।

6. प्रथमदृष्ट्या विधिक वैयक्तिक प्रतिनिधि का यह कर्तव्य होता है कि यथास्थिति अपने वसीयतकर्ता या निर्वसीयत की उन सब संविदाओं का पालन करे जो उसके विरुद्ध प्रवर्तित की जा सकती हैं, चाहे वह प्रवर्तन विनिर्दिष्ट पालन द्वारा हो या अन्यथा । यदि संविदा ऐसी हो जो किसी कारण से प्रवर्तन विनिर्दिष्ट पालन द्वारा हो या अन्यथा । यदि संविदा ऐसी हो जो किसी कारण से प्रवर्तित न कराई जा सकती हो, जैसे कि स्टेट्यूट्स ऑफ फ्राड्स के कारण, या ऐसी हो जिसका पालन संपदा के लिए हानिकर होगा तो वह अलग बात है, देखिए – **इन री राउन्सन** (1885) 29 चां.डि. 358 । यद्यपि यह सुप्रतिष्ठित है कि वह इस बात के लिए आबद्ध नहीं है कि परिसीमा का अभिवचन करे और वह परिसीमा-वर्जित ऋण भी चुका सकता है, सिवाय उस दशा के जबकि उसके परिसीमा-वर्जित होने की घोषणा न्यायालय द्वारा की जा चुकी हो, देखिए – **मिजले बनाम मिजले**¹ वाला मामला इसी प्रकार से प्रवर्तनीय भारपूर्ण संविदा के मामले में ऐसे किसी अवसर की उपेक्षा नहीं करना चाहिए जो इस बात के लिए आए कि संविदा के दूसरे पक्षकार से ऐसा समझौता हो जाए जो संपदा के लिए फायदाप्रद हो । किंतु प्रवर्तनीय संविदा को भंग करना विधि-विरुद्ध कार्य है और हमारे विवेकानुसार यह निष्पादक या प्रशासक का कर्तव्य कभी नहीं हो सकता कि ऐसा कार्य करे । यही सिद्धांत **कूपर बनाम जारमैन**² वाले विनिश्चय के मूल में है ।

7. “हमारे निर्णयानुसार निर्वसीयत के दृश्य विधिक वैयक्तिक प्रतिनिधि होने के नाते अपीलार्थी का कर्तव्य था कि प्रश्नगत संविदा के अधीन निर्वसीयत की बाध्यताओं का पालन करता, सिवाय उस दशा के जब कोई ऐसा अवसर आता जिसमें ठेकेदार से ऐसा समझौता हो जाता जो अपीलार्थी के प्रशासनाधीन संपदा के फायदे के लिए होता । ऐसा कोई साक्ष्य नहीं है कि ऐसा कोई अवसर कभी वस्तुतः आया और यदि ऐसा अवसर आया, तो यह साबित करने का भार हमारी राय में प्रत्यर्थी पर था । कार्यकारी मुख्य न्यायमूर्ति बर्टन ने अपने निर्णय के दौरान निस्संदेह कहा कि ठेकेदार उतनी

¹ [1893] 3 चांसरी डिवीजन 282.

² [1867] ला रि. 3 ईक्वि. 98.

राशि से पूर्णतः संतुष्ट हो जाता जो उसकी प्रत्याशित लाभों की हानि की प्रतिपूर्ति के लिए पर्याप्त होती । किंतु ऐसा कहने में विद्वान् न्यायाधीश केवल कल्पना करते प्रतीत होते हैं क्योंकि उनके समझ ठेकेदार के आशय या इच्छा का कोई सबूत नहीं था । यदि कल्पना ही की जाए तो यह अधिक अधिसंभाव्य लगेगा कि ठेकेदार संविदा पूरी करना पसंद करता । ऐसी दशा में यदि अपीलार्थी संविदा पूरी करने से इंकार करता तो संपदा को तब के सिवाय लाभ नहीं हो सकता था जबकि ठेकेदार उस इंकारी को स्वीकार कर लेता, जो कि असम्भाव्य लगता है, और यदि ठेकेदार ने इंकार स्वीकार न करके अपीलार्थी पर नुकसानी का दावा किया होता तो यह बताना असंभव है कि बाद के खर्चे सहित वह नुकसानी कितनी होती । किसी भी दशा में अपीलार्थी का अपने प्रशासनाधीन संपदा के प्रति यह कर्तव्य नहीं था कि संविदा से इंकार करने का विधि विरुद्ध कार्य करे और यह दिखाया गया नहीं है कि उसे ठेकेदार से कोई ऐसा मैत्रीपूर्ण ठहराव करने का अवसर आया जो कि निर्वसीयत की संपदा के लिए उससे अधिक फायदाप्रद होता जितना कि निर्वसीयत की मृत्यु पर संविदा की अदत्त कीमत की बकाया अदा करने से प्राप्त हुआ ।”

8. तदनुसार हमारी राय है और हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि (1) अपील मंजूर की जानी चाहिए और 10.10.1935 के आदेश रद्द किए जाने चाहिए तथा (2) रजिस्ट्रार को निदेश दिया जाना चाहिए कि अपीलार्थी को 17,276 डालर और 3,762.96 डालर का खर्चा अनुमत करें ।

अपील मंजूर की गई ।

टी. आर. प्रैट (बाम्बे) लि. अपीलार्थी

बनाम

एम. टी. लि. प्रत्यर्थी

(बम्बई उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि.कौ. अपील सं. 26 सन् 1937)

निर्णीत : 11.3.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड राइट, लार्ड रोमर, सर लांसलाट सेंडरसन, सर शादी लाल व सर जार्ज रैंकिन

भारतीय कंपनी अधिनियम, 1913 – धारा 91-ख – सेसून कंपनी ने प्रैट कंपनी को एम.टी. कंपनी के माध्यम से उधार दिया – सेसून कंपनी एम.टी. कंपनी को उधार दिखाती थी और एम.टी. कंपनी प्रैट कंपनी को – बाद में तय हुआ कि सेसून कंपनी द्वारा दिए गए उधार की बाबत बंधक लिख दिया जाए – तदनुसार निर्णय सेसून कंपनी और एम.टी. कंपनी के निदेशकों ने लिया और बंधक लिख दिया गया जिसमें तीनों कंपनियां शामिल हुई – एम. टी. कंपनी और प्रैट कंपनी के निदेशक मंडल में वही व्यक्ति थे – इनमें सेसून कंपनी के निदेशक भी शामिल थे – निर्णय किया गया कि यह बंधक शून्यकरणीय है क्योंकि प्रैट कंपनी की ओर से निर्णय करने वाले निदेशक संविदा में हितबद्ध थे और सेसून कंपनी के निदेशकों को भी यह बात ज्ञात थी ।

– निदेशक हितबद्ध तब माना जाएगा जब उसका दूसरे पक्षकार के व्यापार में भी हित हो ।

भारतीय कंपनी अधिनियम, 1913 – अनुसूची 1 सारणी क – अनुच्छेद 73 – इसके द्वारा कंपनी के उधार लेने पर यह बंधन है कि उधार लिया गया धन कंपनी की प्राधिकृत पूंजी से अधिक नहीं होगा – किंतु यदि अतिरिक्त ऋण दिया जाए तो यह शून्य नहीं होगा और उसका उपयोग कंपनी के लिए किए जाने पर कंपनी उसकी देनदार होगी ।

निर्णय संक्षेप (सार)

जस्टिस सर जार्ज रैंकिन – ये अपीलें तीन कंपनियों के पारस्परिक संव्यवहारों को लेकर हैं । कंपनियां हैं – (1) टी. आर. प्रैट (बाम्बे) लि. ; (2) एम.टी.लि. तथा (3) ई.डी. सेसून एंड कंपनी लि. । इनकी स्थापना क्रमशः 1919, 1920 और 1921 में हुई । अंतिम कंपनी फर्म के रूप में

पहले से विद्यमान थी ; किंतु वह प्रा. लि. कंपनी 1921 में बनी । प्रथम दोनों कंपनियों के निदेशक मंडल में सुसंगत समय पर समाजिक व्यक्ति थे और तृतीय कंपनी के निदेशक भी उनमें शामिल थे । प्रैट कंपनी की प्राधिकृत पूंजी 5 लाख रुपए थी जो 100-100 रु. के 5,000 शेयरों में विभाजित थी । इनमें 2,000 अधिमानी शेयर थे और 3,000 साधारण शेयर । अधिमानी शेयर महाराजा ग्वालियर के नामिती के नाम में थे ; किंतु वे कंपनी के प्रबंध में कोई रुचि नहीं लेते थे । 3,000 साधारण शेयरों में से 2,990 शेयरों की धारक एम.टी.लि. थी और 10 स्वयं प्रैट कंपनी के निदेशकों के पास थे । वस्तुतः एम.टी.लि. बनाने का मुख्य उद्देश्य टी. आर. प्रैट कंपनी के शेयर खरीदने का था । एम.टी.लि. की प्राधिकृत पूंजी 20,00,000 रु. थी ।

2. सेसून कंपनी प्रैट कंपनी को उधार इस रूप में देती थी कि यह अपने खातों में उधार एम.टी.लि. को दिखाती थी और एम.टी.लि. प्रैट कंपनी को उधार दिखाती थी । इस प्रकार 1926 में सेसून कंपनी का 8,96,796 रु. एम.टी.लि. द्वारा दिया जाना था और एम.टी.लि. का 7,16,200 रु. प्रैट कंपनी द्वारा दिया जाना था । विचार यह हुआ कि इस ऋण के लिए सेसून कंपनी के पक्ष में बंधक लिख दिया जाए । तदनुसार 23.2.1928 को प्रैट कंपनी और एम.टी.लि. के निदेशक बोर्डों की बैठकों में बंधक करने का निर्णय लिया गया और 28.2.1928 को बंधक विलेख निष्पादित हुआ, जिसमें तीनों कंपनियां शामिल हुईं । यद्यपि बंधक मुख्यतः एम.टी. कंपनी द्वारा सेसून कंपनी के पक्ष में था, किंतु उसमें एम.टी. कंपनी के कलिंग्स विलिंग्स वाले भवन के अतिरिक्त प्रैट कंपनी का 100-बी ह्यूगज रोड स्थित प्रैट भवन भी शामिल था । बाद में दायित्व विभाजित करके दोनों भवनों पर 4½-4½ लाख का दायित्व रखा गया । यह उल्लेखनीय है कि प्रैट कंपनी और एम.टी. कंपनी के निदेशक बोर्डों की बैठकें केवल 15 मिनट के अंतर से हुईं और दोनों बैठकों में समान निदेशक उपस्थित हुए और उन्होंने एक ही निदेशकों को कंपनी की सील लगाने का आदेश दिया । बाद में यह पता चला कि प्रैट कंपनी ने कोई संगम अनुच्छेद अंगीकृत या दाखिल नहीं किए हैं, अतः उसे कंपनी अधिनियम की सारणी “के” लागू होती है जिसके अनुच्छेद 76 का पालन बंधक करने में नहीं किया गया था । अतः सेसून कंपनी ने एक पुष्टि विलेख करना चाहा और वह दोनों कंपनियों के निदेशक मंडलों द्वारा किए गए निर्णय लेने वाले निदेशक समान थे और कंपनी की सील लगाने के लिए प्राधिकृत निदेशक भी एक ही थे । उक्त क्रम में 22.6.1932 को प्रैट कंपनी द्वारा एम.टी.लि.

की देय राशि (ब्याज सहित) 4,91,284 रु. थी ।

3. 22.6.1932 को बम्बई उच्च न्यायालय ने आदेश दिया कि प्रैट कंपनी का परिसमापन कर दिया जाए । उसमें एक दावा सेसून कंपनी का था कि वह उक्त बंधकों के आधार पर प्रैट कंपनी की 4,91,284 रु. की प्रतिभूति लेनदार है और दूसरा दावा एम.टी.लि. का था जो सेसून कंपनी के दावे के अनुकल्पी के रूप में था कि यदि सेसून कंपनी का उक्त दावा न माना जाए तो प्रैट कंपनी उक्त बंधकों के आधार पर एम.टी.लि. को उक्त राशि की देनदार है । एकल न्यायाधीश ने सेसून कंपनी का दावा माना और अनुकल्प के रूप में एम.टी.लि. का दावा माना, किंतु खंड न्यायपीठ ने सेसून कंपनी का दावा अमान्य कर दिया और केवल एम.टी.लि. का उक्त राशि के लिए दावा माना । अतः यहां एक अपील सेसून कंपनी ने अपना दावा खारिज किए जाने के विरुद्ध की और दूसरी शासकीय समापक ने एम.टी.लि. का दावा माने जाने के विरुद्ध की ।

4. भारतीय कंपनी अधिनियम, 1913 की धारा 91-ख के अनुसार कोई भी निदेशक ऐसे मामले में मतदान नहीं कर सकता जिससे वह प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः संबंधित या हितबद्ध हो । हमारी राय में 28.2.1928 और 11.8.1931 के विलेखों में एक संविदा है जिसमें प्रैट कंपनी का प्रत्येक निदेशक उक्त धारा के अर्थ में संबंधित या हितबद्ध था क्योंकि वह एम.टी.लि. का भी निदेशक था । **ट्रांसवाल लेण्ड्स कं. बनाम बेल्जियम (ट्रांसवाल) लेण्ड एंड डेवलपमेंट कं. (1914) 2 चांसरी 488 (503)** में निर्णय किया गया कि दूसरी कंपनी का शेयर धारक होने पर निदेशक उस दूसरी कंपनी में हितबद्ध समझा जाएगा । अतः यदि सेसून कंपनी को प्रैट कंपनी के निदेशकों के हितबद्ध होने की जानकारी थी तो प्रश्नगत विलेख शासकीय समापक द्वारा शून्यकरणीय है । हमारी यह राय नहीं है कि उससे कोई बाहरी व्यक्ति, जिसे उक्त त्रुटि का ज्ञान नहीं था, संविदा के फायदे से वंचित हो जाएगा । ऐसा व्यक्ति यह मानकर चलने का हकदार होगा कि कंपनी का आंतरिक प्रबंध उचित प्रकार से किया गया । **रायल ब्रिटिश बैंक बनाम तरकंद (1856) 2 इ. एल. एंड बी. एल. 327** । किंतु इस मामले के तथ्यों में हम यह असंभव पाते हैं कि सेसून कंपनी इस बात से अनभिज्ञ थी कि प्रैट कंपनी का एम.टी.लि. से अलग कोई निदेशक नहीं था जो एम.टी.लि. से संबद्ध न हो, बल्कि 30.2.1928 के संकल्प में भाग लेने वाले निदेशकों में से एक सेसून कंपनी का प्रबंध निदेशक था जिसे अपने बोर्ड की सारी शक्ति प्राप्त थी । यह एक महत्वपूर्ण बात है, यद्यपि स्वयं में निर्णायक नहीं है । **हेम्पशायर लेण्ड कं. लि. का मामला (1896) 2 चांसरी**

743 ; फेनविक स्टोबर्ट एंड कं. लि. का मामला (1902) । चांसरी 507 व पैन एंड कं. का मामला (1904) 2 चांसरी 608 का आश्रय लेकर बड़ी सावधानी से बहस की गई । किंतु वे मामले भिन्न थे क्योंकि यहां ऐसी जानकारी का प्रश्न नहीं है जो किसी निदेशक को प्राइवेट तौर पर हुई हो, जिसका ज्ञान अन्य सह-निदेशकों को न हो । सेसून कंपनी 7 वर्ष से प्रैट कंपनी का एम.टी.लि. के माध्यम से वित्तपोषण कर रही थी । प्रैट कंपनी का एम.टी.लि. द्वारा नियंत्रण उनके संव्यवहार का आधार था और उन्हें आवश्यक जानकारी प्राप्त करने का प्रत्येक अवसर था । इससे स्थिति में अंतर नहीं आता कि श्री आर. ई. सेसून ने निदेशक बोर्ड का कार्य अन्य लोगों पर छोड़ रखा था । इन लोगों के प्रैट कंपनी से भी संबंध थे । सर विक्टर सेसून व ए.जे. रेमण्ड एम.टी.लि. के ज्ञापन के मूल हस्ताक्षरकर्ताओं में थे । सर विक्टर सेसून प्रैट के निदेशक बोर्ड में 1922 से थे और श्री रेमण्ड 1924 से । 1920 से सर विक्टर एम.टी.लि. के निदेशक बोर्ड में थे और ए.जे. रेमण्ड 1921 से उन्होंने प्रतिभूति के विषय पर सावधानी से अध्ययन किया । जिस एम.टी.लि. ने प्रैट कंपनी की सम्पत्ति प्रतिभूतिस्वरूप वह प्रैट के 10 शेयरों को छोड़कर शेष सब धारण करती थी और वर्षों तक प्रैट कंपनी और एम.टी.लि. के निदेशक एक रहे । वित्तपोषक होने के नाते सेसून कंपनी को यह सब अवश्य ज्ञात रहा होगा । सेसून कंपनी के निदेशकों से यह छिपा नहीं होगा कि प्रैट कंपनी के निदेशकों का उस कंपनी में हित एम.टी.लि. के माध्यम से है तथा महाराजा ग्वालियर के नामिती ने प्रैट का नियंत्रण एम.टी.लि. पर छोड़ रखा है । ये बातें प्रत्यक्ष प्रभाव रखती हैं । वास्तव में वे सभी को ज्ञात थीं और अधिनियम की धारा 87 के अधीन कभी-भी ज्ञात की जा सकती थीं । हमारी राय में सेसून कंपनी इन बातों के अज्ञान का दावा नहीं कर सकती । यह साबित नहीं हुआ है कि प्रैट कंपनी के अधिमानी शेयर-धारकों ने प्रश्नगत कार्यों का अनुसमर्थन किया । परिणामस्वरूप शासकीय समापक हकदार है कि प्रश्नगत बंधक को शून्य करे । वही सेसून कंपनी के दावे का एकमात्र आधार है । अतः सेसून कंपनी का दावा सफल नहीं हो सकता ।

5. ऐसी दशा में एम.टी.लि. का बकाया वसूल करने का अप्रतिभूत लेनदार के रूप में अधिकार दोनों न्यायालयों में माना है । निःसंदेह अधिनियम की सारणी का अनुच्छेद 73 निदेशकों के उधार लेने की शक्ति सीमित कर देता है और उधार किसी समय उस सीमा के ऊपर नहीं होना चाहिए । अतः यह मानने पर भी कि 1921 से 1928 तक प्रैट कंपनी के निदेशकों ने अपनी 5 लाख की सीमा के ऊपर जाकर उधार लिए, वे कंपनी की शक्ति के बाहर नहीं थे और भारतीय न्यायालयों का समान निष्कर्ष है

कि ये राशियां कंपनी ने प्राप्त कीं और वे उसके उपयोग में आईं । इन परिस्थितियों में यह स्पष्ट है कि शासकीय समापक समापन की तारीख की बकाया को घटाने का आग्रह नहीं कर सकता है । स्वयं शासकीय समापक की ओर से उनके अभिवक्ता ने हिसाब सही होने की बात स्वीकार कर ली है । अतः अब बीच के ब्याज को भी प्रश्नगत नहीं किया जा सकता । ऐसी दशा में शासकीय समापक की अपील भी खारिज होनी चाहिए ।

6. तदनुसार हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि दोनों अपीलें खारिज की जानी चाहिए । इस समेकित अपील में प्रैट कंपनी का आधा खर्चा सेसून कंपनी दे और प्रैट कंपनी एम.टी.लि. का खर्चा दे ।

अपीलें खारिज की गईं ।

निपन यूसेन कैशग.....अपीलार्थी

बनाम

राम जीवन सरावगी.....प्रत्यर्थी

(कलकत्ता उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि. का. अपील सं. 36
सन् 1937)

निर्णीत : 11.3.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड राइट, लार्ड रोमर, सर लांसलाट सेंडरसन,
लार्ड नारमंड व सर शादी लाल

पोत परिवहन — “क” ने मिलों से माल का सौदा करके वह सौदा “ख” को बेच दिया — किंतु उसे मूल्य प्राप्त नहीं हुआ था — “ख” ने पोत भाड़े पर लिया — मिलों ने मेट रसीद “ख” के नाम में बनवाई और वही माल भेजने वाला दिखाया गया — मेट रसीद “क” के पास रही — “ख” ने मेट रसीद दिए बिना तथा अपना क्षतिपूर्ति-पत्र देकर वहन-पत्र अपने नाम में प्राप्त किया — वहन-पत्र बैंक को पृष्ठांकित कर दिया गया जिससे खरीदार ने मूल्य देकर तथा “क” के हक के ज्ञान के बिना प्राप्त कर लिया — “क” ने पोत को अपने हक की यथासमय सूचना नहीं दी — उसका न स्वामित्व रह गया और न धारणाधिकार — वह पोत के स्वामी से मूल्य प्राप्त नहीं कर

सकता — उसका मेट रसीद में अधिकार दावे के लिए पर्याप्त नहीं ।

— मेट रसीद — हक विलेख नहीं होती ।

निर्वचन — एक कानून की शब्दावली के आधार पर दूसरे कानून का अर्थ करना खतरनाक है ।

निर्णय

जस्टिस लार्ड राइट — इस अपील की अपीलार्थिनी एक जापानी कंपनी है जो पोत की स्वामिनी है । प्रत्यर्थी कलकत्ता का दलाल और व्यापारी है । अपीलार्थी को प्रत्यर्थी के प्रति नुकसानी का देनदार ठहराया गया है जिसकी राशि पटसन की बोरियों के कुछ परेषणों के मूल्य के रूप में है । मामले में विवाद्यक स्पष्ट करने के पूर्व यह सुविधापूर्ण होगा कि तात्त्विक तथ्य और दस्तावेजों संक्षेपतम रूप में बता दी जाएं । 4.5.1926 प्रत्यर्थी के क्रमशः तीन मिलों से मिलाकर कुल 250 गांठें खरीदने के लिए तीन संविदाएं कीं । उसी दिन उन्होंने वही 250 गांठों वाली मात्रा इंटरनेशनल एक्सपोर्ट कंपनी लि. नामक कंपनी को बेच दी, जो कलकत्ता में बराबर कारबार करती थी और जिसे निर्यातक कंपनी कहा जाएगा । सभी संविदाओं की शर्तें समान थीं । प्रयुक्त प्ररूप इंडियन जूट मैनुफैचरर्स एसोसिएशन द्वारा अनुमोदित मामूली प्ररूप था । यही वह प्ररूप है जिसमें कि कलकत्ता में **पटसन की वस्तुओं का सारा निर्यात कारबार किया जाता है** । उसके निबंधनों और शर्तों के खंड (3) और (4) तत्त्विक है :—

“(3) अदायगी विक्रेताओं के लिए परिदान आदेश के बदले या रेल रसीदों के बदले या डाक रसीदें अथवा मेट रसीदों के बदले नकद की जाएगी । यह डाक रसीदें या मेट रसीदें डाक या पोत अधिकारी द्वारा विक्रेता के प्रतिनिधि को दी जानी चाहिए ।

(4) खरीदार स्वीकार करते हैं कि जब तक ऐसी रेल रसीदें या मेट रसीदें (चाहे वे बेचने वाले के नाम में हों या खरीदने वाले के नाम में) बेचने वाले के कब्जे में रहे तब तक बेचने वाले का अदत्त विक्रेताओं के रूप में धारणाधिकार ऐसी रेल रसीदों अथवा डाक या मेट रसीदों तथा उनके द्वारा दिए गए माल दोनों पर पूर्ण अदायगी तक बना रहेगा ।”

2. संविदाओं में यह शर्त थी कि कलकत्ता पत्तन में निर्यात यान के बगल तक निःशुल्क परिदान किया जाएगा । निर्यातक कंपनी ने सम्यक्

क्रम में अपीलार्थी से यान भाड़े पर लेना तय किया । उसकी शर्तें एक दस्तावेज से प्रकट होती हैं जो पोत-परिवहन आदेश कहलाता है, जो कि अपीलार्थी की कलकत्ता शाखा से पोत के समादेशक अधिकारी के लिए है । उसमें यह दिया हुआ था कि नोटिस मिलने पर माल पोत के पास भेज दिया जाना चाहिए, भाड़ा कलकत्ता में देय होगा, और पोत द्वारा जारी की गई स्थोरा की रसीद (अर्थात् मेट रसीद) वहन-पत्र से बदल लेनी चाहिए । 4.5.1926 को निर्यातक कंपनी ने प्रत्यर्थी को पोत परिवहन अनुदेश दिए, जो उसने उन्हीं शब्दों में तीनों मिलों को भेज दिए । 17 और 18 मई, 1926 को उनमें से दो मिलों ने कुछ पार्सलें मोजी मारु के पास भेजीं और शेष मात्रा होकाटा मारु को भेजी गई । इन दोनों यानों की स्वामिनी अपीलार्थी कंपनी थी जिसने पार्सलें अपने तथा निर्यातक कंपनी के बीच को पोत परिवहन विषयक वचनबंध के अनुसार प्राप्त कीं और प्रस्तुत मेट रसीदें मिलों द्वारा उनके हस्ताक्षर के लिए जारी कीं । ये रसीदें इन शब्दों में थीं :—

“निर्यातक कंपनी से कोबे ले जाने के लिए निम्नलिखित माल कंपनी के वहन-पत्र वाले निबंधन और शर्तें पोत पर प्राप्त किया ।”

3. ये रसीदें अलग-अलग मिलों के सरकारों को दी गईं जिन्होंने स्टीमर को माल के साथ-साथ एक अनुरोध निम्नलिखित शब्दों में दिया था :—

“कृपया उपर्युक्त मिलों से निम्नलिखित माल पोत पर प्राप्त करें, जिसकी बाबत पोत-परिवहन दस्तावेजें मैसर्स इंटरनेशनल एक्सपोर्ट कंपनी लि. के नाम में प्राप्त की गई हैं और मेट रसीद हमारे सरकार को दे दें ।”

4. तीन मामलों में मेट रसीदें उसी दिन अलग-अलग दे दी गईं और एक मामले में अगले दिन दी गईं अपीलार्थी ने संबंधित वहन-पत्र जारी किए जिनमें माल निर्यातक कंपनी द्वारा भेजा गया और कोबे ने आदेशानुसार परिदेय बताया गया । बदले में मेट रसीद नहीं दी गई, किंतु प्रत्येक मामले में अपीलार्थी ने निर्यातक कंपनी से एक गारंटी-पत्र या क्षतिपूर्ति-पत्र प्राप्त कर लिया था । इन विभिन्न तारीखों को प्रत्यर्थी के पास वे मेट रसीदें नहीं थीं, बल्कि वे उसने मिलों से कुछ दिन बाद अदायगी करके प्राप्त कीं । इस प्रकार मेट रसीदें प्राप्त कर लेने के बाद उन्होंने वे निर्यातक कंपनी को निवेदित कीं, जिसने अदायगी करने में चूक की । तब 27.5.1926 को प्रत्यर्थी ने अपीलार्थी को एक लिखित नोटिस दिया कि उनका कीमत के लिए अतुष्ट धारणाधिकार या दावा है और वह हकदार है

कि संबंधित मेट रसीदें अपने पास रखे तथा अपीलार्थी वहन-पत्र तब तक जारी न करे जब तक कि उसे मेट रसीदें न दी जाएं। किंतु उस समय तक निर्यातक कंपनी के पास वहन-पत्र होने के कारण उसने माल जापान के खरीदारों को बेच दिया था और उसकी बाबत खरीदारों पर कीमत के लिए विनिमय-पत्र लिख दिए। ये विनिमय-पत्र उन्होंने बैंक से डिस्काउंट देकर भुना लिए। यह बैंक कार्यवाही में कहीं ताड़वान बैंक कहा गया है किंतु वस्तुतः वह इंटरनेशनल बैंकिंग कारपोरेशन था जो कि न्यूयार्क के नेशनल सिटी बैंक का समनुषंगी था। प्रतिभूति के तौर पर उसने वहन-पत्र भी पृष्ठांकित कर दिए थे। क्योंकि प्रत्यर्थी को निर्यातक कंपनी से कोई तुष्टि प्राप्त नहीं हो सकी और क्योंकि अपीलार्थी ने उत्तर दिया था कि उसने वहन-पत्र पोत से माल भेजने वाले के (अर्थात् निर्यातक कंपनी के) अपने गारंटी-पत्र पर दे दिया था तथा प्रत्यर्थी से कहा था कि पोत से माल भेजने वाले से संपर्क करें, अतः उसने 12.6.1926 को अपनी रिट जारी की जिसमें कीमत की अदायगी निर्यातक कंपनी से चाही और नुकसानी अपीलार्थी से। सम्यक् क्रम में मोजी मारू 19.6.1926 को और होकाटा मारू 14.6.1926 को अपने गंतव्य की ओर चले और माल कोबे में वहन-पत्र प्रस्तुत किए जाने पर परिदत्त कर दिया गया। प्रत्यर्थी ने व्यादेश तथा माल का अंतरिम रिसीवर नियुक्त करने के लिए आवेदन तभी दे दिया था जबकि माल समुद्र पर था। किंतु पोत विचारण खड़ा रखा गया।

5. जुलाई, 1929 में हुए विचारण में निर्यातक कंपनी उपस्थित नहीं हुई और निर्णय उसके विरुद्ध गया। किंतु न्यायमूर्ति बकलैंड ने अपीलार्थी के विरुद्ध वाद खारिज कर दिया। उन्होंने निर्णय किया कि मेट रसीदें प्राप्त किए बिना वहन-पत्र दे देने के लिए अपीलार्थी को प्रत्यर्थी के प्रति तब तक दायित्वाधीन नहीं ठहराया जा सकता जब तक कि उसे ऐसा करने के पूर्व प्रत्यर्थी के धारणाधिकार ये दावे का नोटिस न मिल गया हो। 27.5.1926 का लिखित नोटिस उस प्रयोजनार्थ अति विलंबित था। उन्होंने प्रत्यर्थी का यह साक्ष्य अमान्य किया कि 14.5.1926 को मौखिक सूचना दे दी गई थी। साक्ष्य के आधार पर उन्होंने निर्णय किया – “स्वीकृत रूप से कलकत्ता पत्तन में यह सामान्य चलन था कि मेट रसीद प्राप्त किए बिना वहन-पत्र दे दिया जाए। उन्होंने यह तर्क तीखेपन से नकार दिया कि प्रत्यर्थी को माल में विशेष साम्पत्तिक अधिकार था जिसका उल्लंघन कोबे में वहन-पत्र के धारकों को परिदान करके किया गया, अतः प्रत्यर्थी नुकसानी का उसी प्रकार हकदार है जैसे कि अतिचार या संपरिवर्तन के मामले में।”

6. प्रत्यर्थी के अपील करने पर अपील न्यायालय ने 22.7.1930 को निर्णय सुनाया। मुख्य निर्णय मुख्य न्यायमूर्ति रैंकिन ने सुनाया। वे विचारण न्यायाधीश से सहमत हुए कि अपीलार्थी ने निर्यातक कंपनी को वहन-पत्र जारी करने में कोई कर्तव्य भंग नहीं किया, जो कि मेट रसीद में पोत से माल भेजने वाली के रूप में वर्णित थी। उन्होंने अपने निष्कर्ष के कारण संक्षेप में दिए क्योंकि उन्होंने न्यायालय द्वारा तत्काल पूर्व एक अन्य अपील में, अर्थात् निपन यूसेन कैशा बनाम महालीराम रामजीदास¹ में, सुनवाई गई निर्णय में उस प्रश्न पर अधिक विस्तृत चर्चा कर दी थी। किंतु उन्होंने निर्णय किया कि प्रत्यर्थी को माल में विशेष सांपत्तिक अधिकार या कब्जे का अधिकार प्राप्त था और धारणाधिकार तथा अन्य मांगों की सूचना इस बात के लिए पर्याप्त थी कि अपीलार्थी को संपरिवर्तन का दोषी ठहराया जाए, क्योंकि उसने नोटिस और मांगों के होते हुए भी माल वहन-पत्र पर परिदत्त कर दिया। उन्होंने कहा कि — “मूल्यार्थ और सूचना के बिना खरीदार के सिद्धांत पर वहन-पत्र के पृष्ठांकिकी को माल में उससे बेहतर हक नहीं मिल सकता जो कि उससे पृष्ठांकक को प्राप्त था।”

7. किंतु उनकी राय थी कि संविदा अधिनियम की धारा 178 बैंक को हक दे सकती है कि प्रत्यर्थी के विरुद्ध उससे बेहतर हक का दावा करे जो कि माल में निर्यातक कंपनी को प्राप्त था, अतः उन्होंने आदेश दिया कि उस प्रश्न के अवधारण के लिए मामला प्रतिप्रेषित किया जाए। न्यायमूर्ति घोष मुख्य न्यायमूर्ति से सम्मत हुए, जब कि न्यायमूर्ति लार्ड विलियम्स से विसम्मत हुए।

8. विचारण करने वाले न्यायमूर्ति बकलैंड ने निर्णय किया कि संव्यवहार प्रत्येक दृष्टि से बिल्कुल मामूली और सामान्य प्रकार का है और उनके समक्ष के साक्ष्य को देखते हुए सद्भाव की किसी कमी का या किसी ऐसी परिस्थिति का कोई प्रश्न नहीं है जिससे कि ऐसी कोई उपधारणा बने कि बैंक अनुचित रूप से कार्य कर रहा था। यह निष्कर्ष अपील न्यायालय के समक्ष आया। उसने न्यायाधीश के निष्कर्ष को उलट कर निर्णय किया कि अपीलार्थी के विरुद्ध और प्रत्यर्थी के पक्ष में निर्णय उस राशि का दिया जाना चाहिए जिस पर सहमति हो या जो अभिनिश्चित हो। मुख्य न्यायमूर्ति डर्बीशायर ने, जिनसे न्यायालय के अन्य सदस्य सहमत हुए निर्णय किया कि सबूत का भार उस पक्षकार पर है जो धारा 178 का आश्रय लेता है कि

¹ 52 कलकत्ता ला जर्नल 365 = [ए. आई. आर. 1931 कलकत्ता 269].

वह सकारात्मक रूप से साबित करे कि उसने सद्भावपूर्वक कार्य किया और ऐसी परिस्थितियों में कार्य किया जिनमें युक्तियुक्त रूप से यह उपधारणा नहीं की जा सकती थी कि उसने अनुचित रूप से कार्य किया तथा अपीलार्थी द्वारा यह साबित नहीं किया है कि इस निर्णय के विरुद्ध प्रस्तुत अपील अपीलार्थी द्वारा की गई है।

9. अपील में विनिश्चयार्थ प्रश्न ये हैं – प्रथमतः, क्या अपीलार्थी ने मेट रसीदे प्राप्त किए बिना वहन-पत्र जारी करने में प्रत्यर्थी के विरुद्ध दोषपूर्ण कार्य किया और द्वितीयतः, क्या वहन-पत्र धारकों को परिदान करने में उसने प्रत्यर्थी के माल का संपरिवर्तन किया, अर्थात् उस माल का जिसका तत्काल कब्जे का अधिकार वहन-पत्र के पृष्ठांकिकी के विरुद्ध प्रत्यर्थी को था, और जिस अधिकार का अतिलंघन कोबे में पोत से परिदान करके हुआ। यदि इन दोनों प्रश्नों का उत्तर ना में दिया जाए तो वह तीसरा प्रश्न उद्भूत ही नहीं होता जिसकी चर्चा अपील न्यायालय ने की है और जिस पर हमारे समक्ष बहस की गई।

10. अवधारणार्थ पहला प्रश्न यह है कि संपत्ति संविदा के अधीन कब अंतरित हुई। विक्रय ऐसे माल का था जो अभिनिश्चित नहीं था। प्रथमदृष्ट्या ऐसे विक्रय पर माल में संपत्ति तब अंतरित होती है जब संविदा में दिए गए वर्णन के अनुसार माल क्रेता की अनुमति से संविदा के लिए शर्त-रहित ढंग से विनियोजित किया जाए। “अनुमति” से यहां तात्पर्य अभिव्यक्त अनुमति से नहीं है, बल्कि सीधा अर्थ यह है कि विनियोग उस ढंग से किया जाए जो पक्षकारों द्वारा अनुध्यात था। किंतु यह प्रथमदृष्ट्या नियम संविदा के निबंधनों द्वारा अथवा विनियोग के कार्य में विक्रेता द्वारा किए गए आरक्षण द्वारा भी बदला जा सकता है। सामान्य नियम यह है कि संपत्ति तब अंतरित होती है जब उसके अंतरित होने का पक्षकारों का आशय हो। प्रस्तुत मामले में विक्रय पोत के पास तक निःशुल्क होने के कारण प्रथमदृष्ट्या संपत्ति तब अंतरित होगी जबकि माल संविदा के क्रियान्वयन में पोत के पास परिदत्त किया जाए। किंतु कहा यह गया कि संविदा का खंड (3) संपत्ति के अंतरण को तब तक वर्जित करता है जब तक कि कीमत मेट रसीद पर या अन्य विनिर्दिष्ट दस्तावेजों पर अदा न कर दी जाए। निस्संदेह यदि खंड (3) के बाद खंड (4) नहीं होता तो ऐसा ही होता। संविदा समग्र रूप से पढ़ी जानी चाहिए। खंड (3) में मेट रसीद या अन्य दस्तावेजों पर विक्रेता के अदत्त विक्रेता के रूप में धारणाधिकार का उपबंध है जब तक कि वे विक्रेता के कब्जे में रहें और माल पर तब तक

जब तक कि पूरी अदायगी न हो जाए । क्या इसकी संगति उस “अंतरण के अधिकार” के आरक्षण से बैठाई जा सकती है जो खंड (3) के अकेले होने पर आशयित होता । यह माल के विषय में प्रयुक्त “धारणाधिकार” शब्द के लगाए जाने वाले अर्थ पर निर्भर करता है, सामान्य-विधि धारणाधिकार काबिज व्यक्ति का होता है जो कब्जे पर निर्भर करता है । किंतु उसमें यह मान्य भी होती है कि माल में संपत्ति अंतरित हो गई है । व्यक्ति को अपने ही माल पर धारणाधिकार नहीं हो सकता । अतः खण्ड (4) से अभिप्रेत है कि खंड (3) के होते हुए भी संपत्ति तब अंतरित हो गई जब कि माल का पोत के पास परिदान किया गया, अर्थात् वह पोत के स्वामियों के कब्जे में दे दिया गया । परिणामतः विक्रेता ने संपत्ति और कब्जा दोनों छोड़ दिए । अतः “धारणाधिकार” शब्द का प्रयोग एक भिन्न अर्थ में किया जाना चाहिए जिसका अर्थ या तो साम्याश्रित धारणाधिकार का होगा या आडमान का, जिसकी चर्चा इस बोर्ड **मद्रास का शासकीय समनुदेशिनी बनाम मर्केण्टाइल बैंक¹** में की है या कब्जा वापस लेने के कामन ला के अधिकार या अनुज्ञा, का जिसकी चर्चा **डोवेस बनाम बाल²** में की गई है । परिणाम यह है कि विक्रेताओं के पास पोत पर परिदान के बाद कुछ नहीं बचा सिवाय साम्याश्रित भार के जिसका प्रवर्तन क्रेताओं के विरुद्ध अथवा साम्या की जानकारी के साथ लेने वाले व्यक्ति के विरुद्ध साम्याश्रित उपचारों द्वारा किया जा सकता है, अथवा बचा कब्जा वापस लेने का लाइसेंस जो क्रेता और विक्रेता के बीच व्यक्तिगत या संविदाश्रित होता है । दो में से किसी भी दशा में विक्रेता के पास (कामन ला) सामान्य-विधि का या कब्जाश्रित धारणाधिकार नहीं बचा था, जिसके अस्तित्व में होने की दशा में वह संपत्ति की प्रकृति का अधिकार होता और जो संपरिवर्तन या अतिचार की बाबत कार्यवाही का समर्थन करता । प्रस्तुत मामले में इस निष्कर्ष के महत्व पर आगे प्रकाश डाला जाएगा ।

11. यदि विक्रेता ने माल पोत को स्वयं अपने नाम में माल भेजने वाले के रूप में परिदत्त किया होता तो परिणाम भिन्न होता, क्योंकि तब पोत के पास माल विक्रेता की ओर से होता । किंतु उसने ऐसा नहीं किया । उसने माल इस रूप में परिदत्त किया कि निर्यातक माल भेज रहा है तथा मेट रसीद प्राप्त की जिसमें निर्यातक कंपनी का नाम माल भेजने वाली के रूप में अभिव्यक्त रूप से लिखा हुआ था । इस प्रकार पोत ने माल निर्यातक

¹ ए. आई. आर. 1934 प्रि. कौ. 246.

² [1927] 7 बी. एण्ड. सी. 481.

कंपनी की ओर से प्राप्त किया, जिसने पोत के स्वामी से पोत बुक किया था। विक्रेता के पास केवल मेट रसीद का कब्जा या धारणाधिकार था। किंतु इस तथ्य के साथ-साथ प्रत्यर्थी चालान अर्थात् मिलों द्वारा माल के साथ पोत को परिदत्त किए गए दस्तावेज के निबंधनों और व्यापार के चलन से अपने पहले दावे को उचित बताते हैं, जो यह है कि मेट रसीद पेश किए बिना निर्यातक कंपनी को वहन-पत्र जारी करना अपीलार्थी का उसके विरुद्ध दोषपूर्ण कार्य था जिससे कि वह माल में अपनी प्रतिभूति से वंचित हो गया और जिससे उसे माल के पूर्ण मूल्य बराबर नुकसान हुआ।

12. मेट रसीद पोत से भेजे गए माल के हक की दस्तावेज नहीं होती। उसके अंतरण से माल में साम्पत्तिक अधिकार अंतरित नहीं होता और न उसका कब्जा माल के कब्जे के बराबर होता है। वह निश्चायक नहीं होती और उसमें किए गए कथन पोत के स्वामी को उस प्रकार आबद्ध नहीं करते जैसे कि मास्टर के प्राधिकार के अंतर्गत हस्ताक्षरित वहन-पत्र के कथन करते हैं। किंतु वह प्राप्त किए गए माल की मात्रा और दशा का प्रथमदृष्ट्या साक्ष्य होती है और प्रथमदृष्ट्या उसका प्रापक या कब्जेदार हकदार होता है कि वहन-पत्र उसे दिया जाए किंतु यदि मेट रसीद में ही यह बात मानी गई हो कि माल भेजने वाला व्यक्ति उस व्यक्ति से भिन्न है जिसने मेट रसीद प्राप्त की और विशिष्टतः यदि सांपत्तिक अधिकार उस माल के भेजने वाले में है तथा माल भेजने वाले ने ही भाड़े की संविदा की है तो पोत का स्वामी प्रथमदृष्ट्या हकदार होगा और वस्तुतः आबद्ध होगा कि वहन-पत्र उसी व्यक्ति को दे। यही निर्णय वाइस चांसलर बेकन ने **हाथे सिंग बनाम लैंग**¹ में किया, जिस मामले के तथ्य सिद्धांततः प्रस्तुत मामले से भिन्न नहीं थे। उसमें निर्णय किया गया कि मेट रसीद पर पृष्ठांकन से संपत्ति का अंतरण नहीं हो गया, जो उस पर अभिभावी हो जो वहन-पत्र के पृष्ठांकन द्वारा दी गई और जो वहन-पत्र मेट रसीद पेश किए बिना दिया गया था, यद्यपि मेट रसीद उस व्यक्ति द्वारा प्रतिभूति के रूप में रखी गई जिसे वह जारी की गई थी। प्रस्तुत मामले की भांति उस मामले में जिस व्यक्ति ने पोत को माल परिदत्त किया उसने मेट रसीद प्राप्त की जिसमें कि ऋणी को माल भेजने वाला बताया गया था। निस्संदेह यदि पोत के स्वामी को वहन-पत्र दिए जाने के पूर्व अभिव्यक्त सूचना दे दी जाए कि वह मेट रसीद पेश किए बिना वहन-पत्र जारी न करे अथवा वह माल

¹ [1874] ला रि. 17 ईक्वि. 92.

परिदत्त करने वाले व्यक्ति से भिन्न व्यक्ति को जारी न करे तो वह उस सूचना की उपेक्षा नहीं कर सकता। अभिव्यक्त नोटिस के अभाव में भी वह उसी आशय की सूचना से प्रभावित हो सकता है यदि उसे मामले की वास्तविक परिस्थितियाँ ज्ञात हों। उपर्युक्त हाथे सिंग वाला निर्णय 1873 में हुआ था और तब से वह मान्य विधि माना गया है, उदाहरणार्थ पूर्व न्यायमूर्ति कार्बर की पुस्तक “कैरिज आफ गुड्स बाई सी” की धारा 60 में। वस्तुतः यह समझना कठिन है कि प्रस्तुत जैसे मामले में पोत का स्वामी सूचना के अभाव में और क्या मार्ग अपना सकता था। वह इस बात के लिए आबद्ध है कि माल भेजने वाले को माल के लिए वहन-पत्र दे और माल भेजने वाला यहां निर्विवाद रूप से निर्यातक कंपनी है जिसने पोत भाड़े पर लिया और जो माल की स्वामिनी है और मिलों द्वारा प्रस्तुत दस्तावेजों में उसी का उस व्यक्ति के रूप में वर्णन है जिसके नाम से पोत द्वारा माल भेजने के कागज तैयार किए गए हैं और जिसका नाम मेट रसीद में उस व्यक्ति के रूप में आया जिससे कि माल प्राप्त किया गया। मेट रसीद की तारीखों तक प्रत्यर्थी ने मूल्य की अदायगी मिलों की नहीं की थी। वे मिलें स्वयं अपनी ओर से या प्रत्यर्थी की ओर से धारणाधिकार की सूचना दे सकती थीं, अथवा वे माल भेजने वाले के रूप में स्वयं अपना नाम या प्रत्यर्थी का नाम भर सकती थीं और ऐसे व्यक्ति के रूप में भी जिसको कि मेट रसीदें दी जानी हैं। यदि ऐसा किया जाता तो अपीलार्थी निर्यातक कंपनी को वहन-पत्र उचित तौर पर जारी नहीं कर सकता था। किंतु यदि मिलों ने या प्रत्यर्थी ने वहन-पत्र माल भेजने वाले के रूप में अपने रूप में लिया होता तो वे वहन-पत्र की संविदा के आधार पर दायी होते और विशेषतः अग्रिम भाड़े की अदायगी के लिए। अपीलार्थी को अभिव्यक्त नोटिस 27.5.1926 से पहले नहीं दिया गया था कि वहन-पत्र जारी न करे और तब माल रोकने के लिए अतिविलंब हो गया था। 14.5.1926 को अभिव्यक्त नोटिस (जो यथासमय होता) देना साबित करने का प्रयत्न पूर्णतः असफल हुआ। अनेक नजीरों का अवलंब लिया गया था कि उसे विवक्षित या अप्रत्यक्ष सूचना ठहराया जा सके। कहा यह गया कि मिलों की दस्तावेजों में यह निदेश कि रसीदें मिलों के सरकारों को दी जाएं पर्याप्त सूचना थी, विशेषतः जब कि व्यापार के चलन के अनुसार, जिसके अनुसार अदायगी मेट रसीद पर की जानी होती है और जो इस प्रकार से एक प्रतिभूति हो जाती है। किंतु क्योंकि स्वयं रसीद निर्यातक कंपनी द्वारा माल

भेजा जाना स्वीकार करती है, अतः केवल यह निदेश कि रसीद मिल के सरकार को दी जाए, इतना अस्पष्ट और दुविधापूर्ण है कि उससे निर्यातक कंपनी को सांपत्तिक अधिकार की स्पष्ट मान्यता खंडित होती नहीं प्रतीत होती। इस बात के अनेक कारण हो सकते हैं कि रसीद उस व्यक्ति को दी जाए जो माल पोत को वस्तुतः परिदत्त करे। दोनों ओर से साक्षियों ने स्वीकार किया है कि वहन-पत्र मेट रसीदें पेश किए गए बिना बहुधा क्षतिपूर्ति-पत्र लेकर दे दिया जाता है। ऐसा क्षतिपूर्ति-पत्र एक सामान्य वाणिज्यिक सावधानी है जो सारे संसार में बरती जाती है। जहां भी वहन-पत्र मेट रसीद लिए बिना दिया जाता है और उसके लिए जाने से कोई दुष्टता का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। यह सही है कि अनेक मामलों में निर्यातक कंपनी ने अपीलार्थी से वहन-पत्र, क्षतिपूर्ति-पत्र देकर और मेट रसीद पेश किए बिना प्राप्त किया था और अपीलार्थी शिकायत करता रहा था और मेट रसीदों का परिदान मांगता रहा था। विक्रेता को कुछ सीमा तक ज्ञात रहा होगा कि क्या किया जा रहा है। कहा यह गया कि वह नहीं चाहता था कि माल भेजने वाली निर्यातक कंपनी से झगड़ा करे जो कि तब तक एक बड़ा कारबार कर रही थी, जब कि मई, 1926 के अंत में भट्टा बैठने की स्थिति आ गई। निर्यातक कंपनी और अपीलार्थी के बीच किसी कपटपूर्ण दुस्संधि का कोई निष्कर्ष नहीं है और न उस आशय का कोई साक्ष्य है।

13. मामले की सभी परिस्थितियों को देखते हुए, अपीलार्थी को कोई अभिव्यक्त नोटिस यथासमय नहीं दिया गया और विवक्षित सूचना मानने के लिए भी कोई आधार नहीं है। यह मामला ऐसा समझा जाना चाहिए जिसमें कि पोत के स्वामी ने स्वयं अपनी संरक्षा के लिए माल भेजने वालों से तय करने के बाद कि वहन-पत्र मेट रसीद के बदले दिया जाना है वह उपबंध अधित्यक्त कर दिया और सूचना के बिना वहन-पत्र माल के नामित भेजने वाले को तथा स्थोरा के स्वामी को दे दिया। इससे पोत के स्वामियों पर अभूतपूर्व भार आ जाएगा यदि इन परिस्थितियों में उन्हें उत्तरदायी ठहराया जाए। इस प्रश्न पर हम मुख्य न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन के निष्कर्ष से सहमत हैं।

14. विवाद्यक सं. 2 अनुकल्पी रूप में है। यह इस बात पर आधारित है कि निर्यातक कंपनी को वहन-पत्र दे दिए गए। फिर भी बहस की गई कि निर्यातक कंपनी के हाथों में वहन-पत्र होने से प्रत्यर्थी अपने अदत्त

विक्रेता के धारणाधिकार के अथवा उस धारणाधिकार से जिसके लिए उन्होंने वचनबंध किया था वंचित नहीं हुआ क्योंकि मेट रसीद उसके पास रही और इस प्रकार अपीलार्थी के मुकाबले उसे सीधा कब्जे का अधिकार था, अतः वह हकदार था कि जब उसके 27.5.1926 के नोटिस पर और बाद में उसके द्वारा की गई माल की मांग पर अपीलार्थी से इनकार किया तो प्रत्यर्थी संपरिवर्तन का वाद करने के हकदार हो गया। इस प्रकार प्रारंभिक प्रश्न यह है कि क्या प्रत्यर्थी का फिर भी कब्जे का ऐसा अधिकार था कि उसके आधार पर संपरिवर्तन का दावा हो सके। उत्तर में अपीलार्थी इस तर्क का ही विरोध नहीं करता कि मेट रसीद उसके कब्जे में होने के कारण प्रत्यर्थी का धारणाधिकार बना रहा बल्कि उसका कहना है कि वहन-पत्र बैंक के पक्ष में पृष्ठांकित कर दिए गए जिससे कि अभिवहन में रोकने का अधिकार (यदि कोई था) समाप्त हो गया और वह आबद्ध था कि वहन-पत्र के पृष्ठांकित को माल दे और उसने वैसा ही किया।

15. इस प्रश्न पर विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति प्रत्यर्थी के पक्ष में थे यद्यपि, जैसा कि पहले बताया गया, उन्होंने मामले के प्रतिप्रेषण का आदेश संविदा अधिनियम, 1872 की धारा 178 के आधार पर दिया, जो तब प्रवृत्त थी, यद्यपि वह 1930 में निरसित हो गई। संपूर्ण सम्मान रखते हुए भी हम प्रत्यर्थी के पक्ष में इस निष्कर्ष से सहमत होने में असमर्थ हैं। यह दो प्रतिपादनाओं पर आधारित प्रतीत होता है – पहली यह कि संविदा की शर्तों के अनुसार और मेट रसीद रखते हुए प्रत्यर्थी का धारणाधिकार या सीधा कब्जे का अधिकार बना रहा, जो एक साम्प्रतिक अधिकार था, न कि साम्याश्रित या व्यक्तिगत अधिकार या अनुज्ञा और दूसरे, क्योंकि वहन-पत्र के पृष्ठांकन और अंतरण से उसे उससे अधिक अधिकार नहीं मिला जो निर्यातक कंपनी को था और इस प्रकार बैंक पोत के स्वामियों से परिदान प्रत्यर्थी के कब्जे के हक को निष्फल करके नहीं माग सकता था। किंतु यह स्पष्ट है कि मुख्य न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन का निष्कर्ष उनके इस मत पर आधारित है कि प्रत्यर्थी को विधितः सीधे कब्जे का अधिकार था। वस्तुतः यह हमारे समक्ष उचित तौर पर मान लिया गया कि ऐसे अधिकार से ही प्रत्यर्थी संपरिवर्तन का दावा कर सकता था और केवल साम्याश्रित अधिकार और संविदाश्रित अधिकार या अनुज्ञा से वह ऐसा नहीं कर सकता था। हम सर जार्ज रैंकिन के इस मत से सहमत हैं कि सामान्य संपत्ति निर्यातक कंपनी को मिल गई। किंतु इस निर्णय में पहले बताए गए कारणों से हम उनके इस मत से असहमत हैं कि कब्जे का विधिक

अधिकार प्रत्यर्थी का बना रहा। इस प्रकार उनके निष्कर्ष का संपूर्ण आधार ही असफल होता है।

16. यह सही है कि प्रायः वहन-पत्र उस अर्थ में परक्राम्य लिखत नहीं होता जिसमें कि विनिमय-पत्र होता है और वहन-पत्र के अंतरिती को अपने अंतरणकर्ता से बेहतर अधिकार नहीं मिलता। विधिक अधिकार के विषय में यह सत्य है, किंतु साम्याश्रित अधिकार के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। कब्जा-विषयक धारणाधिकार द्वारा प्रदत्त विधिक अधिकार वस्तु में सामान्य विधिक संपत्ति से भिन्न होता है। इसका दृष्टांत **पीज बनाम ग्लोहेक**¹ में है। उसमें विधिक और साम्याश्रित अधिकारों के अंतरण का भी दृष्टांत है। उस मामले में हक-विलेख उस विधिपूर्ण कब्जेदार से कपट द्वारा प्राप्त किए गए थे जिसको सामान्य संपत्ति प्राप्त नहीं थी, जो संपत्ति कपट के दोषी व्यक्ति की थी। निर्णय किया गया कि उपरोक्त व्यक्ति से सद्भावपूर्वक एवं मूल्यार्थ पृष्ठांकन प्राप्त करने वाले व्यक्ति को विधिमान्य हक मिल गया, न कि केवल पराजेय हक और उस दृष्टि से उसे अपने अंतरणकर्ताओं से, जिनका कब्जा पराजेय था, बेहतर हक मिल गया। यह सामान्य नियम वहां लागू होता है जहां कि अंतरणकर्ता का हक कपट के कारण पराजेय है किंतु अंतरिती सद्भावपूर्वक एवं मूल्यार्थ पृष्ठांकित द्वारा विफल किए जाने का अन्य उदाहरण है अभिवहन में रोकने का अधिकार। यह उसी सामान्य नियम से निकलता है कि साम्याश्रित धारणाधिकार या व्यक्तिगत लाइसेंस जो हमारे निर्णयानुसार प्रत्यर्थी के पास उस समय था जबकि माल पोत को दिया गया, वहन-पत्र के अंतरिती को प्रभावित नहीं करता जिससे कि संपरिवर्तन के दावे का आधार बन सके, भले ही उससे निर्यातक कंपनी के विरुद्ध संविदा-भंग का दावा बन सके या उसके अथवा समनुदेशिती के विरुद्ध साम्याश्रित अनुतोष का दावा बन सके, जो उन्हीं साम्याओं के अधीन होगा। किंतु अपीलार्थी उस कोटि में नहीं आता।

17. ऊपर चर्चा की गई बातों के संबंध में अंग्रेजी और भारतीय विधि में सारतः कोई अंतर नहीं है। यह इस बोर्ड के लिए अनावश्यक बना देता है कि धारा 178 के अधीन प्रतिप्रेषण द्वारा उठाए गए प्रश्न का विनिश्चय करे। किंतु हमें यह कहना उचित लगता है कि, जैसा हमें इस समय प्रतीत होता है, हम अपील न्यायालय के निर्णय की अपेक्षा न्यायमूर्ति बकलैंड का निर्णय पसंद करेंगे। यह मान लेने पर भी कि उस धारा के

¹ [1866] ला रिपोर्ट 1 प्रि. कौ. 219.

अधीन सबूत का भार अपीलार्थी पर है, प्रकट यह होगा कि उसने उसका निर्वहन बैंक के साक्ष्य से कर दिया, जिससे प्रकट होता है कि यह संव्यवहार बिल्कुल मामूली और सामान्य प्रकृति का बैंककारी संव्यवहार था । यदि और आगे देखने की आवश्यकता हो तो सद्भाव की उपधारणा से सबूत पूरा हो जाएगा । किंतु हमारा इस विषय में समाधान नहीं हुआ है कि इस धारा के अधीन सबूत का भार प्रतिवादी पर था । इस धारा में दो अलग-अलग परंतुक हैं । द्वितीय परंतुक के अधीन सबूत का भार उन व्यक्तियों पर प्रतीत नहीं होता है जो प्रतिवादी की स्थिति में हों और उस दशा में निष्कर्ष यह निकलेगा कि पहले परंतुक विषयक भार भी उसी व्यक्ति पर रहेगा । अन्यथा एक विडम्बनापूर्ण परिणाम निकलेगा । अन्य कानूनों के अधीन भी निर्णयों का हवाला दिया गया । किंतु एक कानून के शब्दों के आधार पर दूसरे कानून का अर्थ लगाना प्रायः खतरनाक होता है । यह हो सकता है कि इस धारा में वादी उसे प्रश्नगत करना चाहता है जो कि दृश्यतः विधिमान्य व्ययन है । उस पर यह भार माना जाना चाहिए कि असद्भाव दिखाए और वे अन्य बातें भी जो विशिष्ट मामले में सिद्ध की जाने की अपेक्षा परंतुक करते हैं ।

18. मामले को समग्र रूप से देखने पर हमारी राय में अपील मंजूर की जानी चाहिए, अपील न्यायालय के आदेश अपास्त किए जाने चाहिए, और न्यायमूर्ति बकलैंड के आदेश पुनःस्थापित किए जाने चाहिए तथा प्रत्यर्थी अपीलार्थी को अपील न्यायालय का और इस बोर्ड के समक्ष का खर्चा अदा करे । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह तदनुसार हैं ।

अपील मंजूर की गई ।

गायकवाड़ बड़ौदा स्टेट रेलवे.....अपीलार्थी

बनाम

हाफिज हबीबुलहक और अन्य.....प्रत्यर्थी

(इलाहाबाद उच्च न्यायालय 1934 की अपील सं. 10 के निर्णय के प्रि.
कौ. अपील सं. 67 सन् 1936)

निर्णीत : 18.3.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड राइट, लार्ड रोमर, सर लांसलाट सेंडरसन,
सर शादी लाल व सर जार्ज रैंकिन

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 — धारा 86 व 87 — इन धाराओं का अनुपालन किए बिना किसी देशीय राज्य के राजा के विरुद्ध वाद नहीं किया जा सकता — रेल के स्वामी बड़ौदा के महाराजा गायकवाड़ — अतः वाद उन्हीं के विरुद्ध हो सकता था — रेल स्वयं विधिक व्यक्ति नहीं — अतः उसके विरुद्ध वाद नहीं लाया जा सकता था ।

— इन धाराओं के अधीन देशीय राज्यों के राजाओं को दिए गए विशेषाधिकार का अधित्यजन नहीं हो सकता क्योंकि इन धाराओं के उपबंध नीतिवश एवं आज्ञापक हैं ।

— धारा 9 — वाद नैसर्गिक या विधिक व्यक्ति के विरुद्ध ही लाया जा सकता है ।

रेल अधिनियम, 1890 — यह अधिनियम महाराजा बड़ौदा के स्वामित्व की गायकवाड़ बड़ौदा स्टेट रेलवे को लागू नहीं होता ।

निर्णय संक्षेप (सार)

जस्टिस सर लार्ड सेंडरसन — यह अपील इलाहाबाद उच्च न्यायालय के 22.12.1933 के एक निर्णय के विरुद्ध है, जिसमें उन्होंने आगरा के अधीनस्थ न्यायाधीश की 3.7.1929 की एक डिक्री कुछ उपरांत के साथ पुष्ट कर दी है ।

2. मामले के तथ्य इस प्रकार हैं — गायकवाड़ बड़ौदा स्टेट रेलवे के स्वामी महाराजा बड़ौदा हैं । पहले इसका प्रबंध बाम्बे बड़ौदा सेण्ट्रल इंडिया रेलवे के हाथों में था । बाद में महाराज ने प्रबंध अपने हाथों में ले लिया और उन्हीं के अधिकारी व कर्मचारी रेल का प्रबंध करने लगे । 1923 में

वादी ने उक्त रेल को स्लीपरों के प्रदाय के लिए चार संविदाएं की थीं और एक पांचवीं संविदा शीशम की लकड़ी के प्रदाय की थी । ये संविदाएं बड़ौदा में वादी तथा उक्त रेल के प्रबंधक एवं प्रमुख इंजीनियर के बीच हुई थीं । उक्त संविदाओं के अनुसरण में केवल दो संविदाओं के कुछ स्लीपर प्रदाय किए गए और वे भी प्रतिवादी के अनुसार संविदा के अनुरूप न होने के कारण अस्वीकार कर दिए गए और वादी द्वारा संविदा के अनुपालन के कारण संविदा 3.5.1924 के पत्र द्वारा रद्द कर दी गई । यह पत्र वादी को 7.5.1924 को मिला । फिर 7.5.1927 को उसने आगरा के अधीनस्थ न्यायाधीश न्यायालय में 38,185/- रु. 12 आ. का वाद स्लीपरों की कीमत आदि मध्ये और 1,16,720/- रु. 14 आ. का वाद स्लीपर न लिए जाने से हुए नुकसान की बाबत था । लिखित उत्तर में अनेक आपत्तियां की गईं जिनमें ये भी थीं कि आगरा के न्यायालय की अधिकारिता नहीं है, वाद परिसीमा-वर्जित है तथा मुख्य आपत्ति यह थी कि वाद हिज हाइनेस महाराजा गायकवाड़ के विरुद्ध होना चाहिए था, न कि रेल के विरुद्ध । यह भी कहा गया कि गायकवाड़ के विरुद्ध वाद सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 86 और 87 के बंधन से बचने के लिए नहीं किया गया । अधीनस्थ न्यायाधीश ने प्रतिस्क्षाओं को अमान्य करते हुए 1,01,437/- रु. और ब्याज तथा खर्च की डिक्री दे दी । प्रतिवादियों द्वारा अपील के दौरान वादी की मृत्यु हो गई और उसके उत्तराधिकारी पक्षकार बनाए गए । अपील में उच्च न्यायालय ने डिक्रीत राशि में 7,797/- रु. 9 आ. की कमी कर दी । तब उच्च न्यायालय की इजाजत से सपरिषद् हिज मैजेस्टी को अपील की गई ।

3. प्रत्यर्थियों की ओर से प्रारंभिक आपत्ति की गई कि इस मामले में सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 110 की अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं होती है क्योंकि उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय के निर्णय की पुष्टि नहीं की है और उसमें परिवर्तन कर दिया है ; अतः उच्च न्यायालय को अपील की इजाजत नहीं देनी चाहिए थी । किंतु यहां महत्वपूर्ण विधि प्रश्न उठते हैं । अतः प्रिवी काँसिल ने ही अपील की इजाजत दे दी । ऐसी दशा में इस आपत्ति पर अधिक चर्चा अनावश्यक है ।

4. विनिश्चयार्थ मुख्य प्रश्न यह है कि क्या वाद रेलवे के विरुद्ध किया जा सकता था । विचारण न्यायालय में यह स्वीकार किया गया है कि यह रेल न राज्य की है, न कंपनी की, बल्कि महाराजा बड़ौदा के स्वामित्व की है और उन्हीं के प्रबंध में है । फिर भी विचारण न्यायालय ने इस मान्यता

पर डिक्री कर दी कि रेलवे एक निगम है। यह निष्कर्ष 42-43 विक्टोरिया चैप्टर 41 व रेल अधिनियम, 1890 के निर्वाचन पर आधारित है और विचार यह बना कि रेल अधिनियम प्रश्नगत रेल को भी लागू होता है, अतः वह एक निगम है। प्रथमतः रेल अधिनियम प्रश्नगत रेल को लागू नहीं होता और इस बात का कोई सबूत नहीं है कि वह एक निगम है। ऐसी दशा में वाद उक्त रेल के विरुद्ध नहीं लाया जा सकता था। वाद महाराजा के विरुद्ध होना चाहिए था।

5. किंतु महाराजा के विरुद्ध वाद के संबंध में सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 86 व 87 के बंधन थे। इनके अनुसार किसी देशीय राज्य के राजा के विरुद्ध वाद सपरिषद् गवर्नर जनरल की सम्मति के बिना नहीं लाया जा सकता। ये धाराएं भारत में लोक नीति के एक महत्वपूर्ण विषय में हैं और इनके अभिव्यक्त उपबंध आज्ञापक हैं और उनका पालन कराया जाना चाहिए। महाराजा गायकवाड़ को ये धाराएं लागू होती हैं। यह स्वीकृत है कि महाराजा के विरुद्ध वाद के लिए धारा 86 की अपेक्षानुसार कोई प्रमाण-पत्र प्राप्त नहीं किया गया और वह मिल भी नहीं सकता था क्योंकि धारा की अपेक्षाओं की पूर्ति प्रस्तुत मामले में नहीं होती। वाद विधिक व्यक्ति के विरुद्ध ही लाया जा सकता है। प्रश्नगत रेल विधिक व्यक्ति नहीं थी।

6. बहस की गई कि प्रभुसत्ता के आदेश से स्थापित रेल एक निगम है यद्यपि उसके एकमात्र स्वामी लार्ड ही हैं, अनेक व्यक्ति नहीं। किंतु प्रभुसत्ता के आदेश से स्थापित होने के कारण ही रेल निगम नहीं हो जाएगी। बहस की गई कि निर्णय बड़ौदा की विधि के अनुसार किया जाना चाहिए और उसके लिए **बांक इंटरनेशनल द कामर्स द पेत्रोग्राद बनाम गौकासाद¹** – **लाजर्ड ब्रदर्स कंपनी बनाम मिडलैंड बैंक²** का आश्रय लिया गया। इनमें कहा गया है कि अंग्रेजी न्यायालय विदेशी कानून के अधीन स्थापित विधिक व्यक्तियों को मान्यता देता है। बहस की गई कि यह सिद्धांत भारत को भी लागू होता है। किंतु प्रश्न यह है कि क्या बड़ौदा की विधि के अधीन रेल को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया गया। इस संबंध में 16.4.1922 की एक अधिसूचना का आश्रय लिया गया। किंतु यह अधिसूचना वादों के प्रबंध के विषय में है। यही आश्रय ली गई 17.6.1922

¹ [1932] 2 किंग्स बेंच 682.

² [1933] अपील केसेज 289.

की दूसरी अधिसूचना को लागू होता है। इससे यह निष्कर्ष कहीं नहीं निकलता कि रेल को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया गया। अतः हमारा निष्कर्ष है कि प्रश्नगत रेल विधिक व्यक्ति नहीं है और उसके विरुद्ध वाद नहीं लाया जा सकता था। वाद महाराजा के विरुद्ध होना चाहिए था, जिस पर उक्त धारा 86-87 का बंधन था। प्रस्तुत वाद को मान्य करने से उक्त धाराओं के उपबंध ही व्यर्थ हो जाएंगे।

7. अन्य बहस यह की गई कि यदि यह माना भी जाए कि वाद वास्तव में महाराजा बड़ोदा के विरुद्ध है तो भी धारा 86 लागू नहीं होगी क्योंकि महाराजा ने प्रतिवादी रेल को वाद में गुणागुण पर प्रतिरक्षा करने का अधिकार देकर वह विशेषाधिकार अधित्यक्त कर दिया। हम यह नहीं मान सकते। प्रथमतः महाराजा पर किसी आदेशिका की तामील नहीं की गई। तामील रेल के प्रबंधक पर की गई, जिसने प्रारंभ में ही आपत्ति कर दी कि वाद सही पक्षकार के विरुद्ध न होने के कारण चल नहीं सकता। वाद में महाराजा की ओर से कभी कोई उपस्थित नहीं हुआ। अतः अधित्यजन का कथन असामान्य है। इसके अतिरिक्त इन धाराओं के उपबंध आज्ञापक हैं और एक सार्वजनिक प्रयोजन से हैं और हमारी राय में इनके अधीन विशेषाधिकार अधित्यक्त नहीं किए जा सकते।

8. ऐसी दशा में हमारी राय में यह अपील मंजूर की जानी चाहिए। उच्च न्यायालय और अधीनस्थ न्यायाधीश की डिक्रिया अपास्त की जानी चाहिए तथा वाद खारिज किया जाना चाहिए। वादी-प्रत्यर्थी प्रतिवादी अपीलार्थी का इस अपील का और भारत के दोनों न्यायालयों का खर्चा अदा करें। हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह तदनुसार है।

अपील मंजूर की गई।

नत्थू लाल.....अपीलार्थी

बनाम

कलेक्टर, बदायूं.....प्रत्यर्थी

(1931 के अपील संख्या 15 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के निर्णय के
प्रि. कौ. अपील सं. 7 सन् 1933)

निर्णीत : 25.3.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड राइट, सर शादी लाल, सर जार्ज रैंकिन

प्रक्रिया — प्रिवी काँसिल — प्रिवी काँसिल निचले न्यायालयों के तथ्य-विषयक समान निष्कर्षों में सामान्यतः हस्तक्षेप नहीं करती, सिवाय उस दशा के जब कि गंभीर अन्याय हुआ हो या होने वाला हो — इस सामान्य नियम से विचलन बहुत ही असाधारण परिस्थितियों में किया जा सकता है।

निर्णय

जस्टिस लार्ड राइट — इस मामले में हम प्रत्यर्थी के अधिवक्ता की बहस सुनने की आवश्यकता नहीं समझते। यह अपील इलाहाबाद उच्च न्यायालय की एक डिक्री के विरुद्ध है जिसके द्वारा उन्होंने (उसके अधीन रहते हुए जो आगे बताया जाएगा) बदायूं के अधीनस्थ न्यायाधीश की डिक्री की पुष्टि कर दी। वाद प्रत्यर्थी ने किया था कि यह घोषणा की जाए कि पहली और दूसरी जुलाई, 1923 के दो विलेख आबद्धकर नहीं हैं क्योंकि वे कपट और असम्यक् असर से प्राप्त किए गए थे। एक विलेख कुछ संपत्तियों के दान का था और दूसरा विक्रय विलेख था। वाद में यह दावा भी किया गया था कि वाद सं. 201 सन् 1923 में हुई डिक्री भी शून्य है और अपास्त की जानी चाहिए क्योंकि वह भी कपट द्वारा प्राप्त की गई थी। अधीनस्थ न्यायाधीश ने सावधानी से लिखे गए अपने निर्णय में अपीलार्थी के पक्ष में, जो कि वाद में प्रतिवादी था, सभी संभव उपधारणाएं करते हुए भी निर्णय किया कि कथन साबित हो गए हैं और दोनों विलेख तथा डिक्री कपट और असम्यक् असर से प्राप्त की गई थी और उन्हें अपास्त किया जाना चाहिए। तदनुसार उन्होंने उस आशय की डिक्री दे दी। उच्च न्यायालय में अपील की जाने पर मामले पर पुनः पूरी तौर पर विचार किया। न्यायालय में मुख्य न्यायमूर्ति सर ग्रिमबुड मीयर्स और न्यायमूर्ति श्री सेन थे। उन्होंने तथ्यों की सावधानी से चर्चा की। उन्होंने अपने कारण पूर्णतः बताए

और जहां तक हमारा संबंध है वे कारण पूर्णतः विश्वासोत्पादक प्रतीत होते हैं । किंतु हमारे लिए इस पर विचार करना आवश्यक नहीं है कि वे विश्वासोत्पादक हैं या नहीं, क्योंकि यह मामला तथ्य-विषयक समान निष्कर्षों का है । सारा प्रश्न तथ्यों का है और इन परिस्थितियों में बोर्ड की यह पद्धति नहीं है कि उन निष्कर्षों की पृष्ठभूमि में जाए । यह हो सकता है कि अपवादित मामलों में, जहां यह स्पष्ट हो कि कोई गंभीर अन्याय हुआ है या हो सकता है, इन नियम से विचलन किया जाए; किंतु ऐसा अत्यंत असाधारण परिस्थितियों में ही होगा । इस नियम का पालन प्रत्यक्षतः अति महत्वपूर्ण है क्योंकि यह बोर्ड इस प्रयोजन से नहीं बैठता कि उन तथ्य-विषयक निष्कर्षों को पुनः खोले जिन पर कि निचले न्यायालय एकमत हुए हैं । इन नियम को लागू करने के लिए प्रस्तुत मामले से अधिक स्पष्ट मामले की कल्पना करना हमें कठिन लगता है और इसी आधार पर हमारी राय में यह अपील खारिज कर दी जानी चाहिए । श्री चिन्ना दुराई ने अपीलार्थी की ओर से वह सब कहा जो उसकी ओर से कहा जा सकता था । उन्होंने संविदा अधिनियम और साक्ष्य अधिनियम की धाराओं का हवाला दिया ; किंतु हमारी राय में ये धाराएं प्रस्तुत मामले में निर्णय को किसी प्रकार प्रभावित नहीं करतीं । परिणामतः हमारी राय में जहां तक यह अपील तात्त्विक विवादित तथ्यों पर है, जिनका उल्लेख किया जा चुका है, वह खारिज की जानी चाहिए ।

2. किंतु एक छोटी-सी बात है जो अपीलार्थी की अपील में शामिल है और उस छोटी बात को समान निष्कर्ष वाला नियम लागू नहीं होता, क्योंकि उसके विषय में उच्च न्यायालय ने प्रत्यर्थी के पक्ष में मत अपनाया, जो कि अधीनस्थ न्यायाधीश के मत के विपरीत था, जो अपीलार्थी के पक्ष में थे । विक्रय विलेख के अनुसार दृश्यमान प्रतिफल 8,000/- रु. है और उसका विवरण 6 शीर्षों के अंतर्गत दिया गया था जिनको जोड़ने पर योग 8,000/- रु. होता है । अधीनस्थ न्यायाधीश ने निर्णय किया कि 8,000/- रु. में से अधिकांश प्रतिफल फर्जी हैं और विक्रय को अविधिमान्य होने की डिक्री देने में उन्होंने उस कहे गए या दृश्यमान प्रतिफल की वापसी का निदेश नहीं दिया । उसमें 1,760/- रु. के बारे में अधीनस्थ न्यायाधीश ने निर्णय किया कि वह अपीलार्थी साबित कर सकता है और अपने निर्णय की एक शर्त के रूप में उन्होंने आदेश दिया कि प्रत्यर्थी वह राशि अपीलार्थी को दे । उच्च न्यायालय में प्रत्यर्थी ने उस राशि की बाबत प्रति-आपत्ति दाखिल

की और वह प्रति-आपत्ति सफल हुई । अधीनस्थ न्यायाधीश से असहमत होते हुए उच्च न्यायालय ने निर्णय किया कि उनका समाधान नहीं हुआ है कि यह युक्तियुक्त संदेह से परे साबित हो गया है कि 500/- रु., 1750/- रु. और 60/- रु. की तीन मर्दें ऐसे ऋणों की थीं जो विक्रय विलेख के निष्पादन की तारीख को मनोहर सिंह द्वारा वस्तुतः देय थे । उन्होंने निर्णय किया कि ये मर्दे फर्जी हैं और वे इस निष्कर्ष पर मूल दस्तावेजों की परीक्षा करके पहुंचे, जो दस्तावेज हमारे पास नहीं हैं । मामले की सभी परिस्थितियों को देखते हुए हम मतभेद के लिए कोई कारण नहीं पाते और हमारा मत उच्च न्यायालय के उक्त निष्कर्ष से भिन्न नहीं है ।

3. प्रत्यर्थी ने नोटिस दिया था कि वह एक प्रारंभिक आपत्ति करना चाहता है कि प्रस्तुत मामले में अपील की इजाजत उच्च न्यायालय को नहीं देनी चाहिए थी । यह देखते हुए कि हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि अपील खारिज की जानी चाहिए, हमें यह आवश्यक नहीं लगता कि प्रत्यर्थी के उस तर्क की परीक्षा करें । निःसंदेह उससे ऐसा प्रश्न उठता है जिसका अवधारण इस बोर्ड को किसी न किसी दिन करना होगा । किंतु क्योंकि वह इस मामले के अवधारण के लिए आवश्यक नहीं है अतः हमारी राय है कि उसे उस समय के लिए छोड़ दें जबकि वह अन्य अपील में अवधारणार्थ आए । इन सब कारणों से हमारी राय है कि अपील असफल होती है और खर्चे सहित खारिज की जानी चाहिए । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह तदनुसार है ।

अपील खारिज की गई ।

श्रीमती अली बेग और अन्य.....अपीलार्थी

बनाम

बद्र-उल-इस्लाम अली खां और अन्य.....प्रत्यर्थी

(लाहौर उच्च न्यायालय के निर्णय¹ के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 120
सन् 1936)

निर्णीत : 29.3.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड रोमर, सर शादी लाल, सर जार्ज रैंकिन

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 – धारा 92 – जब महाधिवक्ता ने वाद दाखिल करने की इजाजत पांच व्यक्तियों के आवेदन पर दी है तो वाद पांचों व्यक्तियों द्वारा होना चाहिए, कम द्वारा नहीं, किंतु यदि बाद में उनमें से किसी की मृत्यु हो जाए तो भी वाद चलता रहेगा – इसी प्रकार अपील भी सामान्यतः सब को करनी चाहिए किंतु यदि अपील पांचवें वादी की सम्मति से शेष चार ने की और पांचवें को पहले प्रत्यर्थी बनाया गया क्योंकि वह प्रांत के बाहर था तो अपील ग्राह्य मानी जाएगी – बाद में पांचवें वादी को अपीलार्थी बना देने से अंतर नहीं पड़ेगा ।

मुस्लिम विधि – वसीयत द्वारा वक्फ – जब वसीयत से वक्फ का आशय स्पष्ट है तो संपत्ति के प्रबंधकों को “मुतवल्ली” न कहने से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि संपत्ति वक्फ नहीं की गई – वसीयत के विभिन्न अंशों की तुलना करके वक्फ का निष्कर्ष निकालना चाहिए ।

मुस्लिम विधि – वक्फ की शिया विधि – शिया विधि के अनुसार वसीयत द्वारा ऐसा वक्फ नहीं किया जा सकता जो वसीयतकर्ता की मृत्यु के बाद कभी भविष्य में प्रभावी हो – वसीयत द्वारा किया जाने वाला वक्फ ऐसा होना चाहिए जो वसीयतकर्ता की मृत्यु होते ही प्रभावी हो – उस वक्फ में जीवित व्यक्ति को जीवनपर्यंत हित दिया जा सकता है, किंतु पहले जीवनपर्यंत हित देकर तत्पश्चात् वक्फ करना अवधिमान्य ठहराया गया ।

– संपत्ति को सराय के लिए वक्फ करके प्रबंधक और उसके वारिसों को उसमें निवास करने का अधिकार देना वक्फ करने के आशय के प्रतिकूल नहीं माना गया ।

¹ आ. इ. रि. 1935 लाहौर 251.

निर्णय

जस्टिस सर जार्ज रैंकिन – फारसी मूल के एक शिया मुसलमान आगा कल्ब आबिद खां का देहावसान 25.5.1887 को अमृतसर में हुआ। उन्होंने अपने वारिसों के रूप में एक भाई कल्ब अली खां और एक बहन श्रीमती हुसैनी खानम को छोड़ा। उन्होंने 3.3.1887 को एक वसीयत लिखी थी जिसका सही अर्थान्वयन और प्रभाव ही इस अपील का विषय है। जिला फरूखाबाद की कुछ स्थावर संपत्ति में उनका आधा हिस्सा था जो उन्हें अपने पिता से विरासत में मिला था और जिसकी आय फतेहगढ़ में एक इमामबाड़ा और अन्य धार्मिक प्रयोजनार्थ खर्च की जाती थी। इसके अतिरिक्त उनके पास अमृतसर और लाहौर में स्थावर संपत्ति थी जिसका मूल्य उन्होंने अपनी वसीयत में 1,73,000 रु. लगाया और उसमें उसका विस्तार से वर्णन, मूल्यांकन और व्ययन किया। लाहौर की अपनी सम्पत्ति का मूल्य उन्होंने 60,000 रु. लगाया, जिसमें से कुल 36,200 रु. मूल्य की तीन संपत्तियां उन्होंने वसीयत द्वारा अपने भाई कल्ब अली को दीं और 18,000 रु. मूल्य की एक संपत्ति अपनी बहन हुसैनी खानम को दी। तत्पश्चात् लाहौर में या उसके पास दो भूखंड बचे। एक 45 बीघा का था, जिसका मूल्यांकन 4,000 रु. था और दूसरा 16 बीघा का जिसका मूल्यांकन 2,000 रु. था। वसीयतकर्ता ने अपनी वसीयत से पहला भूखंड श्रीमती बूटी नामक एक महिला और उसके पुत्र इस्माइल हुसैन को उनके जीवनपर्यंत के लिए दिया और उत्तरोक्त भूखंड एक मुसप्फर अली को उनके जीवनपर्यंत के लिए दिया। तत्पश्चात् अवशिष्ट हित का व्ययन उन्होंने इस निदेश से किया कि वह यहां आगे वर्णित सराय में लगा दिया जाए। इस निदेश की विधिमान्यता और प्रभाव पर अब विचार करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जो घटनाएं हुई हैं उनमें इस अपील में यह संभव नहीं है कि उस विषय में कोई आबद्धकर विनिश्चय दिया जाए या उस बाबत कोई अनुतोष दिया जाए। प्रस्तुत वाद में विवाद अब अमृतसर की संपत्तियों तक सीमित है जिनका मूल्यांकन वसीयत में 1,13,000 रु. किया गया है। इसमें अमृतसर छावनी स्थित दो संपत्तियां शामिल हैं – एक मेस कोठी कहलाती है जिसका मूल्यांकन 2,000 रु. किया गया है और दूसरी छोटी कोठी कहलाती है जिसका मूल्यांकन 1,000 रु. किया गया है। प्रथमोक्त की आय वसीयत में श्रीमती बूटी और उसके पुत्र इस्माइल हुसैन को उनके जीवनपर्यंत के लिए कुछ शर्तों पर दी गई। उत्तरोक्त की आय मुसप्फर अली को उनके जीवनपर्यंत के लिए कुछ शर्तों पर दी गई। अवशिष्ट हित के विषय में वसीयतकर्ता के निदेशों की विधिमान्यता का प्रश्न उठता है, जिस पर हम सम्यक् क्रम में विचार करेंगे।

इन दो छोटी संपत्तियों के अतिरिक्त वसीयत में वसीयतकर्ता की अमृतसर स्थित एक संपत्ति है “36,000 रु. के वचन-पत्र, आय 1,490 रु.” । यह वचन-पत्र यहां आगे वर्णित 1,10,000 रु. की संख्या में शामिल हैं, जबकि दो छोटी संपत्तियां शामिल नहीं हैं । वसीयतकर्ता ने अपनी वसीयत में मुख्य व्ययन यह किया कि अमृतसर स्थित पांच संपत्तियां (जो पूर्वोक्त वचन-पत्रों के अतिरिक्त हैं), कुल मूल्य 1,10,000 रु. इस प्रकार वर्णित हैं – “सराय संबंधी”, “बनाकर सराय में लगा दी गई” तथा “नई सराय के संबंध में बनाई गई ।” ये संपत्तियां हैं – (1) सिविल लाइन में एक मकान, जिसमें बाग भूमि सहित 25 बीघा भूमि है, मूल्य 15,000 रु. ; (2) पास की कृषिक भूमि – 5,000 रु. ; (3) गिरजाघर और डाक बंगले के पास के प्लाट, मूल्य – 1,000 रु. ; (4) बेगम साहिबा की भूमि और बाग 3,000 रु. ; (5) निर्माणाधीन सराय 50,000 रु. । इस अपील में मुख्य प्रश्न है कि क्या वसीयत का सही अर्थ और प्रभाव यह है कि ये संपत्तियां सराय के प्रयोजनार्थ वक्फ की हो गईं ।

2. वसीयतकर्ता की मृत्यु के शीघ्र बाद उसके भाई कल्ब अली का नाम राजस्व अभिलेखों में अमृतसर स्थित भूमि के मालिक के रूप में दर्ज हुआ । 12.5.1892 को अमृतसर की संपत्ति का नामांतरण सराय के नाम में हो गया । 1895 में कल्ब अली की मृत्यु हो गई । उसने एक विधवा श्रीमती बिसमिल्ला खानम, एक पुत्र कल्ब हैदर और एक पुत्री श्रीमती अली बेगम (प्रतिवादी सं. 1) छोड़ी । 14.5.1896 को अमृतसर की संपत्ति का नामांतरण कल्ब हैदर के प्रबंधाधीन सराय के नाम में हो गया । 13.5.1907 को कल्ब हैदर ने उपर्युक्त अमृतसर वाली सम्पत्ति के पांच भूखंड (कुल 39 कनाल 3 मरला) सुन्दर सिंह को 15,500 रु. में बेच दिए और उसमें कहा कि इस संपत्ति पर उसका स्वामी के रूप में कब्जा अपने चाचा की 3.3.1887 की वसीयत के अधीन रहा है । 1909 में उसकी मृत्यु हो गई और उसी वर्ष 11 सितंबर को अमृतसर की भूमि श्रीमती बिसमिल्ला के प्रबंधाधीन सराय के नाम में अभिलिखित हो गई । 1921 में श्रीमती बिसमिल्ला ने अमृतसर स्थित भूमि में से 12 कनाल भूमि प्यारा सिंह (मूल प्रतिवादी सं. 3) को 50 वर्ष के लिए 200 रु. वार्षिक लगान पर दे दी । 1922 में श्रीमती बिसमिल्ला की मृत्यु हो गई और उसकी पुत्री श्रीमती अली बेगम ने अमृतसर की सम्पत्ति का कब्जा उसके वारिस के रूप में ले लिया । श्रीमती अली बेगम का सदैव यह दावा रहा है कि वह पूर्ण स्वामी है और उसने किसी भी समय वक्फ या विन्यास स्वीकार नहीं किया है । 17.4.1926 को उसने अमृतसर की भूमि में से 12 कनाल 4 मरला भूमि निजामुद्दीन (प्रतिवादी सं. 2) को बेच दी ।

3. 30.6.1906 को वर्तमान प्रत्यर्थी सं. 1 से 5 तक ने कलेक्टर की सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 92-93 के अधीन मंजूरी से अमृतसर के ज्येष्ठ अधीनस्थ न्यायाधीश के न्यायालय में एक वाद दायर किया, जिससे यह अपील उत्पन्न हुई। वादपत्र में श्रीमती अली बेगम को वस्तुतः मुतवल्ली माना गया और यह मांग की गई कि उसे उस पद से हटा दिया जाए और वक्फ संपत्ति का तथा अनेक विक्रयों के आगमों का और प्यारा सिंह को किए गए पट्टे की आय का हिसाब दिलाया जाए। यह भी अनुरोध किया कि वक्फ के लिए एक स्कीम बनाई जाए। विचारण न्यायाधीश ने वाद (2.1.1929 को) खारिज कर दिया। उनका निष्कर्ष था कि यद्यपि कल्ब आबिद ने वादगत संपत्तियां अपने जीवनकाल में सराय के प्रयोजनार्थ विन्यस्त कर दी थीं; किंतु वह विन्यास अविधिमान्य था क्योंकि उसने अपना कब्जा बनाए रखा और उसने उनका विन्यास अपनी वसीयत द्वारा नहीं किया, और यदि वसीयत में विन्यास किया गया तब वह वसीयतकर्ता के वारिसों विषयक कुछ उपबंधों को देखते हुए अविधिमान्य है। पांच में से चार वादियों ने लाहौर स्थित उच्च न्यायालय में अपील की, जिसमें पांचवें वादी को प्रत्यर्थी बनाया। उच्च न्यायालय ने सुनवाई के समय इस प्रत्यर्थी को अपीलार्थी बना दिया और निर्णय किया कि सराय के विधिमान्य वक्फ का सृजन कल्ब आबिद की वसीयत द्वारा हुआ। उन्होंने अधीनस्थ न्यायाधीश की डिक्री अपास्त करके उन्हें मामला वापस भेज दिया जिससे कि वे यह विनिश्चय कर सकें कि क्या श्रीमती अली बेगम को मुतवल्ली होना चाहिए, एक स्कीम तैयार करें, हिसाब लें और अन्य आवश्यक निदेश दें। इस डिक्री (तारीख 14.1.1935) से श्रीमती अली बेगम ने हिज मैजेस्टी को अपील की और उसकी मृत्यु हो जाने पर उसके प्रतिनिधि अपीलार्थियों के रूप में सम्यक् रूप से प्रतिस्थापित कर दिए गए हैं।

4. उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों द्वारा व्यक्त किए गए मतों को देखते हुए अपीलार्थियों की ओर से श्री उन ने हमारे समक्ष यह प्रश्न बड़ी उचित तौर पर उठाया कि क्या अपील जिस रूप में उच्च न्यायालय में दाखिल की गई, वह सक्षम थी और यदि नहीं तो क्या त्रुटि का उपचार प्रत्यर्थी वादी को अपीलार्थी बना देने से हो गया। जैसा कि प्रकट होता है, अपील इस वादी की सहमति से की गई थी। किंतु उसे प्रत्यर्थी केवल इस कारण बनाया गया कि वह कारबार के कारण दूसरे प्रांत चला गया था। अतः प्रारंभिक आपत्ति में कोई सार पाना कठिन है। जहां कि महाधिवक्ता या कलेक्टर की लिखित सहमति तीन व्यक्तियों द्वारा वादी के रूप में वाद के लिए दी गई वहां केवल दो का वाद संस्थित करना विधिमान्य नहीं होगा।

संस्थित वाद सहमति के अनुरूप होना चाहिए । दूसरी ओर, यदि यह तीन व्यक्ति वादी बन जाएं और उनमें से दो की मृत्यु वाद के विचाराधीन रहते हो जाए तो वाद त्रुटिपूर्ण या अक्षम नहीं हो जाता — **आनंद राव बनाम राम दास दादूरा** 48 इंडियन अपीलस 12 (आ. इ. रि. 1921 प्रि. कौ. 123) । संहिता में ऐसा कोई भी उपबंध नहीं है कि वाद के दौरान या अपील की किसी कार्यवाही के दौरान महाधिवक्ता या कलेक्टर से संपर्क किया जाए । जैसा कि धारा 92 की उपधारा (2) पर्याप्त रूप से प्रकट करती है, लिखित सम्मति होना वाद के विधिमान्य रूप से संस्थित किए जाने की शर्त है । उसका संबंध किसी अन्य प्रक्रम से नहीं है । जब वाद एक बार विधिमान्यतः संस्थित हो जाए तो वह प्रतिनिधिक वाद हो गया जिसे वे सब अनुषंग लागू होंगे जो सामान्यतः वादों को और विशिष्टतः प्रतिनिधिक वादों को लागू होते हैं । हम प्रस्तुत मामले में न्यायमूर्ति जय लाल का सिद्धांत नहीं मान सकते कि जिन व्यक्तियों ने यह वाद कलेक्टर की इजाजत से दाखिल किया वे एक वादी माने जाने चाहिए ; और हम कोई कारण नहीं पाते कि ऐसे वाद में अनेक वादियों में से एक उन्हीं निबंधनों और शर्तों पर अपील न कर सके जो वाद को सामान्यतः लागू होती हैं । प्रस्तुत मामले में अपील जिस रूप में मूलतः की गई वह हमारी राय में सक्षम और नियमानुसार अनुमत थी । संशोधन आपत्ति-योग्य तो नहीं था, किंतु आवश्यक भी नहीं था ।

5. मुख्य प्रश्न पर उच्च न्यायालय से सहमत होते हुए हमारा विचार है कि कल्ब आविद की वसीयत के सही अर्थान्वयन पर अमृतसर की पांच उपर्युक्त संपत्तियां सराय के प्रयोजनार्थ और उसके समनुषंगी विनिर्दिष्ट प्रयोजनार्थ वक्फ को की गई थीं । हमारी यह राय भी है कि उनका समर्पण विधिमान्य एवं शिया विधि के अनुसार है । सम्पत्तियों को सराय से संबंधित बताया गया है । यह उसी अर्थ में है जैसे कि जो संपत्तियां वसीयत द्वारा वसीयतकर्ता के भाई और बहन को दी गई उन्हें बताया गया, “हमारे भाई से संबंधित” और “हमारी बहन से संबंधित” । इसमें संदेह नहीं है कि वसीयतकर्ता ने मेजर वारबर्टन से एक भूखंड सराय के रूप में उपयोग के प्रयोजनार्थ ही आय प्राप्त किया था । वसीयत में इस सराय का बारबार उल्लेख है और अब प्रश्नगत पांच भूखंडों में से एक (जिसका मूल्य लगभग 50,000 रु. है) इस प्रकार वर्णित है :—

“निर्माणाधीन सराय जो पूरी होने वाली है । निर्माण कार्य चल रहा है । इसका निर्माण जन-साधारण के फायदे के लिए वक्फ के आशय से तथा धार्मिक कृत्यों के अदा किए जाने जैसे कि आशूरा,

दोनों ईदों के अवसर पर नमाज, मोहर्रम और नवरोज आदि, और प्रत्येक व्यक्ति की सुविधा के लिए, कोई किराया आदि लिए बिना और वह रिश्तेदारों आदि के अधिकार के बाहर की जाती है। किंतु मेरे भाई कल्ब अली खां और उनके वारिसों को, जो उसकी संतान हों, उसमें निवास करने का अधिकार होगा।”

6. वसीयत का अंतिम भाग इस प्रकार है :—

“यह स्मरणीय है कि मैंने अपने सगे भाई मिर्जा कल्ब अली खां को हमारे द्वारा छोड़ी गई संपूर्ण संपत्ति के प्रबंध की शक्ति तथा मेरी भांति स्वामी के रूप में प्रत्येक प्रकार के अंतरण की शक्ति दी है। उनको चाहिए कि इन सभी शक्तियों का प्रयोग इस वसीयत में दिए गए निदेशों के अनुसार करें। उनको चाहिए कि जिन व्यक्तियों को मैंने कुछ भरण-पोषण दिया है उन्हें भरण-पोषण भत्ता उन शर्तों के अधीन जो वसीयत में वर्णित है अवधि तक करते रहें बशर्ते कि वे अपना काम वफादारी, ईमानदारी, सच्ची लग्न, रजामंदी और फरमादारी से करते हैं और अपने आचरण से उसे प्रसन्न रखें और उन शर्तों में चूक होने पर या हमारे उपर्युक्त भाई के अप्रसन्न होने पर, या किसी गवन, दुर्विनियोग या बेईमानी के होने पर उनका पूरा अधिकार होगा कि उन्हें निकाल दें और नियत भरण-पोषण रोक दें और अधिहृत कर लें। इन सब शक्तियों का प्रयोग हमारे भाई कल्ब अली खां की मृत्यु के बाद उनकी पुरुष संतान द्वारा किया जाएगा और इस प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहेगा। किंतु यदि उक्त भाई यह कष्ट न उठाना चाहें या उक्त संपत्ति का प्रबंध करने से इंकार कर दें तो वह सरकार और उपायुक्त को प्रबंध के लिए दे दी जानी चाहिए। तब उपायुक्त अकेले ही अथवा एक समिति और सलाहकार बोर्ड नियुक्त करके, जिनमें अरना अशरी सम्प्रदाय के मुसलमान हों, वक्फ संपत्ति का प्रबंध करें। यही कार्रवाई उस दशा में की जानी चाहिए जबकि उक्त भाई के पुरुष वारिस दक्षताविहीन हों और शर्तों का भंग करने तथा गवन के दोषी हों। यदि मेरी मृत्यु के बाद अथवा गंभीर बीमारी के आक्रमण या बेहोशी के कारण मेरे आश्रितों में से कोई मेरी संपत्ति और माल के बारे में बेईमानी या गवन या दुर्विनियोग आदि का दोषी हो, अथवा यदि मेरे भाई को आशंका हो कि उक्त आश्रित इस प्रकार दोषी है तो उक्त भाई को शक्ति प्राप्त होगी कि उसे निकाल दें या दान से वंचित कर दें।”

7. इन पैराओं से यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट है कि वसीयतकर्ता का

आशय इन पांच अदद संपत्तियों को सार्वजनिक पूर्त प्रयोजनार्थ समर्पित करने का था, जो मुस्लिम विधि में पवित्र कार्य के रूप में सुविदित और बहुसम्मानित हैं। उसने “वक्फ” शब्द का ही प्रयोग नहीं किया अपितु अपना यह आशय भी प्रकट किया कि जन-साधारण को फायदा पहुंचे और निदेश दिया कि संपत्ति रिश्तेदारों आदि के अधिकार के बाहर ही जाती है। यह इस बात का पर्याप्त साक्ष्य है कि वह जानता था कि “वक्फ” से क्या अभिप्रेत होता है और उसका आशय वक्फ प्रभावी करने का था। यह सही है कि यह कहने के बाद कि वह रिश्तेदारों के अधिकार के बाहर किया जाता है, कुछ शब्द हैं जिनमें कहा गया है कि कल्ब अली और उसके संतान वारिसों को सराय में रहने का अधिकार होगा। इसमें स्त्री वारिस भी आएंगी, जिनका वक्फ का प्रबंधक होना अनिवार्य नहीं है। किंतु हमारे विचार से यह उपबंध यह नहीं प्रकट करता कि वसीयतकर्ता का आशय इन संपत्तियों का वक्फ करने का नहीं था और न उससे समर्पण फर्जी हो जाता है, और न वह अवधिमान्य हो जाता है, न इस आधार पर कि संपत्ति सारतः पूर्व प्रयोजनार्थ समर्पित नहीं की गई और न इस आधार पर कि वाकिफ ने अपने लिए भी फायदा रखा था। इस मामले में यह आवश्यक नहीं है कि मुसलमान वक्फ विधिमान्यकरण अधिनियम, 1913 के उपबंधों की सहायता ली जाए। यह निर्णय करने के लिए कोई आधार नहीं है कि निवास के अधिकार का यह आशय था या उससे यह संभाव्यता थी कि सराय का पूरा स्थान उसमें लग जाए और न विधितः उसके आधार पर यह आग्रह किया जा सकता था कि पूर्त कार्य न हो कर वही रहें। और न वसीयतकर्ता के वारिसों को दिए गए अधिकार शिया विधि के इस नियम के विरुद्ध हैं जिसमें वाकिफ से अपेक्षा है कि संपत्ति और उसके फलोपभोग में सभी हित से अपने को निर्निहित कर ले (देखिए – श्रीमती आबदी बेगम बनाम श्रीमती कनीडा¹ वाला मामला)।

8. यह भी सही है कि वसीयतकर्ता ने अपनी प्रत्येक संपत्ति का विस्तार से वर्णन और व्ययन लिखने के बाद एक सूची जोड़ी जिसका शीर्षक था “खर्चों का विवरण”। उसमें “हमें दफन करने के खर्चों के लिए 500 रु. और रोजे नमाज तथा शव को करबला ले जाने नमाज अदा करने आदि पर 15,000 रु. और दो लड़कियों की शादी का व्यय 500 रु.” लिखने के बाद वसीयतकर्ता ने अंतिम प्रविष्टि की “ऋण की अदायगी के लिए लगभग 10,000 रु. या वह राशि जो हमारी मृत्यु पर बकाया रहे।” उसकी मृत्यु के समय उसके द्वारा देय राशि का कोई साक्ष्य नहीं है और न

¹ 54 इंडियन अपीलस 33 ए. आई. आर. 1927 प्रि. कौ. 2.

इस बात का कोई साक्ष्य है कि यदि कोई ऋण थे तो कहां से अदा किए गए। वसीयत में कोई निदेश नहीं है कि ऋण इस विशिष्ट आस्ति पर संपत्ति से चुकाया जाए और न किसी संपत्ति पर उसके ऋण का भार डाला गया। व्ययन की पूरी शक्ति वसीयतकर्ता के भाई को दी गई है, जिसमें विक्रय की शक्ति भी आती है। जहां तक वक्फ सम्पत्ति का संबंध है उसका वह अर्थ लिया जाएगा जिसका प्रयोग प्रबंधक को उचित प्रबंध के दौरान करना होता है और यह इस निदेश में भी आ जाता है कि “उसको चाहिए कि इस सभी शक्तियों का प्रयोग इस वसीयत में दिए गए निदेशों का पालन करें।” प्रस्तुत मामले में इस बात से कोई आपत्ति उत्पन्न नहीं होती कि वसीयत द्वारा समर्पित संपत्ति एक तिहाई हिस्से से अधिक है, जिस एक तिहाई हिस्से से अधिक संपत्ति का वसीयत द्वारा व्ययन कोई मुसलमान अपने वारिसों की सम्मति के बिना नहीं कर सकता। भारत के न्यायालयों का समान निष्कर्ष है कि वसीयतकर्ता के वारिसों ने सम्मति दी। और न कोई कठिनाई अंतिम पैरा से, जिसे हम वसीयत से उद्धृत कर चुके हैं, इस कारण उत्पन्न होती है कि वसीयतकर्ता ने “मुतवल्ली” शब्द का प्रयोग उस समय नहीं किया जब उसने सराय और उसके लिए समर्पित सम्पत्ति के प्रबंध के लिए व्यवस्था की। वसीयत का सही अर्थ करने पर हमारी राय है कि उपर्युक्त पांच संपत्तियों का विनिर्दिष्ट प्रयोजनार्थ विधिमानीय और प्रभावी समर्पण था। इस बात का कोई साक्ष्य प्रकट नहीं होता कि वसीयतकर्ता की मृत्यु के समय वचनपत्रों की बकाया राशि क्या थी और उसका क्या किया गया।

9. अब अमृतसर छावनी की दो सम्पत्तियों पर विचार करना शेष है जिन्हें पहले “मेस कोठी” और “छोटी कोठी” कहा गया है, जिनकी आय क्रमशः श्रीमती बूटी और उसके पुत्र को तथा मुजफ्फर अली को उनके जीवनपर्यंत के लिए दी गई थी। अवशिष्ट हित के लिए वसीयतकर्ता का निदेश है कि वर्णित व्यक्तियों की मृत्यु हो जाने पर सम्पत्ति और उसकी आय सराय में लगा दी जाए और यदि कोई संपत्ति जीवनपर्यंत हितधारी व्यक्ति के जीवनकाल में बेच दी जाए तो उसे वक्फ से एक विनिर्दिष्ट राशि मिलेगी और विक्रय के आगम विनिहित कर के सराय में लगा दिए जाएं। इसमें शिया विधि लागू होने के संबंध में एक सूक्ष्म प्रश्न उठता है। यदि वसीयत का यह आशय समझा जाए कि वसीयतकर्ता की मृत्यु पर दो संपत्तियां वक्फ हो जाएंगी तो यह किसी प्रकार से विधि-विरुद्ध नहीं होगा कि फलोपभोग में जीवनपर्यंत हित उपर्युक्त फायदाधिकारियों के लिए रखा जाए, जबकि यह निदेश कि संपत्ति वसीयतकर्ता के उत्तरजीवी की मृत्यु पर

वक्फ हो जाएगी शिया विधि के उन सिद्धांतों के प्रतिकूल है जो जीवन्त-मध्ये समर्पण को लागू किए जाते हैं :-

“यदि कोई कहे कि मैंने सम्पत्ति तब से लगाई जब से महीने का प्रारंभ हो तो वह लगाना विधिमान्य नहीं होगा (सूरए-उल-इस्लाम-बेली, खंड 2 पृष्ठ 218) ।”

10. हमें इसका भान है कि **बाकर अली खां बनाम अंजुमन आरा बेगम¹** वाले मामले में शिया को अनुमति दी गई है कि वह वसीयत द्वारा वक्फ करे और यही उस सिद्धांत की कठोरता को कम कर देता है, किंतु हमारी यह राय नहीं है कि वसीयत द्वारा व्ययन के मामले में उक्त सिद्धांत सभी प्रयोजनार्थ समाप्त हो गया और न हमारे विचार से उसे उन मामलों तक सीमित रखा जा सकता है जिनमें कि निबंधन को संपत्ति का अंतरण ऐसी घटना पर आधारित कर दिया जाता है जो समस्यापूर्ण और भावी है। इस प्रश्न पर हम **मोहम्मद अहसन बनाम उमर दराज²** उक्ति से सहमत नहीं हैं। इस वसीयत का संकीर्ण या अनुचित रूप से तकनीकी अर्थ न करते हुए भी उसमें वसीयतकर्ता द्वारा प्रयुक्त भाषा पर तथा उसके द्वारा किए गए व्ययनों के सार और प्रभाव पर सावधानी से विचार करके हम अपने को यह निर्णय करने में असमर्थ पाते हैं कि उसका यह आशय था कि अब प्रश्नगत दोनों सम्पत्तियों आजीवन हितधारी की मृत्यु या वसीयत द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करके विक्रय के पूर्व वक्फ हो जाए। इस दृष्टि से हमारा विचार है कि इन दो सम्पत्तियों में से किसी का विधिमान्य समर्पण नहीं है और इस सीमा तक अपील सफल होती है। हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि यह घोषित किया जाए कि अमृतसर छावनी स्थित सम्पत्तियां, जो आगा कल्ब आबिद खां की वसीयत में “मेस कोठी” और “छोटी कोठी” कह कर वर्णित हैं, वक्फ नहीं हैं और इसके अधीन रहते हुए और लाहौर की सम्पत्ति को छोड़ते हुए, जिनके विषय में इस अपील में विनिश्चय नहीं किया जा सकता, उच्च न्यायालय का डिक्ली-आत्मक आदेश कायम रहे और यह अपील खारिज की जाए। अपीलार्थी वादी-प्रत्यर्थियों को इस अपील का आधा खर्चा अदा करें।

अपील भागत: मंजूर की गई।

¹ [1903] 30 इंडियन अपीलस 94.

² इंग्लैंड ला रिपोर्ट [1906] 28 इलाहाबाद 633.

कार्यालय आदेश तारीख 13 फरवरी, 2017 के अनुसार विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पाठ्य पुस्तकों पर छूट देने की सूची

क्रम सं.	पुस्तक का नाम, लेखक का नाम व प्रकाशन वर्ष (संस्करण)	पुस्तक की मुद्रित कीमत (रुपयों में)	7 वर्ष से पुराने संस्करण पर 35% छूट के पश्चात् कीमत (रुपयों में)	8 से 15 वर्ष पुराने संस्करण पर 50% छूट के पश्चात् कीमत (रुपयों में)	15 वर्ष से अधिक पुराने संस्करण पर 75% छूट के पश्चात् कीमत (रुपयों में)
1.	भारत का विधिक इतिहास - श्री सुरेन्द्र गयुकर - 1989	30	—	—	8
2.	माल विक्रय और परक्राम्य लिखत विधि - डा. एन. बी. परांजपे - 1990	40	—	—	10
3.	वाणिज्य विधि - डा. आर. एल. भट्ट - 1993	108	—	—	27
4.	अपकृत्य विधि के सिद्धांत - श्री शर्मन लाल अग्रवाल - 1993	40	—	—	10
5.	अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख निर्णय - डा. एस. सी. खरे - 1996	115	—	—	29
6.	श्रम विधि - श्री गोपी कृष्ण अरोड़ा - 1996	452	—	—	113
7.	संविदा विधि - डा. रामगोपाल चतुर्वेदी - 1998	275	—	—	69
8.	चिकित्सा न्यायशास्त्र और विष विज्ञान - डा. सी. के. पारिख - 1999	293	—	—	74
9.	आधुनिक पारिवारिक विधि - श्री राम शरण माथुर - 2000	429	—	—	108
10.	भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम (कालजयी निर्णय) - विधि साहित्य प्रकाशन - 2000	225	—	—	57
11.	हिन्दू विधि - डा. रवीन्द्र नाथ - 2001	425	—	—	106
12.	भारतीय भागीदारी अधिनियम - श्री माधव प्रसाद बशिष्ठ - 2001	165	—	—	41
13.	प्रशासनिक विधि - डा. कैलाश चन्द्र जोशी - 2001	200	—	—	50
14.	भारतीय दंड संहिता - डा. रवीन्द्र नाथ - 2002	741	—	—	185
15.	विधिक उपचार - डा. एस. के. कपूर - 2002	311	—	—	78
16.	विधि शास्त्र - डा. शिवदत्त शर्मा - 2005	580	—	290	—
17.	मानव अधिकार - डा. शिवदत्त शर्मा - 2006	120	—	60	—

विधि साहित्य प्रकाशन
(विधायी विभाग)
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार
भारतीय विधि संस्थान भवन,
भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001

सादर

विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा तीन मासिक निर्णय पत्रिकाओं – उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका, उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका का प्रकाशन किया जाता है। उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका में उच्चतम न्यायालय के चयनित निर्णयों को और उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका तथा उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिकाओं में देश के विभिन्न उच्च न्यायालयों के क्रमशः चयनित सिविल और दांडिक निर्णयों को हिन्दी में प्रकाशित किया जाता है। इन पत्रिकाओं को और अधिक आकर्षक बनाने के लिए इनमें जनवरी, 2010 के अंक से महत्वपूर्ण केन्द्रीय अधिनियमों का प्राधिकृत हिन्दी पाठ पाठकों की सुविधा के लिए शृंखलाबद्ध रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका को उपादेय और ज्ञानवर्द्धक बनाने के लिए प्रिवी काउंसिल के निर्णयों को भी समाविष्ट किया जा रहा है। उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका की मासिक कीमत ₹ 195/- उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका की मासिक कीमत ₹ 125/- और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका की मासिक कीमत ₹ 125/- है। तीनों मासिक निर्णय पत्रिकाओं के नियमित ग्राहक बनकर हिन्दी के प्रचार-प्रसार के इस महान यज्ञ के भागी बन कर अनुगृहीत करें।

विधि साहित्य प्रकाशन

(विधायी विभाग)

विधि और न्याय मंत्रालय

भारत सरकार

भारतीय विधि संस्थान भवन,

भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001

दूरभाष : 011-23387589, 23385259, 23382105